प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति

लेखक

प्रो० अनन्त सदाशिव अळतेकर, एम० ए०, एल० एल० बी०, डी० लिट्

प्राचीन इतिहास और संस्कृति विभाग के प्रधानाध्यापक,

काशी विश्व विद्यालय ।

भारत दर्पण ग्रंथमाला

(ग्रंथ संख्या १)

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती भंडार
लीडर प्रेस, प्रयाग।

प्रथम संस्करण
मूल्य— ७)
संवत २००४

मुद्रक
सदाशिवराव चित
आदर्श प्रेस, बनार

प्रस्तावना

मेरे ग्रंथ अभीतक प्राय पहले अंग्रेजी में प्रकाशित हुए थे। पीछे उनका संस्करण मैंने अपनी मातृभाषा मराठी में प्रकाशित किया। मगर 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति' सर्वप्रथम हिंदी में ही प्रकाशित हो रही है। अनेक कठिनाइयों के कारण इसका अंग्रेजी संस्करण अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका। मराठी संस्करण तैयार हो रहा है। ग्रंथ का सर्वप्रथम हिंदी मे प्रकाशित होना इस समय उचित ही है। निकट भविष्य मे हिंदी राष्ट्रभाषा के पद पर आरूढ होगी। इसलिये हिंद वासियों के लिए यह आवश्यक सा हो गया है कि उनके मौलिक ग्रंथ सर्वप्रथम हिंदी में ही प्रकाशित हों।

प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पर हिंदी में कोई ऐसा ग्रंथ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है जो उसका सागोपाग निरूपण करे। अंग्रेजी मे इस विषय पर अनेक ग्रंथ हैं किंतु वे उसके अनेक पहलुओं में से एक या कुछ पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। मगर भारतीयों के राज्यशासन विषयक तत्वों और सिद्धांतों का सांगोपांग विवेचन करके उनकी शासन पद्धति का साधार और संपूर्ण वर्णन करनेवाला ग्रंथ अब तक अंग्रेजी में भी नहीं है। प्रस्तुत ग्रंथ इस कमी को पूरा करने के लिए लिखा गया है।

इस ग्रंथ की विशेषताओं पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना अनुचित न होगा। अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि के जो ग्रंथ शासनपद्धति का विशेष रूप से विवेचन करते हैं, केवल उन्हीं के आधार पर यह ग्रंथ नहीं लिखा गया है। इन ग्रंथों में अनेकविध व उपयुक्त साधन सामग्री तो मिलती है पर वह कहाँ तक वास्तविक थी और कहाँतक काल्पनिक इसके बारे में कभी कभी संशय उत्पन्न हो सकता है। अतएव वैदिक, बौद्ध और जैन वाङ्मय, राजतरंगिणी के समान प्राचीन इतिहास, मेगॅस्थेनीस्, युआनच्वांग सदृश विदेशी इतिहासकार तथा यात्रियों के वृत्तांत, प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों आदि साधनों से प्रत्यक्ष ऐतिहासिक व सत्य से अधिक संबद्ध जो सामग्री प्राप्त होती है उसका

भी सहारा लेकर प्राचीन भारतीय शासनपद्धति के साधार, सागोपाग किंतु अनतिविस्तृत विवेचन करने का प्रयत्न हमने इस ग्रथ में किया है। प्राचीन भारतीय इतिहास वैदिक, उपनिषद, मौर्य, गुप्त आदि कालखंडों में विभाजित है। विवेचित सस्थाओं और शासनतत्वों का विकास ऊपर निर्दिष्ट कालखडों मे किस प्रकार हुआ यह दिखाने का प्रयत्न प्रत्येक अध्याय में किया गया है। विभिन्न प्रांतों में शासन सस्थाओं का विकास कभी कभी किस कारण भिन्न प्रकार से हुआ इसे भी बतलाने का, जहाँ सभव था, प्रयत्न किया गया है।

प्रथम अध्याय में प्राचीन भारत के राज्यशासन के ग्रथों का इतिहास देकर उनका स्वरूप और उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई, उसके कौन कौन से प्रकार थे, उनका स्वरूप क्या था, राज्य का ध्येय और कार्य क्या होना चाहिये आदि प्रश्नों के विषय में प्राचीन भारतीयों के क्या विचार थे, उनका परिचय द्वितीय और तृतीय अध्यायों में दिया गया है। चौथे अध्याय म राज्य और नागरिकों के परस्पर सबध तथा विदेशियों और नागरिकों के भेदभाव किस प्रकार के थे, नागरिकों की विभिन्न श्रेणियों के अधिकार कहाँतक समान थे—इन विषयों का विवेचन किया गया है। इन अध्यायों का सबध इस प्रकार राज्यशासन के मूल सिद्धातों से है।

इन अध्यायों मे राज्यशासन के मूलभूत सिद्धातों का विवेचन करके पचम अध्याय से शासनपद्धति का वर्णन प्रारम्भ होता है। पचम अध्याय में नृपतत्र का विवेचन है। नृपपद का विकास कैसे हुआ, कालांतर में किस मर्यादा तक वह दैवी माना जाने लगा, राजा के अधिकार कैसे सीमित किये जाते थे, उसमें कितनी सफलता मिलती थी, आदि विषयों की चर्चा इस अध्याय में की गयी है।

गणतत्रों या प्रजासत्तात्मक राज्यों की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, उनका विकास किस प्रकार हुआ उनमें वास्तविक राज्य सत्ता सामान्य जनता के हाथ में किस अश तक थी, उनके कौन कौन से प्रकार थे, तथा सरकार और लोकसभा एक दूसरे से किस प्रकार सबद्ध थे, गणतत्रों का ह्रास और विनाश कब और क्यों हुआ इत्यादि विषयों की चर्चा षष्ठ अध्याय में की गयी है। केंद्रीय लोकसभा के अधिकारों का विवेचन सप्तम अध्याय म है।

केंद्रीय सरकार की रूपरेखा का दिग्दर्शन अष्टम और नवम अध्यायों में है। मंत्रिमंडल की उत्पत्ति, सत्ता और कार्यपद्धति का वर्णन अष्टम अध्याय में दिया है। केंद्रीय सरकार और शासनाधिकारी कार्यसंचालन किस प्रकार करते थे, प्रांतीय और जिले के शासकों का निरीक्षण, नियंत्रण और पर्यवेक्षण कैसे किया जाता था, अनेक शिलालेखों और ग्रंथों में बिखरी हुई सामग्री के आधार पर, इन प्रश्नों का उत्तर इस अध्याय में दिया गया है।

दशम और एकादश अध्यायों में प्रांतों, जिलों, नगरों और ग्रामों के शासनप्रबंध का वर्णन और इतिहास दिया है। विभिन्न प्रांतों में इस विषय में कौन कौन से भेद थे इस प्रश्न का उत्तर भी, शिला लेखों से उपलब्ध सामग्री के आधार पर, इन्हीं अध्यायों में दिया गया है।

त्रयोदश अध्याय में सम्राट् और करद सामंतों के संबंध पर प्रकाश डाला गया है और यह भी बतलाया गया है कि स्वतंत्र राज्य परस्पर कैसा व्यवहार करते थे।

राजा, गणतंत्र, केंद्रीय सभा, इत्यादि जो राज्ययंत्र के विविध अंग है उनका विकास प्राचीन भारत में एक कालखंड से दूसरे कालखंड में कैसे हुआ उसका सम्यक ज्ञान पाठकों को पहले तेरह अध्यायों से ठीक ह होगा। किंतु विविध कालखंडों में संपूर्ण राज्ययंत्र किस प्रकार था, उका ज्ञान न होगा। इस प्रश्न का उत्तर चतुर्दश अध्याय के प्रथम ड में दिया गया है।

प्राचीन इतिहास और संस्थाओं का ज्ञान हमें केवल ज्ञान के लिए ही ग्राप्त न करना चाहिये, वरन इसलिए भी कि आधुनिक समस्याओं के हल करने में हमें उनसे कहाँतक सहायता मिल सकती है। अतएव अंतिम अध्याय के दूसरे खंड में प्राचीन भारतीय शासनपद्धति के गुण दोष, उनसे राष्ट्र को क्या लाभ पहुंचा और कौन सी हानि हुई, स्वतंत्र भारत के नव विधान के निर्माण में हमें उनसे कुछ लाभ हो सकता है या नहीं, इन प्रश्नों का विवेचन किया गया है।

यह पुस्तक एक संशोधनात्मक ग्रंथ है। आशा है कि इसमें विशेषज्ञों को भी अनेक विषयों के बारे में कुछ नये सिद्धांत और निष्कर्ष ज्ञात होंगे। ग्रंथ में प्रतिपादित सब महत्व के सिद्धांतों और विधानों के लिये मूल आधारभूत ग्रंथों के संदर्भ या उद्धरण पादटिप्पणियों में दिये गये हैं। इनसे अन्वेषकों को अधिक अध्ययन की सामग्री मिलेगी। किंतु

ग्रंथ का लेखन तथा विषयप्रतिपादन इस ढंग से किया है कि साधारण सुशिक्षित लोग भी उसे पढ़ कर समझ सकें तथा लाभ उठा सकें। संशोधनात्मक ग्रंथ रोचक एवं सुबोध भाषा में लिखने का यह प्रयत्न कहाँतक सफल हुआ है इसका निर्णय पाठक ही करेंगे।

मातृभाषा हिंदी न होने, तथा उसमें लिखने के अभ्यास के अभाव के कारण मेरे लिए हिंदी में ग्रंथ लिखना कष्टसाध्य सा था। किंतु इस कार्य में मुझे मेरे भूतपूर्व छात्र तथा लखनऊ के 'स्वतंत्र भारत' के विद्वान् संपादक श्रीयुत अशोकजी, एम० ए०, ने अनमोल सहायता दी। इसके लिये मैं उनका बहुत कृतज्ञ हूँ। संभव है कि पाठकों को कुछ स्थानों पर मराठी भाषा के विशिष्ट शब्दों (जैसे Trustee के लिये विश्वस्त Tribute के लिए खंडणी) या वाक्य रचनाओं का आभास हो। जब हिंदी राष्ट्रभाषा होगी, और उसमें मराठी, गुजराती बंगाली आदि भाषाभाषी लिखने लगेंगे, तब कुछ अंश तक उसका स्वरूप बदलना अनिवार्य सा हो जायगा। अमेरिका की अंग्रेजी में जैसे 'अमेरिकॅनिज़म' आती है वैसे ही महाराष्ट्रियों की हिंदी में कुछ मराठीपन' अवश्य आयेगा। आशा है कि हिंदी को अंततोगत्वा उससे लाभ ही पहुँचेगा।

राज्यशास्त्र विषय के अनेक शब्दों के हिंदी प्रतिशब्द अभीतक निश्चित नहीं हुए हैं, Republic, Democracy, Oligarchy, Political obligations आदि शब्दों के हिंदी प्रतिशब्दों के विषय में अभी तक हिंदी लेखक एकमत नहीं है। ऐसे शब्दों के निर्माण तथा निश्चित करने में मुझे मेरे सहाध्यापक प्रो० कन्हैयालाल वर्मा, प्रो० केशवप्रसाद मिश्र, प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा और डॉ० राजबली पांडे से सहायता मिली। इसलिये मैं उनको धन्यवाद देना चाहता हूँ। नये शब्दों के निर्माण में स्वभावतः संस्कृत भाषा के शब्दभंडार का आश्रय लेना पड़ा। इन सब शब्दों की सूची परिशिष्ट नं० १ व २ में ग्रंथ के अंत में दी गयी है। पुस्तक पढ़ने के पूर्व यदि पाठक पहले हिंदी की और तत्पश्चात् अंग्रेजी की सूची देखें तो मुझे आशा है कि उन्हें ग्रंथपठन में सहायता मिलेगी।

संस्कृतादि भाषाओं के प्राचीन ग्रंथकारों व ग्रंथों और प्राचीन इतिहास के अनेक राजाओं और राजवंशों का काल सामान्य पाठकों को विदित नहीं होता। ग्रंथ में उनका अनेक बार उल्लेख करना

आवश्यक था। अनेक स्थानों में उनका काल भी कोष्ठों में दिया गया है। किंतु पाठकों के सुभीते के लिए परिशिष्ट ३ में इन सबकी काल-सूची अकारादिक्रम से दी गयी है। आशा है उसके कारण पाठकों को ग्रंथपठन में बड़ी सहायता मिलेगी।

पाद टिप्पणियों में ग्रंथों के नाम का उल्लेख संक्षेप में करना अपरिहार्य है। संक्षिप्त ग्रंथ-नामों की अकारादिक्रम से सूची परिशिष्ट ४ में दी गयी है। उसे भी पाठक कृपया प्रथम देखें। परिशिष्ट ५ में आधारभूत संस्कृत तथा अंग्रेजी ग्रंथों के नाम दिये गये हैं। परिशिष्ट ६ में विस्तृत वर्णानुक्रमणिका दी गयी है जिससे पाठकों का मयावगत कोई भी विषय आसानी से मिल जायगा।

मेरे सहाध्यापक और राज्यशास्त्र के अध्यापक प्रो० कन्हैयालाल वर्मा जी ने इस ग्रंथ की पांडुलिपि संपूर्ण पढ़ी और उसकी भाषा, शब्दप्रयोग और सिद्धांतों के बारे में मुझे अनेक महत्त्व की सूचनाएँ दीं। मैं उनका बहुत आभारी हूँ। मेरे दूसरे सहाध्यापक और भूतपूर्व शिष्य प्रो० अवध किशोर नारायण जी ने मुझे इस ग्रंथ के मुद्रित (प्रूफ) देखने में और शुद्धिपत्र बनाने में बहुत सहायता की है, जिसके लिये मैं उनको धन्यवाद देता हूँ।

इस ग्रंथ के सर्वप्रथम हिंदी में प्रकाशित होने का श्रेय मेरे भूतपूर्व छात्र और भारती भंडार ग्रंथमाला के विद्वान् संपादक पंडित वासुदेव उपाध्याय जी को है। यदि वे प्रेमादर से इस ग्रंथ के लेखन में मुझे सतत् नियोजित न करते तो वह इतना जल्दी प्रकाशित न होता। मुझे विश्वास है कि इस ग्रंथ के प्रकाशन से हिंदी भाषा भाषियों को प्राचीन भारतीय शासनपद्धति का संपूर्ण और साधार ज्ञान प्राप्त होगा और हमारी संस्कृति के एक अंग के गुण दोषों का विश्वसनीय चित्र मिलेगा।

काशी विश्वविद्यालय
वसंत पंचमी सं० २००४
१५-२-१९४८
} अनंत सदाशिव अळतेकर

विषय सूची

—※—

प्राचीन भारतीय शासन पद्धति

अध्याय १

राज्य शास्त्र के आधार-ग्रंथ

इस प्रथम विषय प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र और शासन की रूप रेखा है। उसको शुरू करने से पहले यह बताना आवश्यक है कि किन ग्रंथों और साधन सामग्री के सहायता से हमको इस विषय का ज्ञान हो सकता है। इससे पता चल जायगा कि इस कार्य में हमें किन कठिनाइयों का सामना करना और किन सीमाओं के भीतर रहना है।

स्वतंत्र राज्य शास्त्र का वाङ्मय हमें ५०० ई० पू० के पहले नहीं मिलता। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि व्याकरण निरुक्त और ज्योतिष ऐसे अर्ध-लौकिक और अर्ध धार्मिक विषयों के स्वतंत्र वाङ्मय का विकास भी ८०० ई०पू० के आसपास ही आरंभ हुआ। अत ६०० ई० पू० के पहिले राज्यशास्त्र के स्वतंत्र वाङ्मय की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

वैदिक और ब्राह्मण काल में राज्यशास्त्र के ग्रंथ न होने पर भी वैदिक वाङ्मय भर में इतस्तत स्फुट वचन मिलते हैं जिनसे तत्कालीन राज्यशास्त्र और व्यवस्था का थोड़ा परिचय मिल जाता है। ऋग्वेद में तो राज्यशास्त्र विषयक उल्लेख बहुत कम है[1]। पर अथर्व वेद में उनकी संख्या पर्याप्त है। परंतु उनका संबंध प्राय राजा से ही अधिक है[2]। यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मणों में राज्याभिषेक तथा राज्यारोहण या उसके बाद किये जाने वाले यज्ञों

---

१ निम्नलिखित स्थल विशेष महत्व के हैं।
१० १६१, १० १७३, १० १६६, १० १२४ ८; १० ९७,६, १० ७८ १, ४ ४२, ६ ६२,६; ७ ६,९, ६ ७८ ६, ४ ४, १, ३ ४३ ५, १-२ १०-१२, ३ ६७ १, १ २५ ८, तथा १,१३० १।

२ निम्नलिखित स्थान महत्व के हैं।
३ ४-५, ६ ८८, ५ १९, ७ १२, ६ ४० २, २० १२७, ४ २२, ११ ३१; ८ १०, ८ १३

न वर्णन स्थान स्थान पर मिलता है। इससे राजपद की प्रतिष्ठा कैसी थी, राजकर्मचारी कौन थे, प्रजा से कौन-कौन से कर वसूल किये जाते थे इत्यादि विषय में बहुत अच्छी जानकारी प्राप्त होती है[१]। इनमें बहुत से ऐसे स्थल भी हैं जिनमें विभिन्न जातियों के परस्पर संबंध, अधिकार और स्थिति का विवेचन है जिससे भी राज्यतंत्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

ई० पू० ८ वीं शताब्दी से व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष आदि विषयों का विशेषाध्ययन शुरू हुआ। इन विषयों के पंडित अपने अपने विषयों पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखने लगे जिनसे अध्ययन-अध्यापन का कार्य सुकर होने लगा। राज्यशास्त्र का आरंभ भी इसी युग में हुआ, परंतु उपर्युक्त विषयों के बाद संभवतः धर्मशास्त्र के साथ। दुर्भाग्यवश इस विषय के सब प्राचीनतम ग्रंथ जो संभवतः ई० पू० छठीं शताब्दी में रचे गये, नष्ट हो गये।

राज्यशास्त्र के निर्माताओं के सिद्धांतों और ग्रंथों के परिचय हमें केवल महाभारत और कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ही होता है। यद्यपि इन दोनों ग्रंथों के विषय, रूप, दृष्टिकोण और परंपराएँ भिन्न हैं फिर भी इनमें उल्लिखित पूर्व सूरियों के नामों में अंतर नहीं है। महाभारत का इस विषय का वृत्तांत प्रायः कथात्मक ही है। इसमें कहा गया है कि प्रारंभ में ब्रह्माजी ने उस समय फैली हुई अराजकता का अंत करके समाज व्यवस्था पुनः स्थापित करने के बाद १ लाख श्लोकों में विशाल राज्यशास्त्र की रचना की। इसे क्रमशः शिव विशालाक्ष, इंद्र, बृहस्पति तथा शुक्र ने संक्षेप किया[२]। राज्यशास्त्र के अन्य प्रवर्तकों में मनु, भारद्वाज और गौरशिरस् का भी उल्लेख है।

इन देवताओं के नामों से यह न समझ लेना चाहिये कि इन ग्रंथों का अस्तित्व केवल महाभारतकार अथवा कौटिल्य की कल्पना में ही था। प्राचीन भारत के लेखकों की यह प्रथा थी कि वे बहुधा स्वयं अज्ञात रहकर अपने ग्रंथों पर देवताओं या पौराणिक ऋषियों के नाम दे दिया करते थे। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, पराशरस्मृति तथा शुक्रनीति आदि ग्रंथों के नाम इसके उदाहरण हैं।

इस निष्कर्ष की पुष्टि कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी होती है, जिसमें

तै० सं० २ ४-५, ८ ९ १, का० सं० ३१ १०, १२ ४, श० ब्रा० १ ७ ३ ४, ५ ३ १ १ ३ ३ ५-६, ४ ४ ७ ६ २ ४ ५ १३ १ ६ ८, २० २-५, ४ ४ १, ऐ० ब्रा० १ १४, २ ३३, ८ १०-१२, १४, २३ ३१, प० ब्रा० ११ ४

शांतिपर्व ५७,५८

अनेक स्थलों में[1] विशालाक्ष, इन्द्र (बहुदंत), बृहस्पति, शुक्र, मनु, भारद्वाज और गौरशिरस् का उल्लेख करके इनके मतव्यों पर विचार किया गया है। इनके अतिरिक्त अर्थशास्त्र में पराशर, पिशुन, कौणपदंत, वातव्याधि, घोटमुख, कात्यायन, और चारायण आदि राज्यशास्त्र के प्रणेताओं का भी उल्लेख है।

अन्य शास्त्रों की भाँति राज्यशास्त्र में भी विभिन्न परंपराएँ थीं। कुछ मनु प्रजापति को अपना गुरु मानते थे, कुछ देवगुरु बृहस्पति को, कुछ उनके प्रतिद्वंदी असुरों के आचार्य शुक्र उशनस् को। कुछ ब्रह्मा के अनुयायी थे तो कुछ इंद्र के और कुछ शिव के। प्रारंभ में शास्त्र के प्रवेशार्थियों के लिए सूत्रों की रचना हुई होगी बाद में इन्हें विशद ग्रंथों का रूप दिया गया। ये ग्रंथ लिखे तो गये मनुष्यों द्वारा पर नाम इन पर देवताओं या ऋषियों के दिये गये।

दुर्भाग्यवश इनमें से कोई ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि कुछ ग्रंथों की सामग्री तो महाभारत के शांतिपर्व के राजधर्म अध्याय में समाविष्ट कर ली गयी और बाकी ग्रंथ कौटिल्य की अनुपम रचना अर्थशास्त्र द्वारा पहले पिछाड़े गये और पीछे लुप्त हो गये। फिर भी कुछ ९ वीं शताब्दी तक उपलब्ध थे, क्योंकि सुरेश्वराचार्य कृत याज्ञवल्क्यस्मृति का बालक्रीड़ा टीका में विशालाक्ष का एक श्लोक उद्धृत किया गया है[2]।

फिर भी अर्थशास्त्र के उल्लेखों से उपर्युक्त लुप्त ग्रंथों के स्वरूप का अंदाज लग जाता है। राज्यशास्त्र इस समय अध्ययन का नया विषय था इसलिए अनेक ग्रंथकार वेद, दर्शन तथा वार्ता के मुकाबले राज्यशास्त्र के महत्व की चर्चा से ही अपने ग्रंथ आरंभ करते थे। उशनस् तो यहाँ तक कह गये हैं कि संसार के सब शास्त्रों में केवल राज्यशास्त्र ही अध्ययन योग्य विषय है।

इन ग्रंथों में नृपतंत्र का ही विवेचन है और आदर्श राजा के गुणों और उसकी शिक्षा के वर्णन ने ही अधिकांश स्थान ले लिया है। कोश, बल और दुर्गों के संबंध में उठनेवाली कठिनाइयों का भी सविस्तर वर्णन है। मंत्रिमंडल के कार्य और रूप रेखा का भी विशद वर्णन मिलता है और ज्ञात होता है कि मंत्रियों की संख्या और गुणों के बारे में काफी मतभेद था। राष्ट्रनीति के

---

१ देखिये पृष्ठ ६ १७, २७-२८, ३२-३, ६३, १७७, १९२, २५३, २५५, ३१२ ३२८-३०, ३७५, ३८२ (अर्थशास्त्र डा० शामशास्त्री संपादित द्वितीय संस्करण)

२ अर्थशास्त्र (त्रिवेन्द्रम् सं० सी०) भाग १ भूमिका पृष्ठ ६

सिद्धांतों की भी विवेचना की गयी है। भारद्वाज की राय बलवान के सामने झुक जाने की है तो विशालाक्ष के मत में लड़ते लड़ते मर मिटना ही श्रेयस्कर है। वातव्याधि ने षाड्गुण्य के सिद्धांत को अस्वीकार और द्वैगुण्य का समर्थन किया है। मालूम होता है इन ग्रंथकारोंने करव्यवस्था संबंधी प्रश्नोंपर विचार नहीं किया, कम से कम अर्थशास्त्र में इस विषय पर इनके मतव्यों का उल्लेख नहीं है। राज्य की आय तथा प्रांतीय कर्मचारियों पर नियंत्रण के प्रश्न पर विचार किया गया है परंतु स्थानीय शासन का विषय छोड़ दिया गया है। इन ग्रंथों में दंड और व्यवहार (दीवानी और फौजदारी) चोरी, डकैती, गबन आदि अपराधों के लिए दंड की व्यवस्था[1] भी है। अत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये ग्रंथ कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पूर्ववर्ती थे और उनमें अर्थशास्त्र के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और सप्तम अध्याय में वर्णित विषयों का विवेचन था। अवश्य ही अर्थशास्त्र का विवेचन उनकी अपेक्षा बहुत गहरा है।

महाभारत भी राज्यशास्त्र का महत्वपूर्ण आकर ग्रंथ है। शांतिपर्व के राजधर्म पर्व के अध्यायों में राजा के पदों और शासन-व्यवस्था के अनेक अंगों का अत्यंत विशद वर्णन है। इसमें राज्यशास्त्र की महत्ता का वर्णन है (अध्याय६३-६४) और राज्य तथा राजतंत्र की उत्पत्ति पर महत्वपूर्ण सिद्धांत स्थापित किये गये हैं (अध्याय ५६, ६६, ६७)। कई अध्यायों में राजा और मंत्रियों के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्व का वर्णन है । (५५-५६, ७०-७१, ७६, ९४, ९६, १२०)। छः अध्यायों में कर व्यवस्थाका विवेचन है (७१, ७६, ८८, ९७, १२०, १३०), परंतु राजकर्मचारियों के कर्तव्यों का विवरण अर्थशास्त्र (अध्याय २) के समान विशद नहीं है। स्वराष्ट्र शासन व्यवस्था का वर्णन केवल एक अध्याय में है (८०) परंतु परराष्ट्र नीति और संधि विग्रह विषय को अधिक स्थान दिया गया है (अध्याय २०, ८६, ९६, १००-१०३, ११० और ११३)। निःसंदेह महाभारत का राजधर्म विभाग का विवेचन पूर्ववर्ती ग्रंथकारों से अधिक सविस्तर और सांगोपांग है। संभवतः इसमें उनके कुछ सिद्धांत और कुछ श्लोकों का भी समावेश हुआ है।

शांति पर्व के राजधर्म पर्व के अध्याय के अतिरिक्त भी महाभारत के कुछ अध्यायों में राज्यतंत्र पर विचार किया गया है। सभा पर्व के ५वें अध्याय में

---

१ देखिये —अर्थशास्त्र में पृष्ठ ३, ६८, १२७, १६१, १८२, ११२, ११६ और ११८।

आदर्श राज्यव्यवस्था का सरल और सुंदर वर्णन है। आदिपर्व के १४२वें अध्याय में विशेष परिस्थितियों में राज्य-व्यापार में कूटनीति का भी समर्थन किया गया है। सभापर्व के ३२ वें और वनपर्व के ७५ वें अध्याय में आपद्धर्म का बड़ा मनोरंजक विवेचन है।

महाभारत के पश्चात् कौटिल्य का प्रसिद्ध अर्थशास्त्र का उल्लेख करना क्रमप्राप्त है। यह राजशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यह भी उपर्युक्त ग्रंथों की श्रेणी में आता है परन्तु इसमें सब विषयों का पूर्ण सविस्तर विवेचन किया गया है, पहले के आचार्यों के मतों पर विचार किया गया है और अपने मत स्थिर किये गये हैं। प्रथम विभाग में नृपतन्त्र से संबद्ध विषयों का विचार है। दूसरे विभाग में अनेक अधिकारियों का कर्तव्यक्षेत्र और अधिकारों का वर्णन किया गया है। अगले दो विभागों में दीवानी तथा फौजदारी कानून, दाय विभाग तथा दण्डविधानों का विवेचन है। पाँचवें विभाग में राजा के अनुचरों के कर्तव्यों का वर्णन तथा छठवें में राज्य के सात प्रकृतियों के स्वरूप और कर्तव्यों का विधान है। शेष ६ विभागों में परराष्ट्रनीति—विभिन्न राजाओं से संबंध, उनको पराभूत करने के उपाय, संधि विग्रह के उपयुक्त अवसर, युद्ध चलाने के तरीके, शत्रुओं में फूट डालने के उपाय आदि का विशद वर्णन है।

अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य शासन कार्य में राजा को मार्गनिर्देशन करना था। नृपतन्त्र या शासनव्यवस्था के मूल सिद्धांतों का दार्शनिक विवेचन उसमें नहीं मिलता है। शासन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाना ही इसका उद्देश्य था और युद्ध तथा शांतिकाल में शासन यन्त्र का क्या स्वरूप और कार्य होना चाहिये इसका जैसा ब्यौरेवार वर्णन अर्थशास्त्र में हुआ है वह अन्य के ग्रंथों में—शुक्रनीति के अतिरिक्त—और कहीं नहीं मिलता।

अर्थशास्त्र के रचनाकाल के बारे में बड़ा मतभेद है। सर्वश्री श्यामशास्त्री गणपत शास्त्री, न० ना० लॉ, स्मिथ, फ्लीट और जायसवाल के मत से यह चन्द्रगुप्त के प्रख्यात मंत्री कौटिल्य की ही कृति है। परन्तु सर्वश्री विंटरनित्स जॉली, कीथ और देवदत्त भाण्डारकर का मत है कि प्रस्तुत ग्रंथ बहुत बाद में ईसवी सन् की पहली कुछ शताब्दियों में लिखा गया[1]। दोनों में से किसी

---

1 श्यामशास्त्री—अर्थशास्त्र की भूमिका, जायसवाल—हिंदू पॉलिटी अपेंडिक्स सी०, लॉ—कलकत्ता रिव्यू, १९२४, अर्थशास्त्र का परम्परागत काल, ई० पू० ३००, स्वीकार करते हैं। मगर जॉली इंट्रोडक्शन टु अर्थशास्त्र, कीथ—संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ४५८ से, तथा विंटरनित्स, गशिख्ट डर इंडश लिटरेचर भाग ३, अर्थशास्त्र इसके बहुत बादका समझते हैं।

की पुष्टि में पक्के प्रमाण नहीं मिलते और बाद में ग्रंथ में थोड़ी बहुत जोड़-जाड़ होने के कारण इसके रचनाकाल की समस्या और भी उलझ गयी है। विंटरनित्ज आदि का कहना है कि यदि ग्रंथ चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री कौटिल्य प्रणीत है तो इसमें यूनानी इतिहासकारों द्वारा वर्णित मौर्य साम्राज्य और शासनव्यवस्था का उल्लेख क्यों नहीं मिलता। इसमें नगर की प्रबंध समितियों और विदेशियों की देख रेख का जिक्र भी नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें कौटिल्य का नाम अन्य पुरुष में प्रयुक्त है इससे भी स्पष्ट है कि इसका लिखनेवाला कोई और ही था।

श्यामशास्त्री और जायसवाल इसके विरोध में कहते हैं कि पुस्तक में अन्त में स्पष्ट लिखा हुआ है कि नंदों का उच्छेद करनेवाले कौटिल्य ने इसकी रचना की है। यह कहना भी गलत है कि ग्रंथकार मौर्य साम्राज्य के विस्तार से अपरिचित था क्योंकि उसने लिखा है कि भारत में साम्राज्य की सीमा हिमालय से लेकर समुद्र तक हो सकती है। ग्रंथ का लक्ष्य औसत या साधारण राज्यतंत्र का वर्णन करना था। विशाल साम्राज्य की स्थापना तो भारत के इतिहास की असाधारण घटना थी अतः उसका विशेष वर्णन नहीं किया गया है। अवश्य ही अर्थशास्त्र में केवल विभिन्न विभागों के अध्यक्षों का ही उल्लेख है, नगर पंचायतों का वर्णन संभवतः इसलिये नहीं किया गया होगा कि वे गैरसरकारी संस्थाएं थीं। भारतीय ग्रंथकारों में अपने नाम का प्रथम पुरुष के बजाय अन्य पुरुष में उल्लेख बहुत साधारण बात है, इसलिए कौटिल्य के नामोल्लेख से ही सिद्ध नहीं होता कि ग्रंथ कौटिल्य का रचा नहीं है।

कौटिल्य ने जिस समाज का चित्रण किया है उसमें विधवाओं के नियोग और पुनर्विवाह रूढ़ थे, विवाहविच्छेद अज्ञात नहीं था और लड़कियों का विवाह ऋतुप्राप्ति के पश्चात् प्रौढ़ावस्था में होता था। यह स्थिति मौर्ययुग में थी। बौद्धों के प्रति अवज्ञा (पृष्ठ १९९) तथा परिवार का प्रबंध किये बिना भिक्षु होने की मनाही (पृ० ४८) भी यह बताती है कि ग्रंथ की रचना उस समय हुई जब बौद्धधर्म राजधर्म नहीं बन गया था परन्तु उसका प्रचार इतना था कि लोग परिवार छोड़कर भिक्षु बनने को उद्यत रहते थे। ग्रंथ में राज कर्मचारी के लिये अनेक बार 'युक्त' शब्द का प्रयोग हुआ है। अशोक के शिलालेखों में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु बाद में इसका चलन न रहा।

इन सब बातों तथा ग्रंथ-समाप्ति के श्लोक से यह तो सिद्ध है कि कम से कम ग्रंथ का मूल भाग मौर्यकाल का ही है और उसके कौटिल्य के ही विचार

हैं। बाद में उसमें इधर उधर कुछ संशोधन होते रहे। जैसे ग्रंथ में चीन का उल्लेख अवश्य ही बाद का है क्योंकि ३०० ई० पू० में चीन देश के बारे में यह नाम रूढ़ नहीं हुआ था। इसी प्रकार सुरंग शब्द वाले स्थल भी बाद के हो सकते हैं, चूँकि ग्रीक 'सिरिंक्स' से ही यह शब्द निकला है। पृ० २५५ में कौटिल्य के मुकाबले भारद्वाज के विचार रखे गये हैं। इसका उद्देश्य निष्पक्षरूप से दो विरोधी सिद्धांत उपस्थित करना भी हो सकता है, परंतु यदि भारद्वाज को प्रधानता देना उद्देश्य हो तो यह अध्यायभाग भी बाद में जोड़ा गया हो सकता है।

इस प्रकार के कुछ वाक्यों या अध्यायों को छोड़कर ग्रंथ का शेष भाग अवश्य ही मौर्यकालीन और कौटिल्यकृत है।

कौटिल्य कोरे राजनीतिज्ञ ही नहीं वरन् राजनीति के एक संप्रदाय के संस्थापक थे इसीसे उनका और उनके ग्रंथ का बाद के युग में भी सम्मान होता रहा। राजनीति के वाङ्मय में अर्थशास्त्र का वही स्थान है जो व्याकरण शास्त्र में पाणिनि की अष्टाध्यायी का। पाणिनि की भाँति कौटिल्य ने समस्त पूर्ववर्तियों को परास्त कर दिया और उनके ग्रंथ धीमे धीमे उपेक्षित तथा विलुप्त हो गए। पाणिनी की रचना इतनी श्रेष्ठ है कि परवर्ती वैयाकरण उसके आगे बढ़ना असंभव समझते थे। यही भाव कौटिल्य के प्रति भी राज्यशास्त्र के विद्वानों का था[1]। यही बाद में राज्यशास्त्र के मौलिक ग्रंथों का अभाव होने का एक कारण है। इस अभाव का एक और कारण हो सकता है। २०० ई० पू० से २०० ई० तक रचित मनु, विष्णु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में राजा के कर्तव्य, राजकर्मचारियों के कार्य, दंड और व्यवहारविधान, परराष्ट्रसंबंध आदि विषयों का विवेचन किया गया है। यह विवेचन अर्थशास्त्र के समान विस्तृत तथा गंभीर न होते हुए भी साधारण व्यवहार के लिये यथेष्ट था। उपर्युक्त स्मृतियों में इन विषयों के अतिरिक्त वर्ण, आश्रम, प्रायश्चित्त जैसे विषयों का विवेचन भी मिलता था, अतः विशुद्ध राज्यशास्त्र के ग्रंथों की अपेक्षा ये ग्रंथ अधिक उपयुक्त और लोकप्रिय हुए।

उपर्युक्त स्मृतियों में शासनसमस्याओं का स्थूलरूप से ही विचार किया

---

[1] संस्कृत वाङ्मय में एक और अर्थशास्त्र—बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र है। यह बहुत बाद की रचना है और इसमें कुछ भी नवीनता नहीं है। इसकी रचना संभवतः १२वीं शताब्दी में किसी निम्न कोटि के व्यक्ति ने की और इस पर नाम दे दिया बृहस्पति का जो इस शास्त्र के आदि आचार्यों में हैं।

गया है। यदि देश में गंभीर राजनीतिक चिंतन होता रहता तो अवश्य ही ये
ग्रन्थ अपर्याप्त सिद्ध होते और नये ग्रन्थों की रचना होती। पर ऐसा न
हुआ। अर्थशास्त्र, मनुस्मृति इत्यादि ग्रन्थों के द्वारा राज्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ
का स्वरूप सदा के लिये निश्चित हो गया। बाद के युग में नये सिद्धांत स्थापित
ही नहीं किये गये। इसका कारण बाद के विद्वानों की बुद्धि का धर्म और नीति
से अत्यधिक प्रभावित होना ही है। पहले के आचार्यों का मत था कि राजा
प्रजा का रक्षक है और अत्याचारी राजा को मारना पाप नहीं। यदि राज
हत्या के प्रश्न पर विशुद्ध लौकिक और व्यवहारिक दृष्टिसे विचार किया गया होता
तो बहुत से नये सिद्धांत और ग्रंथ रचे गये होते। प्रजा के सेवक होने के कारण
राजा के क्या कर्तव्य हैं, राजा यदि निरंकुश शासन करने लगे तो प्रजा उसका
वैधानिक या व्यावहारिक प्रतिकार कैसे करे, किस स्थिति में प्रजा राजनिष्ठा
कर्तव्य से मुक्त होती है और राजा को कर देना बंद कर सकती है, किस प्रकार
जनमत प्रभावी हो, राजवध क आत्यंतिक उपाय से पहिले प्रजा कौनसे सौम्य
उपाय व्यवहार में ला सकती है। राजसैन्य के मुकाबले में वे कहाँतक सफल हो
सकते हैं, ये सब ऐसे प्रश्न हैं, जिन्हें विचारने से अनेक नये सिद्धांत प्रकाशित
हुए होते और इस विषय पर बाद की शताब्दियों म प्रचुर साहित्य रचा जाता।
परन्तु हमारे आचार्यों ने केवल धार्मिक और नैतिक दृष्टिसे ही इस प्रश्न पर
विचार किया। राजाका कर्तव्य तनमनधनसे प्रजापालन था। यदि वह कर्तव्यसे
च्युत होता है तो देवता उसे दंड देंगे। प्रजा के पास उसके प्रतीकार का कोई
व्यवहारिक उपाय नहीं था। अनेक स्थलों पर यह कहा गया है कि दुराचारी
राजा पागल कुत्ते की भांति वध्य है, परन्तु कैसे और किनके द्वारा यह नहीं
बताया गया। काव्य और दर्शन शास्त्र में भारतीयों की इस समय नवनवो
न्मेषशालिनी प्रतिमा गुप्तोत्तर युग मे इस क्षेत्र में न जाने कैसी निस्तेज सी
हो गयी।

उत्कीर्ण लेखों म पता चलता है कि स्थानीय शासन और करव्यवस्था में
देश क विभिन्न भागों में बहुत वैभिन्य था। विभिन्न राज्यो मे समय समय पर
नये नये कर लगाये जाते थे और भिन्न भिन्न प्रांतों मे स्थानीय शासन का
विकास भिन्न भिन्न प्रकार से हुआ था। इन नये विषयों पर भी नये ग्रंथ लिखे
जा सकते थे। पर ऐसा संभवत इसलिए नहीं हुआ कि कर और स्थानीय
शासन विभिन्न प्रदेशों की प्रथाओं के अनुसार होते थे और राज्य शास्त्र क
प्रमाणभूत ग्रंथो मे इन स्थानीय विभिन्नताओं का स्थान नहीं दिया
जाता था।

मौर्य शासनपद्धति से गुप्तों की शासनपद्धति काफी विभिन्न थी, आगे चलकर हर्ष और उसके उत्तरकालीन राजाओं के समय में भी इस क्षेत्र में कुछ फेरफार हुए। इस विषय पर ग्रंथ लिखे जा सकते थे। किंतु ऐसा नहीं हुआ। मालूम होता है कि राज्यशास्त्रज्ञों की सम्मति में ये फेरफार विशेष महत्व के नहीं थे, इसलिये नये ग्रंथ नहीं लिखे गये।

कुछ लोगों का अनुमान है कि कौटिल्य के बाद राजनीति के ग्रंथों के अभाव का कारण ई० पू० २०० से ३०० ई० तक के विदेशी आक्रमण और विदेशी राज्यों की स्थापना है। परतु यह ठीक नहीं क्योंकि यूनानी, शक, पह्लव कुषान राजाओं के राज्य पंजाब के परे बहुत थोड़े समय तक ही रह सके। मध्यदेश और बिहार, जो ५०० ई० पूर्व से ही आर्य संस्कृति के केंद्र थे, विदेशी राज्य से मुक्त ही रहे।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ईसा के प्रथम सहस्राब्द में राजनीति के साहित्य क्षेत्र में मौलिक ग्रंथों के अभाव के कारण कौटिल्य के अर्थशास्त्र का सर्वोपरि प्रभाव, राजनीतिक चिंतन का अभाव और शासन-व्यवस्था में किसी महत्वपूर्ण विकास का न होना ही था। कुछ एक मामूली ग्रंथ या संग्रह अवश्य बनाये गये परतु उनमें कोई नई बात न थी।

परवर्ती काल में जो कुछ ऐसे ग्रंथ रचे भी गये उन पर अर्थशास्त्र की ही धाक स्पष्ट दिखाई देती है। उदाहरण के लिए कामंदकीय नीतिसार को लीजिये जो संभवतः गुप्तकाल में ५०० ई० के आसपास लिखा गया। यह कौटिल्य के ग्रंथ का छंदोबद्ध संक्षेपीकरण मात्र है। इसके गुमनाम लेखक ने इसे अनुष्टुप छंद में इसीलिए बाँधा कि विद्यार्थी इस प्रामाणिक ग्रंथ को कंठस्थ कर सकें। परतु इस ग्रंथ में शासनव्यवस्था का वर्णन नहीं किया गया है। राजा और उसके परिवारों के वर्णन ने ही सारी जगह छेक ली है इससे पता चलता है कि इस समय नृपतंत्र कितना शक्तिशाली हो चुका था। अर्थशास्त्र का गणतंत्रवाला अध्याय इसमें है ही नहीं क्योंकि संभवतः इस समय तक गणतंत्रों का अस्तित्व ही मिट चुका था। दीवानी और फौजदारी कानून, दायविभाग, वर्णव्यवस्था इत्यादि विषय भी छोड़ दिये गये हैं क्योंकि स्मृतिकारों ने इसे अपना विशेष विषय बना लिया था।

शुक्रनीति भी प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र के अध्ययन के लिए बड़े काम की है। इसकी रचनातिथि अनिश्चित है। अन्य ग्रंथों के समान इसमें भी राज्य अथवा शासन तंत्र का सैद्धांतिक विवेचन नहीं किया गया है परतु इसमें शासनव्यवस्था का जैसा सांगोपांग विवरण है वैसा अर्थशास्त्र के बाद के किसी

अन्य ग्रंथ में नहीं है। इस ग्रंथ के समय तक यवनों का नामनिशान मिट चुका था अतः इसमें भी नृपतन्त्र का ही वर्णन है। राजा और उसके मन्त्रियों तथा कर्मचारियों के कार्यों के अतिरिक्त इसमें परराष्ट्र और राजनीति का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। न्याय की व्यवस्था का भी इसमें पूरा विवरण है। प्रसंगवश समाज शास्त्र और समाज नीति के कुछ प्रश्नों पर भी विशद विचार किया गया है। इस ग्रंथ की रचनाशैली और समाजचित्रण कामन्दकीय नीतिसार और नारदस्मृति जैसा ही है अतः इसे ८वीं शताब्दी के अंतिम चरण में रखा जा सकता है। इसके कुछ श्लोक जिनमें उत्तर पश्चिम में यवनों के होने का उल्लेख और तोप तथा बारूद का वर्णन है (चौथा अ० ७, १९१) बाद के हो सकते हैं। कुछ विद्वान् इसे १६ वीं शताब्दी में रखते हैं परन्तु यह गलत है क्योंकि ११०० से १६०० के बीच में रचे गये ग्रंथों से इसकी शैली और विचारधारा एकदम भिन्न है।

११०० ई० के बाद से भारतीय वाङ्मय की अधिकांश शाखाओं से मौलिकता जाती रही। राजशास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है। ११०० से १७०० तक बहुत से संकलनात्मक ग्रंथ रचे गये जिनमें धर्म के विभिन्न अंगों का सविस्तार वर्णन किया गया है। राजनीति पर भी इन ग्रंथों में अध्याय लिखे गये हैं किंतु उनमें नावीन्य बिल्कुल नहीं है। इस श्रेणी के कुछ उल्लेखनीय ग्रंथ ये हैं। लक्ष्मीधर (११२५) का राजनीति कल्पतरु, देवणभट्ट (१२०० ई०) का राजनीतिकांड, चंडेश्वर (१३२५ ई०) का राजनीति रत्नाकर, नीलकंठ (१६२५ ई०) का नीतिमयूख तथा मित्र मिश्र (१६२० ई०) का राजनीति प्रकाश। अधिकतर ग्रंथ पुरोहितों के कर्मकांड की दृष्टि से लिखे गये हैं। राजनीति प्रकाश में राज्याभिषेक का वर्णन १०० पृष्ठों में है। नीतिमयूख में बड़े विस्तार से बताया गया है कि राजा किस प्रकार नहाये, और क्षौर कराये दुःस्वप्न और अपशकुन होने पर क्या करे और उपद्रवों के निराकरण के लिए क्या शांति कराये। इन ग्रंथों में अमात्य, दुर्ग, कोष परराष्ट्र और राजनीति का भी वर्णन है पर उसमें कोई भी नवीनता नहीं है। इन विभिन्न विषयों पर पूर्व आचार्यों के ही उद्धरण अधिकतर दिए गये हैं। शिवाजी के मंत्री रामचंद्र पंत अमात्य ने भी मराठी में १६८० ई० के लगभग राजनीति पर एक छोटी सी रचना की थी पर इसमें भी कोई नये विचार नहीं हैं। प्राचीन राजनीति के विद्यार्थी को इन मध्यकालीन ग्रंथों से बहुत कम सहायता मिल सकती है।

———

अध्याय २

राज्य की उत्पत्ति और प्रकार

राज्यशास्त्र के आधुनिक ग्रंथों में राज्य की उत्पत्ति पर बड़े विस्तार से विचार किया जाता है। सर्वप्रथम राज्य की किस प्रकार उत्पत्ति हुई इसके तत्कालीन प्रमाण तो मिल नहीं सकते। सामाजिक या राजनीतिक संगठन से परिचित लोगों ने भिन्न भिन्न समय पर अपने राज्य की किस प्रकार स्थापना की इसके उदाहरण इतिहास में बहुत मिलते हैं पर पहले पहल मनुष्य ने राजनीतिक संगठन का ज्ञान प्राप्त करके किस प्रकार राज्य की स्थापना की इसकी तो पुराणों और किंवदन्तियों के सहारे कल्पना ही की जा सकती है। आधुनिक लेखक वैज्ञानिक प्रणाली और विकासवाद के सिद्धांतों के आधार पर अपना अपना मत प्रतिपादन करते हैं। इस समय भी आदिम अवस्था में रहनेवाली जंगली जातियों की स्थिति के निरीक्षण से उनके कुछ सिद्धांतों की पुष्टि भी होती है। परंतु पुराने विचारकों को, चाहे वे पूर्व के हों या पश्चिम के, ये साधन उपलब्ध न थे। प्राचीन भारत में अधिकतर संस्थाओं की उत्पत्ति दैवी ही मानी जाती थी और राज्य की उत्पत्ति भी इसी प्रकार समझी जाती थी।

महाभारत[1] और दीघनिकाय में[2] राज्य की उत्पत्ति पर विचार किया गया है और विभिन्न सम्प्रदाय तथा समय के होनेपर भी दोनों ग्रंथ के विचारों में महत्वपूर्ण साम्य है। दोनों का कहना है कि मनुष्य समाज की सृष्टि के बाद बहुत दिनों तक सतयुग, सुख और शांति का स्वर्णकाल रहा, लोग स्वभावतः धार्मिक होते थे और सरकार तथा कानून या विधिनियमोंके बिना ही शांति और सदाचारपूर्वक रहते थे। भारत में ही नहीं पश्चिम में भी सृष्टि के आदिकाल में स्वर्णयुग की कल्पना की गयी है।

प्लेटो आदि कुछ यूनानी लेखकों ने भी इस धारणा का उल्लेख किया है कि सृष्टि के आदि में शांति और सदाचार के स्वर्ण युग का दौर दौरा था जिसके

---

१ शांतिपर्व, अध्याय ५८

२ भाग ३, पृ० ८४–९६

सामने वर्तमान अच्छे से अच्छे राज्य भी फीके हैं।[1] अठारहवीं शताब्दी का फ्रेंच ग्रंथकार रूसो भी आदिम स्वर्णयुग पर विश्वास रखता था।

महाभारत में लिखा है कि बहुत समय तक बिना राजा और न्यायाधीश के ही समाज सत्पथ पर चलता रहा परंतु बाद में किसी प्रकार अधःपतन आरंभ हो गया। लोग सदाचार से भ्रष्ट होकर स्वार्थ, लोभ और वासना के वश में हो गये और जिस स्वर्गीय व्यवस्था में वे रहते थे वह नरक बन गयी। मात्स्यन्याय, जिसकी लाठी उसकी भैंस, का बोलबाला हुआ। बलवान् निर्बलों को खाने लगे। देवता भी यह सब देखकर चिंतित हुए और उन्होंने इस दुर्दशा का अंत करने का निश्चय किया। लोग भगवान ब्रह्मा के शरण में गये। ब्रह्माजी इस निश्चय पर पहुँचे कि मनुष्य जाति की तब ही रक्षा हो सकेगी जब एक आचारशास्त्र बनाया जाय और उसे राजा के द्वारा कार्यान्वित किया जाय। अतः उन्होंने एक विस्तृत विधान बनाया और अपने मानस पुत्र विरजस की सृष्टि करके उसे राजा बनाया। जनता ने भी उसके अनुशासन में रहना स्वीकार किया[2]। इस विवरण से स्पष्ट है कि राज्य की उत्पत्ति दैवी मानी जाती थी, राजा के राज्याधिकार का आधार उसकी दिव्य उत्पत्ति भी थी और इस पतित जीवन के अंत करने की नीयत से उसकी आज्ञा मानने के लिए प्रजा की सहमति थी। यहाँ इस बात का भी उल्लेख कर देना उचित है कि ईसाई मत के प्रभाव के कारण यूरोप में भी राजा के दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत का बहुत बोलबाला था। खासकर मध्ययुग में तो राजा ईश्वर का प्रतिनिधि और उसके अधिकार ईश्वर प्रदत्त माने जाते थे। इस्लाम में भी बादशाह खुदा का प्रतिबिंब समझा जाता था।

---

१ कुछ निरीक्षकों का कहना है कि १९ वीं सदी में भी अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया में ऐसी जंगली जातियाँ विद्यमान थीं, जो शासनतंत्र से अपरिचित होने पर भी पूरे सौहार्द और आनंद से रहती थीं। परंतु संभव है कि ये निरीक्षक उनकी भाषा न जानने और अधिक देर उनके साथ न रहने के कारण इन जातियों की वास्तविक स्थिति न जान पाये हों।

२ नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः। यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत्॥ नैव राज्यं न राजासीन्न च दण्डो न दाण्डिकः। धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥ पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत॥ दैन्यं परमुपाजग्मुस्ततस्तान्मोह आविशत्। प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत्॥ कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो।

दीघनिकाय का विवरण[१] भी बहुत कुछ महाभारत के ही समान है। बौद्ध ईश्वर को नहीं मानते थे अतः ब्रह्मा द्वारा प्रथम राजा की सृष्टि का कथा उन ग्रंथों में स्वभावतः ही नहीं है। परन्तु उनमें यह कहा गया है कि बहुत पहले स्वर्णयुग था, जिसमें दिव्य और प्रकाशमान शरीरवाले मनुष्य धन से आनंदपूर्वक रहते थे। किसी प्रकार इस आदर्श समाज का अधःपतन हुआ, अंधाधुंधी और अव्यवस्था का दौर दौरा हुआ और सभी जन इस दुर्व्यवस्था का अंत करने के लिए अधीर हो उठे। अंत में 'महाजन सम्मत' नामक एक दिव्य और अयोनिज पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ। वह बुद्धिमान्, धार्मिक और योग्य था और सब जनों ने इससे अपना राजा होने और अव्यवस्था का अंत करने की प्रार्थना की। उसने प्रजा की बिनती स्वीकार की और जनता ने उसे अपना राजा बनाया तथा उनकी सेवाओं के बदले में अपने धान का एक अंश देना स्वीकार किया।

हिंदू और बौद्धों की यह धारणा कि शासन संस्था के विकास से पूर्व स्वर्णयुग था इस बात की सूचिका है कि वे राज्य के पहले समाज की उत्पत्ति मानते थे। यही ठीक भी है। भाषा का जन्म पहले होता है व्याकरण का बाद को।

नारद[२] और बृहस्पति[३] भी स्वर्णयुग और उसके बाद की अव्यवस्था का उल्लेख करते हैं पर राज्य की उत्पत्ति के बारे में कोई उपयोगी बात नहीं कहते हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि पौराणिक सतयुग की चाहे जो अवस्था रही हो जहाँ तक ज्ञात इतिहासका संबंध है हिंदू विचारक यह मानते थे कि समाज की रक्षा और विकास के लिए शासन संस्था का अस्तित्व अनिवार्य है और उसके बिना कोई समाज टिक नहीं सकता[४]। राज्य को दैवी संस्था मानने का अर्थ यही है कि वह समाज के ही समान प्राचीन है और उसकी उत्पत्ति का कारण मनुष्य की सहजात सामाजिक और राजनीतिक प्रवृत्ति ही है।

महाभारत के विवरण से यह प्रतीत होता है कि समाज के मानने से ही विरजस राजा हुआ और दीघनिकाय तो स्पष्ट ही कहता है कि 'महाजनसम्मत'

---

१ भाग ३, पृ० ८४–६

२ अध्याय १—२।

३ ,, १।१

४ अराजकं नाम रट्ठं पालेतु न सक्का।

लोगों की प्रार्थना पर ही अव्यवस्था दूर करने पर तैयार हुए। तब लोगों ने उन्हें राजा बनाया। इन विवरणों में समाज की सहमति अथवा इकरारनामे में ही राज्य की स्थापना का भाव निहित है। धर्मसूत्रकारों का भी यह मत है क्योंकि वे लिखते हैं कि राजा प्रजा का सेवक है उसका कर्तव्य उनका संरक्षण है और उसे प्रजा की आय का १।६ वां भाग अपने वेतन के रूप में मिलना चाहिये[२]। हिंदू विचारकों ने इकरारनामे के इस सिद्धांत पर अधिक जोर संभवतः इसलिए नहीं दिया कि वे उसे समाज और सरकार की मूल उत्पत्ति के लिए अनुपयुक्त समझते थे और मनुष्य की स्वाभाविक समाजनिष्ठता को ही उत्तरदायी मानते थे।

अब लोग समझ गये हैं कि सहमति का सिद्धांत इतिहास की दृष्टि से अशुद्ध और तर्क की दृष्टि से लचर है। सहमति द्वारा सभ्य एवं राजनीतिक दृष्टि से विकसित जातियों द्वारा विशिष्ट राज्यों की स्थापना संभव है। पर प्राकृतिक अवस्था में सबसे पहले राज्य की स्थापना कैसे हुई यह गुत्थी इस सिद्धांत से नहीं सुलझ सकती। सहमति या इकरार उस समाज में हो सकता है जहाँ लोग अपने और दूसरों के अधिकारों और कर्तव्यों को समझते हों, उस समाज में नहीं जहाँ लोग वनचरों की भांति रहते हों। फिर भी इस विषय में भारतीय विचारों की पश्चिम से तुलना लाभकर होगी।

प्राचीन ग्रीक या रोमन विचारकों ने इस सिद्धांत का उल्लेख नहीं किया है। इसका विकास यूरप में प्रोटेस्टेंट आंदोलन के बाद ही हुआ। हॉब्स, लॉक और रूसो इसके प्रमुख समर्थक हैं।

बहुसंख्य प्राचीन भारत के विचारकों के समान हॉब्स का भी यह मत था कि संसारके प्रारंभ में अराजकता थी, हरेक मनुष्य यथासंभव दूसरे को दबाना चाहता था। इस अवस्था से उकता कर लोगों ने आपस में यह तय किया कि वे अपने अनियंत्रित अधिकार एक शासक को सौंप दें। मगर जनता और शासक में कोई इकरार न था न उसके अधिकारों पर कोई नियंत्रण लगा रखा था। इस अवस्था से शासक को जो अधिकार प्राप्त हुए उनको लोगों को वापस लेने का भी कोई अधिकार न रहा। हिंदू विचारकों में और हॉब्स में बहुत कुछ साम्य है। वे भी मानते हैं कि पहले अराजकता थी और जब पहला राजा ब्रह्मदेव ने निर्माण किया तब उसमें और जनता में कुछ 'समय' या इकरार न हुआ था। मगर उनका यह स्पष्ट कहना है कि यदि

२ षड्भागभृतो राजा रक्षेत् प्रजाम्। बौ ध सू, १।१०।६

'समय' की शर्तों से न हो तो ईश्वर निर्मित धर्मशास्त्र के नियमों से राजा की सत्ता नियंत्रित रहती है।

लॉक के मतानुसार राज्य की स्थापना से पहले की अवस्था प्राय हिंदु पुराणों के सतयुग के समान ही थी। लोग प्रकृति तथा विवेक के नियमों का पालन करते थे और प्राय एक दूसरे की जानमाल को नुकसान न पहुँचाते थे। मगर व्यक्ति व्यक्ति की बुद्धि में भेद और स्वार्थों के संघर्ष से प्राकृतिक नियम कौन है, इस प्रश्न पर कभी कभी मतभेद उत्पन्न होते थे। मगर समाज में कोई अधिकृत न्याय करनेवाले या दंड देनेवाले न थे जिसके कारण सभी न्यायाधीश और दांडिक हो सकते थे। इसमे गड़बड़ी होने लगी और उसके बचने के लिए लोगों ने आपस में 'समय' या इकरारनामा किया और सरकार की स्थापना की और उसे कुछ अधिकार सौंप दिये। इस मूल 'समय' से राजा और प्रजा दोनों भी समान रूप स बँधे हैं।

हिंदु विचारकों ने भी यह मान लिया है कि पहले सतयुग था और किसी प्रकार स लोभ और मोह के वश में हो जाने से लोगों का अध पतन हुआ और शासन व्यवस्था की आवश्यकता उत्पन्न हुई। मगर सतयुग के लोग एकाएक लोभवश कैसे हुए यह जैसे हिंदु विचारक ठीक तरह से कह नहीं सकते उसी प्रकार लॉक भी यह नहीं समझा सकता है कि प्रकृति तथा विवेक के नियमों का पालन करनेवालों मे स्वार्थजन्य झगड़े कैसे होने लगे, और ऐसे समय हरेक व्यक्ति समाज में न्यायाधीश और दांडिक कैसे हो सकता था। मूल 'समय' (इकरारनामा) की शर्तों से लॉक राजा के अधिकार का नियंत्रण करना चाहते है, हिंदु विचारक मूल देवी शास्त्र के नियमों से।

प्राचीन भारतीय आचार्य लॉक और हॉब्स की भाँति बुद्धिवाद के युग में नहीं रहते थे। उन्होंने इन प्रश्नों पर अधधार्मिक और अधलौकिक दृष्टि से ही विचार किया था। अत न तो वे इस समस्या के तल तक पहुँच सके और न शासन संस्था तथा प्रजा के अधिकारों की भी स्पष्ट सीमा निर्धारण कर पाये। उन्होंने यह तो कह दिया कि राज्य द्वारा अपने संरक्षण और सेवा के बदले ही प्रजा राजा को कर देती तथा उसका अनुशासन मानती है और राजा के कर्तव्यच्युत होने पर उसे हटाने और मार डालने का भी प्रजा को अधिकार है, पर उन्होंने यह कहीं नहीं बताया कि किन किन परिस्थितियों में राजा इकरारनामा तोड़ने का दोषी समझा जाय और किन व्यावहारिक विधान-युक्त साधनों द्वारा प्रजा उससे इकरारनामे की शर्तों का पालन बाध्य रूप से करावे। आततायी राजा को हटाने या वध करने का अधिकार प्रजा को देना ही इस बात का प्रमाण है

कि प्रजा ही राजसत्ता की मूल अधिकारी है और उसी का अधिकार सर्वोच्च है। परन्तु राजच्युत करना तथा राजवध करना बड़ा उग्र और कठिन उपाय है। ज्यादा अच्छा होता यदि हमारे आचार्यों ने राजा पर अंकुश रखने के लिए कोई सदा व्यवहार में लाने योग्य वैधानिक मार्ग निकाला होता। परन्तु हमें यह भी याद रखना चाहिए कि इस प्रकार का वैधानिक मार्ग यूरप में भी आधुनिक काल में ही पूर्णरूप से बन पाया है।

अर्वाचीन विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति के बारे में और भी कल्पनाएँ की हैं। कुछ लोगों का कहना है कि बहुत पुराने जमाने में लोगों ने स्वेच्छा से कुछ व्यक्ति विशेष को अधिकार दिया। या तो वह पुरोहित था जो देवताओं को प्रसन्न कर सकता हो, या वह मन्त्रवेत्ता था जो मन्त्रबल से पानी बरसा सकता हो अथवा वह वैद्य था जिसमें रोग दूर करने की क्षमता थी। इस प्रकार अधिकार पा जाने पर, अपने रोब से और बाद में बलप्रयोग द्वारा भी इसके लिए अपने अधिकार कायम रखना या उनका विस्तार करना कठिन न था। सम्भव है कि कुछ जातियों में इस प्रकार भी शासन सत्ता या राजा की उत्पत्ति हुई हो। पर आर्य जातियों में पितृप्रधान सम्मिलित कुटुम्ब पद्धति के ही बीजरूप धीरे धीरे राज्यविकास अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होता है।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि अपने आदि देश में भी आर्य सम्मिलित कुटुम्बों में ही रहते थे। इन कुटुम्बों में दादा पिता, चाचा, भतीजे, लड़के और पतोहू सभी थे।[१] होमर के काल में दो दो सौ और तीन तीन सौ व्यक्तियों के परिवारों का उल्लेख मिलता है।[२] इस परिवार के गृहपति को परिवार के सदस्यों पर पूर्ण प्रभुत्व था। उसे अपने वशवर्ती किसी भी व्यक्ति को बेचने, बंधक रखने या अपराध करने पर अंगच्छेद और वध करने का भी अधिकार था। प्राचीन रोम में परिवार के गृहपति को ये अधिकार थे और कुछ वैदिक सूत्रों में भी पिता की आज्ञा से अपराधी पुत्र के बेचने या उसकी आँखें फोड़ी जाने का वर्णन है।[३] प्रागैतिहासिक काल में

---

१ अधिकांश यूरोपीय (Indo European) भाषाओं में चाचा, भतीजा, ससुर, सास, पतोहू आदि शब्द एक ही धातु से निकले हैं।

२ प्रायम के ५० बेटे और १२ बेटियाँ थीं और वे अपनी पत्नी, पति, और सन्तान के साथ एक ही घर में आपस के साथ रहते थे।

३ ऋग्वेद ७ ११६ १७—में वर्णन है कि ऋज्राश्व की असावधानी से इसके पिता की १०० भेड़ें एक भेड़िया खा गया। पिता ने क्रुद्ध होकर

(क्र पृ व)

सभी आर्य जातियों में कुटुब के गृहपति के अधिकार और पद प्राय राजा के ही समान थे। जब कुटुब संस्था का विस्तार हुआ और उसने एक ही गाव में रहनेवाले काल्पनिक या वास्तविक पूर्वज से उत्पत्ति माननेवाले अनेक कुलों के सघ का रूप धारण किया तब गृहपति के अधिकारों के क्षेत्र की वृद्धि के साथ साथ उसकी व्यापकता में कुछ कमी भी आयी। गाव के सबसे बड़े कुल के सबसे वृद्ध गृहपति को सारा समाज अत्यत आदर से देखता था और अन्य ग्रामवृद्धों की सलाह से वह ग्राम की व्यवस्था करता था।

ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्य समाज कुटुबों, ग्रमनों, विशों और जनों[1] मे विभाजित था। ग्रमन् सभवत एक ही पूर्वज के वशजों का ग्राम था। इस प्रकार के कई ग्रामों का समूह विश् कहलाता था और इनका मुखिया विश्पति। विश् का सगठन बड़ा दृढ था और लड़ाइयों में हरेक विश् की अपनी अलग टुकड़ी होती थी। कई विशों को मिलाकर जन बनता था जिसके प्रमुख को जनपति या राजा कहते थे। प्राचीन रोम की समाज व्यवस्था और ऊपर वर्णित वैदिक समाज-व्यवस्था में अद्भुत साम्य था। वहाँ भी सबसे छोटा अग 'जेन्स' एक ही वंश के कुलों का समूह था, कई जेन्स मिलकर 'क्यूरिया' और १० क्यूरियों की एक 'ट्राइब' बनती थी। इस प्रकार वैदिक जन, रोम के 'ट्राइब', विश् 'क्यूरिया' और ग्रमन् 'जेन्स' के बराबर था।

उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि अन्य आर्य जातियों की भाँति भारत में भी प्रागैतिहासिक काल में सयुक्त कुटुब से ही शासन सस्था का विकास हुआ। कुटुब के गृहपति का आदर और मान स्वाभाविक था ग्राम के मुखिया और जनपति भी इसी परपरागत सम्मान के भाजन हुए, और कालातर में ये ही सरदारों और राजाओं के पदपर प्रतिष्ठित हुए। राज्यों के विस्तार के साथ राजा के अधिकारों का भी विस्तार होता रहा।

शासन सस्थाओं के प्रकार

अब हमें यह देखना है कि प्राचीन भारत में कितने प्रकार की शासन

(क्रमशः)

उसकी आँखें फोड़ दी तब अश्विनो ने उसे नेत्रदान दिया। इन्द्रयोप को उसके पिता ने अकालपीड़ित परिवार के भरण के लिये बेच दिया था।

(ऐ. ब्रा सप्तम १९)

१ स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभि । ८ २६ ३

संस्थाएँ थीं। प्राचीन लेखकों ने इस विषय के विवेचन पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। कारण उनके समय में नृपतन्त्र का ही बोलबाला था। यदि प्रजातन्त्र या उच्चवर्ग-तन्त्र के नागरिक ने दंडनीति का कोई ग्रंथ रचा होता तो उसमें नृपतन्त्र, प्रजातन्त्र और उच्चवर्ग-तन्त्र आदि विविध प्रकार की शासन-संस्थाओं के गुणागुण का विवेचन अवश्य होता, परन्तु ऐसा न हुआ। हमारे लेखक घूम घूमकर केवल एक ही प्रकार नृपतन्त्र पर ही आते हैं। चलते चलाते कुछ ने 'संघों' का उल्लेखमात्र कर दिया है। हम देख चुके हैं कि बहुत काल तक भारत में जन राज्यों का ही प्रचलन रहा। विश्पति, जनपति आदि के उल्लेख में अनेक जगह मिलते हैं और उनके अतिरिक्त स्थान स्थान पर यदु, पुरु, अणु और तुर्वशु आदि विशिष्ट जनों का भी उल्लेख प्रचुरता से किया गया है। कहा जाता है कि विश्वामित्र के स्तवन से भारतजनों की रक्षा हुई[1]। राजसूय यज्ञ में राजा किसी प्रदेश या राज्य का नहीं बल्कि भारतों या कुरुपांचालों का शासक घोषित किया जाता है।

उत्तर वैदिक काल में प्रादेशिक राज्य की भावना का विकास होने लगता है। अथर्व वेद में इसका स्पष्ट उल्लेख है।[2] तैत्तरीय संहिता में ऐसे अनुष्ठान का वर्णन है जिससे राजा अपने 'विश्' पर प्रभुता पा सकता है पर 'राष्ट्र' या देश पर नहीं।[3] ब्राह्मण वाङ्मय में अकसर सम्राट् का सागरमेखला पृथ्वी के अधिपति के रूप में वर्णन है अनेक जनों के अधिपति के रूप में नहीं। स्पष्ट है कि इस समय तक प्रादेशिक राज्य की धारणा जड़ पकड़ चुकी थी।

वैदिक काल में नृपतन्त्र ही प्रचलित था। राजा, महाराजा और सम्राट् आदि उपाधियाँ राजाओं के पद, गौरव और शक्ति के अनुसार दी जाती थीं। कुछ राजा 'स्वराज' और 'भोज' कहलाते थे। इन उपाधियों का निश्चित अर्थ बतलाना कठिन है।

राज्याभिषेक में कभी कभी कहा गया है कि इस संस्कार से शासक को एक साथ राज्य, स्वराज्य, भौज्य, वैराज्य, महाराज्य और स्वराज्य पद प्राप्त होंगे। इससे संदेह होता है कि ये उपाधियाँ विभिन्न प्रकार के राज्यों की सूचिका हैं

---

१ विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेद् भारतं जनम्। ३ ५३।१२
२ २० १२७ ६–१०, १४ ३० ३–४३ ४ २, ६ १८२।
३ २ ३ ३–४।
४ ऐ ब्रा ८ ४ ६, ८ ३ १३। तै ब्रा २ ३ ३–४।

या नहीं। यह भी हो सकता है कि राज्याभिषेक संस्कार का महत्व दिखाने के लिए ही पुरोहित ने कह दिया हो कि उससे इन सब विभिन्न पदों की प्राप्ति हो सकती है। इस धारणा का समर्थन ऐतरेय ब्राह्मण के इस कथन से भी होता है कि देश के विभिन्न भागों में राज्य, भौज्य, वैराज्य और साम्राज्य आदि विविध प्रकार के राज्य थे।[१]

वेदोत्तर युग में एक सम्राट् के करद सामंत के रूप में छोटे बड़े अनेक राजाओं का उल्लेख बराबर मिलता है। बहुत संभव है कि वैदिक काल में भी यही स्थिति रही हो और करद सामंत भोज और स्वराज, तथा उनके अधिपति सम्राट् सम्बोधित होते रहे हों। स्वराट् के मुकाबले में सम्राट् की राज्य सीमा का क्या विस्तार था इसका ठीक ठीक निश्चय नहीं हो सकता। वैदिक काल के अधिकांश राज्य छोटे ही होते थे। चौथाई पंजाब के बराबर भी कोई राज्य उस समय रहा हो इसमें भी संदेह है। संभव है कि सम्राट् का राज्य भी साधारण राज्य से विशेष बड़ा न रहा हो और उसका ऊँचा पद राज्य विस्तार की अपेक्षा उसकी सामरिक कीर्ति और विजयों को ही अधिक सूचित करता होगा।

स्पार्टा की भाँति प्राचीन भारत में भी द्वैराज्य या दो राजाओं द्वारा शासित राज्य थे। सिकंदर के समय में पाटल राज्य (आधुनिक सिंध) में पृथक् वंशों के दो राजाओं का संयुक्त शासन था।[२] अर्थशास्त्र (८।२) में भी ऐसे राज्य का उल्लेख है। ऐसे राज्यों का सूत्रपात शायद इस प्रकार हुआ हो जब दो भाइयों अथवा उत्तराधिकारियों ने राज्य के विभाजन के बजाय संपूर्ण राज्य पर संयुक्त शासन करना ही पसंद किया हो। परंतु जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं उसी प्रकार एक ही राज्य में दो राजा भी चिरस्थिर नहीं रह सकते। खासकर जब उनके अधिकारों या कार्यों का विभाजन न हो और हरेक अपने को ही बड़ा माने। ऐसे राज्य तो प्रायः दलबंदी और परस्पर संघर्ष के अखाड़े रहे होंगे इसी से अर्थशास्त्र इनके पक्ष में नहीं है[३] और जैन साधुओं का ऐसे राज्य में रहने या जाने का निषेध किया गया है। अक्सर आपसी झगड़ा बचाने की नीयत से द्वैराज्य के शासक भाई या संबंधी राज्य का बँटवारा कभी-कभी कर लेते थे। विदर्भ में शुंगों द्वारा

१　ऐ० ब्रा०, ८ ३, १४।
२　मैक क्रिंडल—सिकंदर का आक्रमण पृ० २९६।
३　द्वैराज्यमन्योन्यपक्षद्वेषानुरागाभ्यां परस्पर संघर्षेण वा विनश्यति ८।२।

स्थापित द्वैराज्य में ऐसा ही हुआ था।[1] बटवारे के बाद भी दोनों शासक महत्त्वपूर्ण विषयों पर संयुक्त विचार परामर्श किया करते होंगे। जब संयुक्त-राज्य के दोनों शासकों में मेल रहता था तब उसे द्वैराज्य (संस्कृत) या दोरज्ज (प्राकृत) कहते थे, जब उन राजाओं में झगड़ा रहता था तब उसे विरुद्ध राज्य (संस्कृत) या विरुद्धरज्ज (प्राकृत) कहते थे।[2]

वैदिक वाङ्मय में कभी कभी राजाओं की समिति का वर्णन मिलता है।[3] यह भी कहा गया है कि वही व्यक्ति राजा बन सकता है जिसके लिए अन्य राजाओं ने सहमति दी हो।[4] संभवतः इससे सामंत अथवा गणराज्य का अभिप्राय हो जिसमें सारा अधिकार उच्च वर्ग या सरदारों की परिषद् के हाथ रहता है। उसके सब सभासद् राजा कहे जाते थे और ये ही राज्य के सर्वोच्च अधिकारी को चुनते थे और वह भी राजा की ही उपाधि से संबोधित होता था। देश के कुछ हिस्सों में इस प्रकार के राज्यों का ईसवी पूर्व छठीं शताब्दी तक अस्तित्व था।

नृपतंत्र और उच्चवर्ग तन्त्र के साथ-साथ विशुद्ध प्रजातन्त्र का अस्तित्व भी भारत में वैदिक काल से ही है। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थल पर कहा गया है कि हिमालय के पास उत्तरकुरु और उत्तरमद्र आदि जनों में विराट् (राजा रहित) शासनतन्त्र प्रचलित था जिस कारण वे लोग विराट् अर्थात् नृपहीन जन कहे जाते थे। इसी प्रकरण में पौर्वात्यों और दाक्षिणात्यों के राजाओं और उनकी उपाधियों (सम्राट् और भोज) का उल्लेख है और उपर्युक्त स्थल में विराट् शब्द राजा के लिए नहीं किंतु वदेशस्य लोगों के लिए स्पष्ट रूप से प्रयुक्त हुआ है। अतः यह निःसंदिग्ध है कि उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र जनों में अराजतन्त्र या प्रजातन्त्र शासनपद्धति प्रचलित थी। सिकंदर के समय के यूनानी लेखकों ने भी इसी प्रदेश में प्रजातन्त्र राज्यों के होने का उल्लेख किया है। ये विराट् राज्य सचमुच प्रजातन्त्र थे या नहीं इस पर आगे छठें अध्याय में विचार होगा।

---

१ मालविकाग्निमित्र, अंक ५ श्लोक १३।

२ अरायेंसि वा गणरायंसि वा जुवरायंसि वा दोरज्जंसि वा वेरज्जंसि वा विरुद्धरज्जंसि वा। आचारांगसूत्र, २ ३ १ १०।

३ यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। ऋ वे, १० ९७ ६।

४ यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न॥
श ब्रा, ९ ३ २ ५।

राज्य-संघ (Federal state) और सम्मिलित-राज्य (Composite state) भी प्राचीन भारत में अज्ञात न थे। उत्तर वैदिक काल में कुरु पांचालों ने मिलकर एक शासक के अधीन अपना सम्मिलित-राज्य कायम किया था। पाणिनी के समय में क्षुद्रक और मालव राज्य अलग-अलग थे परन्तु महाभारत में (ई० पू० २५०) बहुधा इनका एक साथ ही उल्लेख मिलता है। सिकन्दर के आक्रमण का सामना करने के लिए इन्होंने दोनों राज्यों का एक संघ बनाया था। जो एक शताब्दी तक कायम रहा। इसे दृढ़ करने के लिए क्षुद्रकों और मालवों में परस्पर १० हजार विवाह हुए थे। यौधेय गण-राज्य भी तीन उप राज्यों का संघ था। अक्सर ये संघ अल्पकालीन ही हुआ करते थे। बुद्ध और महावीर के जीवन-काल में लिच्छवियों ने एक बार मल्लों के साथ और थोड़े ही समय बाद दूसरी बार विदेहों के साथ संघ बनाया था। लिच्छवि-मल्ल संघ के मंत्रि परिषद् में १८ सदस्य होते थे ९ लिच्छवि चुनते थे और ९ मल्ल। ये संयुक्त और संघ-राज्य किस प्रकार चलते थे, संघ को क्या अधिकार दिये जाते थे और संघान्तरित राज्यों को क्या रहते थे इन सब बातों की पर्याप्त जानकारी हमें नहीं मिलती है। सम्भवत राज्य-संघों की केंद्रीय सत्ता केवल परराष्ट्र नीति का संचालन और संधि विग्रह का निश्चय करती थी। अन्य विषयों में राज्य स्वतंत्र थे। युद्ध के लिए संघान्तरित राज्य अपनी संयुक्त सेना का एक ही सेनापति नियुक्त करते थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय क्षुद्रक-मालव राज्यों ने एक रणविशारद और वीर क्षुद्रक सेनानायक को ही संयुक्त सेना का अधिपति बनाया था जिसने शौर्य और कौशल्य का बोलबाला था।

साधारणतः भारत में एकात्मक या एकच्छत्र (Unitary) राज्य-व्यवस्था ही प्रचलित थी। राजा ही सत्ता का स्रोत था, मंत्री और प्रान्तीय अधिकारी उसी से अधिकार ग्रहण करते थे। ग्रामपंचायत, पौर जानपद और श्रेणी निगम आदि भी केंद्रीय सत्ता के नियंत्रण और निरीक्षण में काम करते थे। परन्तु परम्परा ऐसी बन गयी थी कि राजा इनके कार्यों में तभी हस्तक्षेप कर सकता था जब ये अपनी परम्परा और विधान के विरुद्ध काम करें। अतः ये स्वायत्त संस्थाएँ राज्य के एकात्मक रूप को बहुत बदल देती थीं। केंद्रीय सत्ता में परिवर्तन होने पर भी ये स्वायत्त संस्थाएँ अपना अपना काम करती रहती थीं।

अध्याय ३

राज्य का स्वरूप, उद्देश्य और कार्य

पिछले अध्याय में राज्य की उत्पत्ति पर विचार और तद्विषयक सिद्धांतों का निरूपण किया गया है। अब हमें देखना है कि प्राचीन भारत में राज्य का स्वरूप, उद्देश्य और कार्य के विषय में क्या विचार थे।

राज्य की उत्पत्ति के बारे में विवेचन करते हुए हमने पहले ही कहा है कि प्राचीन हिंदू लोग उसको जनहितसंवर्धक संस्था के रूप में देखते थे। राज्य के बिना जीवितसंरक्षण और पुरुषार्थसाधन हो ही नहीं सकता है ऐसी उनकी धारणा थी। अनन्यगतिक होने के कारण जान माल की रक्षा के लिए जनता को राज्य जैसी अवांछनीय और दमनकारी संस्था का सहारा लेना पड़ता है ऐसा उनका मत बिल्कुल नहीं था। हाँ, दुराचारी लोगों को राज्य शत्रु के समान जरूर प्रतीत होता है मगर इन समाजकंटकों के मत की किसी को परवाह ही नहीं करनी चाहिये।

समाजकंटकों के वजह से ही राज्य को आखिर में दंड का प्रयोग करना पड़ता है। यह वांछनीय है कि दंडप्रयोग के प्रसंग बहुत ही कम हों। यदि परमेश्वरप्रदत्त नीति नियमों का पालन करने की आदत लोगों को हो और दंड प्रयोग ही अनावश्यक हो तो वह सबसे अच्छा होगा। धर्मशास्त्रों के नियमों का पालन जैसे प्रजाद्वारा वैसे नृपद्वारा भी होना आवश्यक है। यदि कोई राजा उनको तोड़ दे तो प्रजा राजनिष्ठा का कर्तव्य-पालन करने में बाध्य न रहेगी, इतना ही नहीं यदि आवश्यक हो तब वह आततायी राजा का वध भी कर सकती है। आदर्श राज्य में राजा और प्रजा दोनों ही धर्म नियमों का पालन करते हैं जिससे उन दोनों का भी ऐहिक और पारलौकिक कल्याण साध्य होता है।

शासनसंस्था का क्रमशः विकास कैसे हो गया इसका विवेचन प्राचीन हिंदू ग्रंथों में नहीं मिलता है, उस जमाने में आधुनिक काल की ऐतिहासिक दृष्टि ही प्रायः अज्ञात थी। मगर वैदिक प्रमाणों के परामर्श से यह प्रतीत होता है कि उस जमाने में जनराज्यों (Tribal states) की प्रायः रूढ़ी थी। यदु, तुर्वसु, भरत आदि जिन जनों का उल्लेख अनेक बार वेदों में मिलता है उनका कोई निश्चित प्रदेश नहीं था। वे लोग भ्रमणशील थे अतः उनके राज्य भी उनके साथ बदला करते थे। पर उत्तर वैदिककाल में ये जन देश के विभिन्न भाग में

बस चुके थे[1] और उनके राजा जन के ही नहीं 'राष्ट्र' माने प्रदेश के भी स्वामी कहे जाने लगे थे।[2] मगर पर्याप्त सामग्री न होने से हम यह नहीं जान सकते कि जनराज्यों का क्रमिक विकास होकर प्रादेशिक राज्य कैसे बने। उधर वैदिक काल में सम्राट् का राज्यक्षेत्र ससागर पृथ्वी कहा गया है जिससे प्रादेशिक राज्यों के पूर्ण विकास का प्रमाण मिल जाता है।[3]

प्रादेशिक राज्य के कौन-कौन अंग होते हैं और उनका परस्पर संबंध किस प्रकार रहता है इन प्रश्नों पर अभी हमको विचार करना है। वैदिक वाङ्मय में इस विषय का उल्लेख भी नहीं मिलता है, किंतु जब ई. पू. चौथी सदी में राजनीतिक विचारों का विकास होने लगा तब से इस विषय की चर्चा मिलती है। कौटिल्य (६ १) और मनु (८ २८४७) दोनों का मत है कि राज्य एक सजीव एकात्मक शासन संस्था है, मनमानी चाल चलनेवाले, अपना ही मजा देखनेवाले, विभिन्न अंगों का ढीला ढाला जोड़ नहीं है। इनके मतानुसार स्वामी, अमात्य, भूप्रदेश, कर या साधन-सामग्री, दुर्ग, सेना और मित्र, राज्य के सात अंग हैं जिनको सप्त प्रकृतियाँ कहते हैं[4]। कामंदक शुक्र आदि परवर्ती लेखक सप्तांग परिभाषा को स्वयंसिद्ध मानते हैं और शिलालेखादि में वर्णित राज्य भी इन्हीं सप्त प्रकृतियों से युक्त पाये जाते हैं।[5]

आधुनिक मतानुसार भूप्रदेश, जनता और केन्द्रीय सरकार राज्य के आवश्यक अंग हैं। केन्द्रीय सरकार में प्रभुता और वैधानिक व्यक्तित्व अवश्य होना चाहिये। इन घटकों को यदि हम सप्तांगों से तुलना करें, तो यह दिखाई देगा कि स्वामी और अमात्य केन्द्रीय शासन के स्थान में हैं, उनमें राज्य का प्रभुत्व केंद्रित रहता था और वे राज्य को एक सूत्र में गूँथते थे। राष्ट्र (भूप्रदेश) दुर्ग, सेना और कोष राज्य के शासन सामग्री थे। 'जन' राज्यों का जमाना कब का बीत चुका था,[6] इसलिए राष्ट्र या भूप्रदेश भी राज्य का

---

१ ऐ. ब्रा., ८ ३ १४ २ तै स, २ ३ ३ ३ ३ श. ब्रा., ७ ३ १९

४ इन सप्त प्रकृतियों में से स्वामी, अमात्य, रत्नी या दण्डाधिकारी पुर और बलि आदियों का उल्लेख वेदों में भी है परन्तु उनके परस्पर और राज्य के प्रति संबंध की व्याख्या वहाँ नहीं है।

५ ए क भा ५, चन्द्रपट्टण, ल १४८, इ स ११८३

६ इसके उपर काल में भी कभी कभी मालव येय गणराज्य का स्थलांतर दिखाई देता है, यह ३२५ ई पू में मुलतान के पास, २२५ ई पू में अजमेर उदयपुर भाग में और १०० ई० में मालवा में था। मगर उनका

आवश्यक अंग माना जाने लगा। दुर्ग[1] और सेना भी राज्य की सुरक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक थे अतः ये भी उसके स्वाभाविक अंग हो गये। देश की रक्षा और राज्य की अनिवार्य तथा ऐच्छिक कार्यवाही के लिए शक्ति या संपत्ति की अत्यंत आवश्यकता है इसलिए कोष भी राज्य के लिए आवश्यक माना गया। राज्यांगों में मित्रों की गणना कुछ विलक्षण सी लगती है परंतु आज के इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि उपयुक्त मित्रों की सहायता पर ही राज्य का अस्तित्व निर्भर है। इस महादेश में प्राचीन काल में बहुत से छोटे छोटे राज्य थे उनमें से हरेक की सुरक्षा तभी संभव थी जब देश में शक्ति-समता (Balance of power) रहा हो, अर्थात् इन राज्यों में परस्पर ऐसा संबंध हो कि किसी राज्य का अपनी अपेक्षा किसी दुर्बल राज्य पर आक्रमण करने का साहस न हो। इसीलिए प्राचीन विचारकों ने 'मित्र' अर्थात् परस्पर संबंध को इतना अधिक महत्व दिया। जनता की गणना सप्तप्रकृतियों में नहीं दिखाई देती। इसका कारण *संभवत यह हो सकता है कि जनता और राज्य का स्वयंसिद्ध और अविच्छेद्य* संबंध था और उसके बारे में संदेह का अवकाश ही नहीं था।

प्राचीन भारतीय विचारक इन सात प्रकृतियों को राज्य शरीर के अंग मानते थे इनमें से कुछ अंग दूसरों की अपेक्षा अधिक महत्व के हो सकते हैं जैसे दुर्ग और मित्र के मुकाबले स्वामी और अमात्य हैं[2] परंतु अपने में कम महत्व का होते हुए भी प्रत्येक अंग राज्य-शरीर के लिए एक से अनिवार्य थे। क्योंकि एक अंग का अभाव दूसरा नहीं पूरा कर सकता[3] राज्य का अस्तित्व

(क्रमश)

स्थानांतर का कारण विदेशियों के आक्रमणजन्य परिस्थिति या [illegible] मानवों की भ्रमणशीलता।

१ बारूद, बड़ी तोपें और विमानों के अभाव के युग में एक दुर्ग अनेक हजार सेना का मुकाबला कर सकता था।

२ मानवी शरीर में भी कुछ अंग जैसे नेत्र या मस्तिष्क, दूसरे अंगों से जैसे हाथ या पाँव से अधिक महत्व के रहते हैं। राष्ट्रशरीर में भी कुछ अंगों को दूसरे अंगों से महत्व का माना जाना उसके एकशरीरत्व के खिलाफ नहीं है जैसा कि प्रो० असाटिया मानते हैं।

३ तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते।
येन यत्साध्यते कार्यं तस्मिंस्तच्छ्रेष्ठमुच्यते॥

मनु, ९ २९७

तभी कायम रह सकता है और उसका कार्य तभी ठीक चल सकता है जब उसके सब अंग एक से एक जुड़कर और एक विचार से काम करें[1]।

स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय विचारक राज्य को एक सजीव संहति मानते थे। अवश्य ही वे राजा (स्वामी) और शासन-व्यवस्था को इस शरीर के सबसे श्रेष्ठ अंग मानते थे पर कम महत्त्व के होते हुए भी अन्य अंग राज्य शरीर के लिए उतने ही आवश्यक थे। इसके साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि राज्य शरीर और प्राकृतिक शरीर की समता पूरी पूरी नहीं हो सकती। शरीर के विभिन्न पिण्ड और अवयव अलग से नहीं जीवित रह सकते। पर राज्य के कुछ अंग—जैसे दुर्ग और कोष, अलग भी रह सकते हैं, और इनकी सहायता से नये राज्य की रचना भी की जा सकती है।

हमारे ग्रंथकारों ने उपर्युक्त सप्त प्रकृतियों और उनके गुणों का विवेचन बड़े विस्तार से किया है। दुर्ग और बल पर हम अधिक चर्चा न करेंगे क्योंकि विधान की दृष्टि से इनका अधिक महत्त्व नहीं है। स्वामी, अमात्य, कोष और मित्र पर आगे अध्याय ५, ७, १२, और १३ में विचार किया जायगा। भूमदेश के विषय में राज्यशास्त्रज्ञों का कथन है कि राज्य की समृद्धि उसके भूमदेश के प्राकृतिक साधनों और उसकी सुरक्षा की सुविधाओं पर बहुत निर्भर है। पर इससे अधिक आवश्यक यह है कि देश के निवासी साहसी और परिश्रमी हों क्योंकि राज्य का भवितव्य सबसे अधिक उसके निवासियों के चरित्रबल, उत्साह और कार्यक्षमता पर ही निर्भर है। आदर्श राज्य विस्तार में कितना बड़ा होना चाहिये इस पर हमारे शास्त्रकारों ने अधिक विचार नहीं किया है। वे तो आसेतु हिमाचल प्रदेश को सम्राट का अधिकार क्षेत्र मानते हैं। प्राचीन भारत के अधिकांश छोटे छोटे राज्यों को अलग करनेवाली प्राकृतिक सीमाएँ न थीं। ये न तो इतने बड़े होते थे कि उनकी ठीक ठाक शासन-व्यवस्था न हो सके, न इतने छोटे ही होते थे कि उन्हें आवश्यक साधनों के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़े।

---

1 परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते । कामन्दक ४।१
स्वाम्यमात्यराष्ट्रदुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः ।
अरिवर्जाः प्रकृतयः सप्तैताः स्वगुणोदयाः ।
उक्ताः प्रत्यङ्गभूतास्ताः प्रकृता राजसम्पदः ॥
अर्थशास्त्र ६।१ ।

आदर्श राज्य में क्या एक ही वंश, धर्म और भाषा के लोग होने चाहिये या इनमें भेद रहते हुए भी लोगों का एक राज्य बन सकता है इस प्रश्न पर गत दो सदियों में बहुत चर्चा हो चुकी है। पर प्राचीन भारतीय विचारकों ने इस राज्य (State) बनाम राष्ट्रीयता (Nationality) के प्रश्न का विचार भी नहीं किया है। प्राचीन भारत में यह प्रश्न था भी नहीं। देश पर यूनानी (ग्रीक), शक, पह्लव कुषाण और हूण आदि अनेक विदेशी जातियों ने आक्रमण किया और वे राज्य-संस्थापक, और शासक रूप में यहाँ रह भी गये, परंतु वे अधिक दिन तक भाषा, धर्म और संस्कृति से भिन्न विदेशियों के रूप में न रह सके। एक दो पीढ़ियों के अंदर ही वे पूर्णरूपेण भारतीय बन जाते थे और हिंदू या बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेते थे। भारत के राज्यों को भी उनसे कोई खतरा न था। इन पर पूरा विश्वास किया जाता था और इन्हें ऊँचे पदों पर नियुक्त किया जाता था[1]। वे भी किसी भारतबाह्य राज्यको आत्मीयता से न देखते थे या उस पर राजनिष्ठा न रखते थे।

प्रजा में धर्म, जाति और भाषा की एकता से राज्य में भी एकरूपता आ जाती है। पर प्राचीन शास्त्रकारोंने इसे अधिक महत्व न दिया, न देने की जरूरत ही थी। प्राचीन भारत के अधिकांश राज्य एक दूसरे से जाति, भाषा या धर्म में विभिन्न न थे। सभी राज्यों में हिंदू, बौद्ध, जैन आदि शांति और मेल-जोल से रहते थे। संस्कृत सार्वदेशिक भाषा थी और प्राकृतों में इतना अंतर न हो पाया था कि वे एक दूसरे से एकदम अलग और दुर्बोध हो जातीं। भारत में आकर सभी विदेशी बहुत जल्दी भारतीय बन जाते थे और हिंदू समाज में घुल मिल जाते थे। अस्तु प्राचीन भारत के विभिन्न राज्यों में धर्म, जाति या भाषा का कोई भेद भाव न था। व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा, शासन सुविधा या भौगोलिक परिस्थिति से ही अनेक अलग अलग राज्य स्थापित होते थे। अतः भारतीय विचारकों ने राज्य की प्रजा में धर्म, भाषा और जातिकी एकता पर जोर देने की आवश्यकता न समझी।

1 अशोक ने अपने साम्राज्य के सीमांत प्रदेश काठियावाड़ का शासक तुषास्प नामक यवन ग्रीक को बनाया था यद्यपि उस समय ईरान और बाक्ट्रिया में यवन राज्य स्थापित थे। १५० ई० में शक राजा रुद्रदामा ने सुविशाख पह्लव को इसी प्रांत का शासक नियुक्त किया था, यद्यपि उस समय ईरान में पह्लवों का राज्य था।

राज्य के उद्देश्य।

वेदों में प्रत्यक्षरूपेण राज्य के उद्देश्यों या लक्ष्यों पर विचार नहीं किया गया है, पर स्फुट उल्लेखों से पता चलता है कि शांति, सुव्यवस्था, सुरक्षा और न्याय ही राज्य के मूल उद्देश्य समझे जाते थे। राजा को वरुण के समान धृतव्रत, नियम और व्यवस्था का रक्षक, साधुओं का प्रतिपालक, दुष्टों को दंड देनेवाला होना चाहिये। धर्म का संवर्धन, सदाचार का प्रोत्साहन और ज्ञान का संरक्षण प्रत्येक राज्य में अच्छी तरह से होना चाहिये[१]। प्रजा की नैतिक उन्नति के साथ ही भौतिक उन्नति करना भी शासन संस्था का काम था। वेद कालीन परीक्षित के राज्य में दूध और मधु की धार बहती थी। वैदिक काल से ६०० ई० पूर्व तक प्रजा का सर्वांगीण कल्याण ही राज्य का मुख्य लक्ष्य माना जाता था।

इसके पश्चात् जब राजशास्त्र पर ग्रंथ लिखे जाने लगे तब उनमें राज्य का लक्ष्य धर्म, अर्थ और काम का संवर्धन कहा गया। धर्म संवर्धन का अर्थ किसी सम्प्रदाय या मत विशेष का पक्षपात नहीं वरन सदाचार और सुनीति के प्रोत्साहन से जनता में सच्ची धार्मिक भावना और सदाचरण की प्रवृत्ति का संचार करना है। इस लक्ष्य को साध्य करने के लिए राज्य द्वारा धर्मों और मतों को सहायता देना, गरीबों के लिए चिकित्सालय और अन्नसत्र खोलना और ज्ञान विज्ञान को प्रोत्साहन देना, आवश्यक माना जाता है। 'अर्थ संवर्धन' का मुख्य साधन कृषि, उद्योग और वाणिज्य की प्रगति, राष्ट्रीय साधनों का विकास, कृषि विस्तार के लिए सिंचाई, बाँध और नहरों का प्रबंध, और खानों का खनन था। 'काम संवर्धन' का साधन था—शांति और सुव्यवस्था स्थापित करके प्रत्येक नागरिक को बिना विघ्न बाधा के योग्य जीवन-सुख भोगने का अवसर देना, तथा संगीत नृत्य, चित्रकला, स्थापत्य, और वास्तु आदि ललितकलाओं के पोषण से देश में सुरुचि और सुसंस्कृति का प्रचार करना।

इस प्रकार शांति, सुव्यवस्था की स्थापना और जनता का सर्वांगीण नैतिक, सांस्कृतिक और भौतिक विकास ही राज्य का उद्देश्य माना जाता था।

राज्य के उद्देश्यों में 'धर्म संवर्धन' के होने से उसके स्वरूप के बारे में कुछ गलतफहमी उत्पन्न हो गयी है। स्मृतिकारों ने राजा को बारम्बार वर्णाश्रम का प्रतिपालक कह कर इस भ्रांति को और भी पुष्ट कर दिया है। कहा जाता है

१ न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः। छा० उ०, ५।११।५

कि वर्ण धर्म या जाति प्रथा अन्याय के आधार पर अधिष्ठित है, इसमें ब्राह्मण को तो 'भूदेव' बनाकर आसमान में चढ़ा दिया गया है और शूद्र और चांडाल को नागरिकता के मौलिक अधिकारों से भी वंचित करके दासता की शृंखला में जकड़ दिया गया है। शूद्रों को संपत्ति रखने का अधिकार नहीं था, एक ही अपराध के लिए ब्राह्मणों की अपेक्षा वे अधिक कठोर दंड के भागी होते थे। चांडाल कुत्तों से भी बदतर समझे जाते थे। अब राज्य ने वर्णधर्म का प्रतिपालक बनकर अपने को इन सब अन्यायों का प्रतिपालक और समर्थक बनाया था। उसका काम तलवार के जोर पर निम्न वर्गों को इस अन्यायकारी वर्णाश्रम धर्म की शृंखला में जकड़े रहना था। इस प्रथा का आधार सामाजिक विषमता थी और इसमें धर्म को प्रचलित अन्यायकारी प्रथा का पर्याय बना दिया गया था। अस्तु स्थिति को आदर्श की ओर चलने के बजाय इसमें प्रचलित स्थिति ही आदर्श मान ली गयी थी।

हिंदू समाज व्यवस्था के विकास-क्रम को ठीक ठीक न समझने के कारण ही उपयुक्त भ्रांति फैली है। प्राचीन भारत में प्रचलित परिपाटी और रीति रिवाज में परिवर्तन नये कानून बनाकर या पुराने रद्द करके नहीं किया जाता था। समाज का मत बदलने से ही प्रथाएँ धीरे धीरे बदलती थीं। राज्य तो केवल समाज के मत की हामी भर देता था। प्रारंभिक काल में जब समाज अंतर्जातीय खान-पान और विवाह का समर्थन करता था तब राज्य को भी उसमें आपत्ति न थी। जब बाद में समाज इन प्रथाओं के विरुद्ध हो गया तब राज्य ने भी इन्हें कायम रखने का प्रयत्न न किया। प्रारंभ में विधवा को संपत्ति का उत्तराधिकार न था, अतः विधवा की संपत्ति पतिनिधन के पश्चात् राज्य ले लेता था। बाद में विधवा को भी समाज ने संपत्ति का उत्तराधिकार देना उचित समझा, तब राज्य ने आर्थिक हानि होने पर भी इसे स्वीकार किया। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होगा कि राज्य के धर्म प्रतिपालक होने से प्रचलित रूढ़ियों को ही आदर्श मानने की वृत्ति कुछ बढ़ी नहीं थी। हिंदू समाज व्यवस्था का प्रत्येक निरीक्षक मानता है कि हिंदू समाज में बराबर परिवर्तन होते रहे। पहले नियोग का चलन था, बाद में इसे समूल नष्ट कर दिया गया। विधवाओं और शूद्रों को संपत्ति का अधिकार देने में पूर्वकालीन स्मृतियों का विरोध होते हुए भी उनके अधिकार बराबर विस्तृत होते गये।

पर यह ठीक नहीं कि हिंदू समाज में कुछ कुरीतियों के अस्तित्व का कारण राज्य द्वारा धर्म का संरक्षण था। राज्य वर्णधर्म का पालक था पर उसने धर्मशास्त्र के इस दावे को कभी स्वीकार नहीं किया कि ब्राह्मण कर दान और

प्राय दंड से बरी किये जायँ। वेद पढ़ने के कारण शूद्र या ब्राह्मण-स्त्रियों को दंड मिलने की घटनाएँ भी प्राचीन भारत में बहुत कम मिलेंगी। वेदाध्ययन के प्रतिबंध को समाज, जिसमें शूद्र भी शामिल थे, न्यायसंगत समझता था और इसे तोड़ने में कोई आर्थिक लाभ भी न था, इसलिए स्त्री शूद्र वेदाधिकार प्राप्त करने के लिए कुछ विशेष उत्सुक नहीं थे। अतः इस प्रतिबंध का उल्लंघन करने की किसी को जरूरत भी न थी। ब्राह्मणों में भी वेद पढ़ने वालों की संख्या बहुत थोड़ी थी, और शूद्र वर्ग के धार्मिक प्रवृत्ति वाले पुरुषों को पुराण, इतिहास, और गीता पढ़ने का अधिकार देकर उनकी ज्ञानेच्छा और धर्मपिपासा तृप्त करने की व्यवस्था की गयी थी।

इसमें संदेह नहीं कि हिंदू समाज में अन्यायकारी कुरीतियाँ थीं और ईसा की प्रथम सहस्राब्दी में इनकी संख्या में वृद्धि भी हुई। इसका कारण तत्कालीन हिंदू समाज की अनुदार और संकुचित वृत्ति थी न कि 'धर्म संवर्धन' राज्य का उद्देश्य होना। कहा जा सकता था कि राज्य का ध्येय इस संकुचित वृत्ति को दूर करना और उदारनीति को लोकप्रिय बनाना था। परंतु ध्यान रहे कि प्राचीन काल में व्यवस्थापन या कानून बनाना साधारणतः राज्य के कार्य-क्षेत्र में शामिल नहीं था। वर्तमानकाल में शारदा ऐक्ट के उदाहरण से भी स्पष्ट हो जाता है कि समाज के प्रचलित विचारों से बहुत आगे बढ़ा हुआ कानून भी सफल नहीं होता। फिर प्राचीन भारत के राज्यों पर जाति के नियमों को कार्यान्वित करने का भार न था, यह काम तो प्रायः बिरादरी या गाँव की पंचायत का था जिनमें राज्य को या राज्याधिकारियों को कुछ विशेष स्थान नहीं था। लोकमत के अनुसार ही वहाँ निर्णय किया जाता था। सदाचार और धार्मिकता को प्रोत्साहन देकर, सब मतों और धार्मिक संस्थाओं को समान सहायता देकर, सब जनों के हितार्थ तालाब, कुएँ, नहर, चिकित्सालय और अनाथालय बनवाकर राज्य धर्म-संवर्धन करता था। वह कभी मतविशेष या रूढ़िविशेष का पक्षपाती नहीं होता था, न पुरोहितों अथवा धर्म प्रचारकों के हाथ की कठपुतली बनता था।

क्या प्राचीन भारतीय राज्य धर्मनिगडित था?

अच्छा हो यदि हम अभी इस बात पर भी विचार करलें कि प्राचीन भारत के राज्य कहाँ तक धर्म गुरुओं अथवा पुरोहितों के प्रभाव में थे, कहाँ तक ऐसे राज्यों को धर्मनिगडित (Theocratic) कहना ठीक होगा। धर्म-निगडित राज्य में धर्मगुरु ही राज्य का स्वामी होता है, जैसे इस्लामी इतिहास में

खलीफा थे और आजकल भी वैटिकन राज्य में पोप हैं। धर्म निगडित राज्य में राजा धर्मगुरुओं का आज्ञाबद्ध नौकर होता है, राजा सम्प्रदाय का अनुचर भी हो सकता है जैसा ८ वीं और ९ वीं शताब्दी में यूरोप के इसाई राजा हुआ करते थे। इस काल में पोप और बिशप, धर्म के विरुद्ध जाने पर राजा को दंड तक देने का दावा रखते थे। चार्ल्स दि बोल्ड जैसे कुछ राजा धर्म गुरुओं के केवल अधर्माचरण का ही नहीं वरन् सरकार के किसी भी काम को रोक सकने का अधिकार भी स्वीकार करते थे। पोप का आदेश सम्राट् के आदेशों से भी बढ़कर समझा जाता था क्योंकि उसका प्रभाव केवल शरीर पर ही नहीं वरन् आत्मा पर भी था। फिर भी अधिकांश रोमन सम्राट् पोप के इस गर्व को मानने को तैयार न थे और मध्यकालीन यूरोपीय इतिहास में सरकार और सम्प्रदाय के द्वंद्व के उदाहरण भरे पड़े हैं।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में भी राज्य और सम्प्रदाय के संघर्ष की हल्की सी ध्वनि सुनाई पड़ती है। गौतम धर्म सूत्र (२०० ई० पू०) में कहा गया है कि राजा का शासन ब्राह्मण-वर्ग पर नहीं चल सकता[1] और ब्राह्मण वर्ग ... सहायता के बिना राजा का अभ्युदय नहीं हो सकता। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि[2] यदि राजा योग्य ब्राह्मण पुरोहित की सहायता नहीं लेता तो देवता उसके हवन को स्वीकार नहीं करेंगे। राज्याभिषेक के समय राजा तीन बार ब्राह्मण को नमस्कार करता है और इस प्रकार उसका वशवर्ती होना स्वीकार करता है। जब तक वह ऐसा करता है तब तक ही उसकी समृद्धि होती है।[3] वैश्यों और क्षत्रियों द्वारा ब्राह्मणों का वशवर्तित्व स्वीकार करवाने के लिए विशेष धार्मिक क्रियाओं का विधान किया गया[4]। ऋग्वेद में एक स्थल पर स्पष्ट वर्णन है कि जो राजा अपने पुरोहित का यथोचित सम्मान करता है वह अपने शत्रुओं पर जय और प्रजा की राजनिष्ठा प्राप्त करता है।[5]

---

१ राजा वै सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्। १ ११

२ न वै अपुरोहितस्य देवा बलिमश्नुवन्ति। ऐ ब्रा, ७ ५ २४

३ स (नृप) यच्चमो ब्रह्मणे इति त्रिष्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाह। ऐ ब्रा, ८ १
यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं वीरवदाह। ऐ ब्रा, ८ ६

४ ब्रह्मण एव च विशं चानुगे करोति। श ब्रा, ११ ११ १

५ स इद्राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थौ अभि वीर्येण।
तस्मिन्विशः स्वयमेवानमन्त यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति॥ ऋ वे, ४ ५० ७ ८

यूरोप में पोप का यह दावा था कि सामंतों द्वारा सम्राट् के चुनाव पर उसकी स्वीकृति होनी चाहिये। पता नहीं प्राचीन भारत में इस प्रकार का दावा किया गया या नहीं।

उपर्युक्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण काल के अंत तक (१००० ई० पू०) ब्राह्मण पुरोहित राजा पर और उसके द्वारा राज्य पर अपना प्रभाव जमाने की चेष्टा करते रहे। इसमें आश्चर्य नहीं कि बहुत से राजा इसके विरुद्ध रहे होंगे। ब्राह्मणों की गायें छीनने वाले राजा के लिए जो भयानक शाप उच्चरित किये गये हैं उनके लक्ष्य संभवतः ऐसे ही राजा रहे होंगे[1] जो धर्म गुरुओं के राज्य पर अधिकार जमाने की चेष्टा का विरोध कर रहे थे। दुर्भाग्यवश इस प्रकार का कोई वैयक्तिक उदाहरण नहीं मिलता, जैसा मध्य यूरोप के इतिहास में मिलता है।

आगे चलकर सरकार और संप्रदाय, अथवा क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ग में समझौता हो गया। वे समझ गये कि आपस के सहयोग में ही दोनों वर्गों का हित है। दोनों ने एक दूसरे की देवताशता स्वीकार कर ली। यूरोप के इतिहास में भी इसी प्रकार पोप ग्रेगरी सप्तम ने मान लिया था कि पोप और सम्राट दोनों ईश्वरकृत हैं, उनमें वही संबंध है जो मनुष्य के दोनों नेत्रों में है।

ब्राह्मणकृत वाङ्मय में साधारणतः यही दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि राजा और राज्यतंत्र ब्राह्मण और धर्मतंत्र के ही वश में चलते थे। पुरोहित अपने अनुष्ठानों द्वारा राजा और राज्य का इष्ट या अनिष्ट कर सकता था। राज्य का लक्ष्य धर्म की रक्षा करना था, वह जो कानून व्यवहार में लाता था वे ईश्वरकृत या ईश्वरप्रेरित माने जाते थे। ब्राह्मण और पुरोहित अपने को सरकार से वरिष्ठ समझते थे और वे कर-दान और शारीरिक दंड से बरी होने का दावा भी करते थे। उनके लिए अन्य वर्गों से नरम दंडों का विधान था।

उपर्युक्त कारणों से यह कहा जा सकता है कि कुछ हद तक प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र धर्मनियंत्रित था। परन्तु हमें इस हद को समझ लेना चाहिये और देखना चाहिये कि यह अवस्था कितने समय तक रही। ब्राह्मणों के उपर्युक्त दावे में बहुत कुछ अतिशयोक्ति भी थी। वस्तुस्थिति सर्वदा ऐसी नहीं थी जैसी पुराने ग्रंथों में मिश्रित है। इसमें संदेह नहीं कि वेद और ब्राह्मण युग में राजा पर पुरोहित का पर्याप्त प्रभाव था। परन्तु हमें इसको भी

१ अ वे, १२ ५ १२ ३ १-२५

नहीं भूलना चाहिए कि जैसे एक ओर ब्राह्मणग्रंथों में ऐसे स्थल हैं जिनसे ब्राह्मणवर्ग के उच्च पद और विशेषाधिकार का बोध होता है तो वैसे ही दूसरी ओर ऐसे भी स्थल हैं जिनसे स्थिति कुछ बिल्कुल विरुद्ध सी मालूम पड़ती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक स्थल पर मंजूर किया गया है कि राजा जो चाहता है ब्राह्मणों को वही करना पड़ता है[1] ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि राजा जब चाहे ब्राह्मण को निकाल सकता है।[2] बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि समाज में सबसे ऊँचा पद क्षत्रिय याने राजा का ही है ब्राह्मण उसके नीचे बैठता है।[3] राजकुमारी शर्मिष्ठा पुरोहित कन्या देवयानी को बड़प्पन जमाने पर इस प्रकार फटकारती है, "बहुत शान न जमाओ, तुम्हारे पिता मेरे पिता के नीचे बैठकर रात-दिन उनकी खुशामद किया करते हैं। तुम्हारे पिताका काम माँगना है और विनती करना है, मेरे पिता का काम देना और विनती सुनना है।"

अत यह समझना भी ठीक न होगा कि वैदिक काल में भी राज्य की बागडोर पूर्णतया या विशेष रूप में पुरोहित अथवा धर्मतन्त्र के हाथ रही। पुरोहित का समाज में सम्मान किया जाता था और याजनादि द्वारा उससे जो दैवी सहायता मिलती थी उसके लिए समाज उसका कृतज्ञ रहता था। परन्तु राजा उसके हाथ की कठपुतली कदापि नहीं था और उसके सिर चढ़ने पर उसका मिजाज ठिकाने कर सकता था और उसको निकाल भी सकता था। ब्राह्मण अवश्य ही बहुत से विशेषाधिकारों का दावा करते थे, जैसे कर और शारीरिक दण्ड से छुटकारा। पर अध्याय १२वें में दिखाया जायगा कि इनका अस्तित्व प्राय धर्मशास्त्रों में ही था प्रत्यक्ष व्यवहार में नहीं। कालक्रम में राजा का देवतांशत्व समाजसम्मत हो गया। मगर इसका अर्थ यह नहीं कि उसे ईश्वर का एकमात्र प्रतिनिधि और सब दोषों से परे मान लिया गया। नियम व्यवस्था अपनी प्राचीनता के कारण दैवी मानी जाती थी पर उसका आधार वास्तव में

---

१ यदा वै राजा कामयतेऽथ ब्राह्मणं जिनाति । ३ ९ १४ ।

२ (ब्राह्मण) आदायी आप्यायी अवसायी यथाकामप्रयाप्यः । ७ २९ ।

३ तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते । १ ४ १० ।

४ आसीनं च शयानं च पिता ते पितरं मम ।
स्तौति वन्दीव चाभीक्ष्णं नीचैः स्थित्वा विनीतवत् ॥
याचतस्त्वं हि दुहिता स्तुवतः प्रतिगृह्णतः ।
सुताहं स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ॥ १०२, ९–१० ।

समाज की परिपाटी और प्रथाएँ ही थीं। उन्हें स्वीकार कर लेने से ही शासन सत्ता पुरोहित अथवा धर्मतंत्र का कठपुतला नहीं बन जाती थी। शासनसत्ता वास्तव में प्रधानतया समाज के मत का प्रतिबिंब थी।

ई० पूर्व ४थी शताब्दी से तो राज्य पर धर्मतंत्र का प्रभाव उत्तरोत्तर कम होता गया। वैदिक कर्मों की प्रतिष्ठा कम हो गयी और उनका प्रचार भी कम हो गया, इससे पुरोहित का महत्त्व भी कम हो गया। राजनीति ने स्वतंत्र शास्त्र का रूप ग्रहण किया और वेद तथा उपनिषदों के अध्ययन के बजाय राजा इसका आवश्यक अध्ययन करने लगा। राजाज्ञा या विधि-नियम (कानून) धर्म और रूढ़ि नियमों से स्वतंत्र माना जाने लगा और राज्यशास्त्र उसका महत्व सर्वश्रेष्ठ मानने लगे।[1] इस प्रकार हिंदू राज्यतंत्र ईसवी सन् के आरंभ तक धर्मतंत्र के प्रभाव से करीब-करीब मुक्त हो गया। राजा धर्म का प्रतिपालक और संरक्षक अवश्य था पर इससे राज्य धर्मनियंत्रित नहीं बन गया। उसका काम सब मतों को बराबर समझना और सभी धार्मिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना था। वह किसी विशिष्ट मत का प्रचारक नहीं था न धर्मगुरुओं की कठपुतली बना था।

राज्य के कार्य

राज्य या शासनसत्ता का स्वरूप और उद्देश्यों के निरूपण के बाद अब हमें उसके कार्यों पर विचार करना है।

अर्वाचीन लेखक राज्य के कार्यों को दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं— आवश्यक और ऐच्छिक या लोकहितकारी। पहली श्रेणी में वे सभी कार्य आते हैं जो समाज के संघटन के लिए नितांत आवश्यक हैं। बाहरी शत्रु के आक्रमण से रक्षा, प्रजा के जान माल का संरक्षण, शांति सुव्यवस्था और न्याय का प्रबंध। दूसरी श्रेणी में लोक हित के विविध कार्यों का अंतर्भाव होता है—जैसे शिक्षा दान, स्वास्थ्य रक्षा, व्यवसाय, डाक और यातायात का प्रबंध, जंगल और खानों का विकास, दीन अनाथों की देख रेख आदि। प्रचलित युग में इन लोकहितकारी कार्यों के क्षेत्र का दिनोंदिन विस्तार ही होता जा रहा है।

१ धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः॥ अर्थशास्त्र ३ १।

२ धर्मशास्त्रविरोधे तु युक्तियुक्तो विधिः स्मृतः।
व्यवहारो हि बलवान्धर्मस्तेनावहीयते॥ नारद, १ ३१।

प्राप्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में राज्य केवल आवश्यक कार्यों से ही मतलब रखते थे। वैदिक काल में राज्य बाहरी शत्रु का प्रतिकार और आतंरिक व्यवस्था और समाज परंपरा की रक्षा करता था। देवलोक के राजा वरुण की भाँति इहलोक का राजा धर्मपति था,[१] वह धर्म और नीति का रक्षक था और प्रजा को धर्म पथ पर चलाने में प्रयत्नशील था। मगर वह न्याय-दान नहीं करता था। दीवानी और फौजदारी मामलों का निर्णय पंचायतें ही करती थीं सम्भवतः कभी कभी उनका अध्यक्ष कोई राज्याधिकारी होता था।

चौथी शताब्दी ई० पू० में राज्य शास्त्र के ग्रंथों की रचना होने लगी और राज्य के कार्यों के विषय में इनसे पर्याप्त जानकारी मिलती है। महाभारत[२] और अर्थ शास्त्र[३] से पता चलता है कि वैदिक काल और मौर्य युग के बीच में राज्य का कार्य क्षेत्र बहुत विस्तृत हो चुका था। परन्तु पर्याप्त सामग्री न मिलने से हम इस विकास का क्रम नहीं जान सकते।

अर्थशास्त्र और महाभारत के अनुसार राज्य के कार्य क्षेत्र में, मनुष्य जीवन के धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक सब क्रिया कलाप आ जाते हैं। यूरोपीय विचारकों की भाँति भारतीय राज्यशास्त्रज्ञ राज्य को 'अनिवार्य अरिष्ट' नहीं समझते थे और न उसके कार्यों को नागरिक जीवन में अनुचित हस्तक्षेप मानकर उसमें कमी करने की कोशिश करते थे। 'अहस्तक्षेप' (Laissez fare लेज़ फेयर) का सिद्धांत, जिसके अनुसार राज्य के केवल वही कार्य उचित समझे जाते हैं जो शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए अनिवार्य हों, भारत में नहीं माना जाता था। यहाँ तो राज्य के कार्य क्षेत्र में मनुष्य के इहलोक और परलोक सब आ जाते थे। राज्य का कर्तव्य था कि सभी धार्मिक मतों को अपने-अपने पथ पर चलने की पूरी सुविधा दे सत्य धर्म तथा सदाचार को पूरा प्रश्रय दे, समाज को उन्नति पथ पर ले चले, विद्वानों और कलाकारों को मदद दे तथा शिक्षा संस्थाओं की सहायता द्वारा ज्ञान विज्ञान और कला का संवर्धन करे, धर्मशाला, चिकित्सालय, पौसरे आदि बनवाये, बाढ़, टिड्डीदल, अकाल, भूकंप, महामारी आदि आधि व्याधि जन्य दुःखों को दूर करे। उसका काम नयी बस्तियाँ बसाना और देश के विभिन्न भागों में जन संख्या का यथोचित नियोजन करना भी था। देश की प्राकृतिक सम्पत्ति और साधनों के विकास के लिए जंगलों और खानों का विकास करना और वर्षा की कमी पूरी करने के

१ शा० प अ०, ९ ३ ३ ४ और ५

२ सभापर्व, अ० ५।   ३ भाग २।

लिए नहरें और बाँध बनवाना भी उसका काम था। राज्य का कर्तव्य उद्योग व्यवसाय को उत्तेजन देना भी था साथ ही व्यापारियों की अत्यधिक अनुचित लाभलिप्सा से जनता की रक्षा भी करना था। समाज में अनीति न फैलने देने के लिए आपान (मदिरालय), द्यूत-गृहों और गणिकाओं का देखरेख के लिए भी राज्य की ओर से अधिकारी नियुक्त किये जाते थे।

मौर्य और गुप्त राज्य जैसे सुसंगठित राज्य प्रायः उपरिनिर्दिष्ट सब कार्य करते भी थे। पर संभव है कि छोटे राज्य खासकर संकट कालमें ये सब कर्तव्य करने में असमर्थ रहे हों।

अस्तु, प्राचीन भारत में राज्य के कार्यक्षेत्र में मनुष्य जीवन के सब पहलू आ जाते थे। प्रश्न यह है कि क्या इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मारी नहीं जाती थी। राज्य का कार्य क्षेत्र इतना व्यापक क्या इसलिए हो सका कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना का उस समय तक समुचित विकास नहीं हो पाया था[1] अथवा इसलिए कि जनता राज्य को सर्वव्यापक और सर्वगुणसंपन्न मानने को तैयार थी।

प्राचीन भारत में राज्य समाज का धुरा और उसके कल्याण का मुख्य साधन समझा जाता था, इसीलिए उसका कार्यक्षेत्र इतना व्यापक था। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को इससे कुछ विशेष खतरा न था क्योंकि ये सब कार्य केवल राज्य के कर्मचारियों के ही द्वारा नहीं संपादित किये जाते थे। आपण (बाजार) व्यापार और धर्म के उच्चाधिकारी राज-कर्मचारी अवश्य थे पर वे श्रेणी और निगमों, विविध व्यवसायसंघ तथा ब्राह्मणों और श्रमणों के संघ के सहयोग से ही काम करते थे। इन संस्थाओं में जनमत ही प्रधान रहता था, और ये तत्कालीन राज्यों या राजघरानों से भी अधिक स्थायी थीं और इसीलिए इनकी बड़ी प्रतिष्ठा और धाक थी। राज-कर्मचारी इन संस्थाओं से पूरा परामर्श करके समाज के विविध घटक और श्रेणियों का सहयोग मिलाकर उनका सहकार्य बढ़ाने की ही कोशिश करते थे। राज्य से पाठशालाओं और महाविद्यालयों को प्रचुर सहायता मिलती थी, पर आजकल की भाँति शिक्षा विभाग के अध्यक्ष और उनके अनुचरों द्वारा शिक्षा प्रणाली के नियन्त्रण की कोशिश न की जाती थी। हिंदू मंदिरों और बौद्धमठों को राज्य से प्रचुर दान मिलता था पर उन्हें कभी राज्य द्वारा स्वीकृत मत का ही प्रचार करने को बाध्य नहीं किया जाता था। विकेंद्रीकरण अथवा स्थानीय स्वतन्त्रता के सिद्धांत पर बहुत अधिक

---

१ यह प्रो० घोषाल का मत है।

अमल किया जाता था और ग्राम पचायतों तथा पौर सभाओं और श्रेणी निगमों को विस्तृत अधिकार दिये गये थे। राज्य की लोकहितात्मक कारवाई इन लोकप्रिय संस्थाओं के सक्रिय सहयोग से ही होती थी। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर रोक भी न लगने पाती थी। प्राचीन भारतीयों ने राज्य को व्यापक अधिकार इसलिए नहीं दिये थे कि वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का महत्त्व न जानते थे वरन् इसलिए कि वे जानते थे कि राज्य ही विविध हितों का समन्वय तथा विभिन्न परस्पर विरोधी स्वार्थों का सामञ्जस्य करके समाज का सबसे अच्छा सम्पादन कर सकता है खास करके जब राजकर्मचारी जन संस्थाओं के पूरे सहयोग से काम करें।

अध्याय ४

राज्य और नागरिक

राज्य और प्रजा का परस्पर संबंध महत्व का विषय है। परंतु प्राचीनकाल ऍरिस्टॅटिल जैसे इनेगिने पाश्चात्य विचारकों ने इस पर विचार किया है। गत शताब्दियों में लोकतंत्र के विकास से इसका महत्व बढ़ गया है और आधुनिक लेखक इस पर बहुत ध्यान देते हैं कि सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के भिन्न क्षेत्रों में राज्य और प्रजा के परस्पर क्या अधिकार और कर्तव्य हैं, उनमें कोई विरोध है या नहीं और है तो उसका सामंजस्य किस प्रकार किया जाय।

प्राचीन भारतीय ग्रंथकारों ने शायद ही इसी समस्या पर ध्यान दिया हो। राजनीति शास्त्र के आधुनिक ग्रंथों में राज्य और प्रजा के परस्पर संबंध की चर्चा जब होती है तब उसमें दोनों के अधिकारों की ही सीमा निर्धारण करने का प्रयत्न किया जाता है, परंतु प्राचीन भारतीयों ने इस विषय का इस दृष्टि से विचार ही नहीं। वे प्रजा के अधिकारों के स्थान पर राज्य के कर्तव्यों का ही वर्णन करते हैं। इसीसे प्रजा के अधिकारों का अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार वे प्रजा के कर्तव्यों का निरूपण करते हैं। इसीसे अनुमान लगाया जा सकता है कि राज्य का प्रजा पर क्या अधिकार था। दोनों पक्षों के अधिकारों की दृष्टि से हमारे प्राचीन ग्रंथों में इस समस्या पर सुव्यवस्थित विचार नहीं किया गया, हमें उन अधिकारों का अनुमान ही परस्पर कर्तव्यों से करना पड़ेगा। अपरंच प्राचीन और अर्वाचीन यूरोपीय लेखक इस समस्या पर विशुद्ध लौकिक और वैधानिक दृष्टि से विचार करते हैं। वे प्रजा के नागरिक और राजनीतिक जीवन को उसके धार्मिक और नैतिक जीवन से अलग कर देते हैं, और अक्सर राज्य को उसके खिलाफ मान कर उसके विरोध में उसके अधिकारों का निरूपण करते हैं। इसके विपरीत प्राचीन भारतीय ग्रंथकार प्रजा के राजनीतिक कर्तव्य को उसके साधारण कर्तव्य (धर्म) का अंग मानते हैं। वे राज्य और प्रजा में कोई विरोध नहीं स्वीकार करते इसलिए दोनों के अधिकार और कर्तव्य की स्पष्ट सीमा निर्धारित करने की जरूरत नहीं समझते। राज्य का एकमात्र लक्ष्य ही प्रजा का इहलोक और परलोक में सब प्रकार से अभ्युदय साधना है। राज्य न हो तो मात्स्य-न्याय फैल जाय, अतः व्यक्ति के सुख

और अभ्युदय के लिए राज्य का होना जरूरी है और यही राज्य का मुख्य उद्देश्य है। हमारे प्राचीन विचारकों ने इस पर अधिक नहीं सोचा कि यदि राज्य और प्रजा अपने अपने कर्त्तव्यों का पालन न करें तो क्या करना चाहिए। उन्हें भरोसा था कि दोनों पक्ष अपने अपने धर्म व कर्तव्यों का पालन करेंगे।

एथेंस, स्पार्टा, रोम इत्यादि प्राचीन यूरोपीय राज्यों में सब प्रजा एक ही आँख से नहीं देखी जाती थी। जिन लोगों को शासन में सक्रिय सहयोग देने और राज्य के नियम विधान आदि बनाने का अधिकार था वे ही नागरिक पद के अधिकारी होते थे। मगर वे संख्या में बहुत कम रहते थे, बहुसंख्य प्रजा को नागरिक और राजनीतिक अधिकार नहीं थे, उसका दर्जा करीब करीब दासों के बराबर था। परदेशियों का एक वर्ग ही अलग था। उन पर हीनतादर्शक प्रतिबंध तो न थे, परन्तु वे देश के राज्यशासन और वैधानिक जीवन में भाग लेने के अधिकारी न थे।

प्राचीन भारत के विधान शास्त्रकों ने देश के निवासियों में विशेषाधिकारी और सामान्य नागरिक ऐसा भेदभाव नहीं किया है। हमें वैदिककाल के राजनीतिक जीवन के बारे में विशेष कुछ ज्ञान नहीं है। उस काल में 'समिति' जैसी जन संस्थाएं राजा के अधिकारों और कार्य व्यवसाय पर बहुत अंकुश रखती थीं जैसा कि आगे चौथे अध्याय में दिखाया जायगा। बहुत संभव है कि सब लोगों को समिति के सदस्य चुनने का अधिकार न रहा हो। यह अधिकार थोड़े ही लोगों को रहा हो, और प्राचीन यूनान के पूर्णाधिकारी नागरिक या आजकल के साहूकार या जमीनदारों की उच्चश्रेणी के समान इनका भी एक वर्ग रहा हो। प्राचीन गणतंत्रों में भी एक विशेषाधिकार भाजन उच्चवर्ग रहता था जिसके हाथ में राजनीतिक सत्ता रहती थी। पर पर्याप्त सामग्री के अभाव से न तो हम इस वर्ग के विशेषाधिकारों को बता सकते हैं और न उसके राज्य तथा साधारण जनता के संबंध के बारे में कुछ विवरण दे सकते हैं।

परन्तु जब हम ५०० ई० पू० के लगभग ऐतिहासिक युग पर दृष्टिपात करते हैं तो 'समितियों' को गायब पाते हैं। अत हमारे विधान शास्त्रियों ने प्रजा व समितिनिर्वाचक नागरिक और शेष अनागरिक भेद नहीं किया है। इस युग में ग्राम, जिला और नगर पंचायतों का खूब विकास हो चुका था, और उनके सदस्यों का भी उल्लेख बारबार मिलता है। इनमें जनता की ही बात चलती थी। किंतु इन संस्थाओं के सदस्यों का आजकल की भाँति जनता के मतों द्वारा चुनाव नहीं होता था, बल्कि अनुभवी प्रतिष्ठित और वयोवृद्ध व्यक्ति मूक सब

समिति से सदस्य बनाये जाते थे। दक्षिण भारत में ग्राम पंचायत के सदस्यों का 'चुनाव' सच्चरित्र विद्वान और प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से हो चिट्ठी उठाकर होता था। पंचायत के अतिरिक्त गाववालों की साधारण सभा भी होती थी जिसे स्मृतियों में 'पूग' कहा गया है। इसमें गाँव के सभी प्रतिष्ठित लोग रहते थे जिनको महत्तर महाजन, या 'पेरुमाल' कहते थे। यह पूर्णतया लोकतंत्रात्मक संस्था होती थी[1], और इसमें सभी जातियों और वृत्तियों का, अन्त्यजों तक का भी,[1] समावेश होता था। अतएव स्थानीय शासन के क्षेत्र में भी प्रजा के अधिकारोंमें कोई अंतर न रहने के कारण हमारे विधान शास्त्रियों ने प्रजा का विशेषाधिकारी वर्ग और सामान्य वर्ग जैसा भेदमूलक वर्गीकरण नहीं किया है।

राज्य के नागरिकों और परदेशियों में भेदभाव प्राचीन काल में सर्वत्र किया जाता था और आजकल तो बहुत किया जाता है, परन्तु हिन्दू ग्रंथकारों ने यह भेद भी नहीं किया है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस महाद्वीप के विभिन्न भागों में एक व्यापक सांस्कृतिक एकता वर्तमान थी, इसलिए एक प्रांत का निवासी दूसरे प्रांत के निवासी को—जैसे लाट (गुजराती) गौड़ (बंगाली) को,अथवा कर्नाटकी कश्मीरी को—परदेशी नहीं समझता था। प्रांतीय विभिन्नताओं का विकास धीरे धीरे हो रहा था, पर वे इतनी प्रबल न हो पाया थीं कि देश के विभिन्न भागों में स्थापित स्वतंत्र राज्य पड़ोसी राज्य के निवासियों को परदेशी मान कर उन पर रोकटोक लगाते। गुजरात के राजा महाराष्ट्र के ब्राह्मणों को दान देते थे, कश्मीरी पंडित कर्नाटक में राजकवि बन सकते थे, और दाक्षिणात्य सैनिक उत्तर हिंदुस्थान के राजाओं की सेना में भर्ती होते थे। यह सब इसीलिए संभव था कि राजनीतिक दृष्टि से अनेक स्वतंत्र राज्यों में विभाजित होने पर भी देश में सांस्कृतिक एकता की भावना थी।

परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि विदेशियों पर भी इस प्रकार के प्रतिबंध न थे। अशोक के राज्य में एक यवन काठियावाड़ जैसे एक प्रमुख सीमांत प्रदेश का शासक था, शक नरेश रुद्रदामा (१७० ई०) के राज्य में सुविशाख एक पह्लव भी एक प्रांत का शासक था और यशोवर्मा (७२५ ई०) के राज्य में एक हूण शासन के उच्चपद पर था। पश्चिम भारत में राष्ट्रकूट राजाओं ने मुसलमानों को अपने राज्य में बसने और अपने कानूनों के व्यवहार के लिए अपने ही में से अधिकारी चुनने का अधिकार दिया था।

---

१ आगे ११वां अध्याय देखो।

विदेशियों को अलग वर्ग में न रखने का कारण हिंदू धर्म की उदार प्रकृति
और अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता के प्रभाव से विदेशियों को अपने समाज में
मिला लेने का विश्वास था। बाहर से आक्रमणकारी रूप में आनेवाले यवन,
शक कुषाण और हूण सब हिंदू समाज में घुलमिल गये, इसी से हमारे विधान
शास्त्रियों ने देशी विदेशी का भेद न किया।

विधान व्यवस्था बनानेवालों व्यवस्थापकों को चुनना नागरिकों का एक
प्रमुख अधिकार समझा जाता है। यह धारणा प्राचीन भारत में संभव न थी,
क्योंकि धार्मिक विधिनियम दैवी माने जाते थे और लौकिक कानून व्यवहार
और प्रथा से निर्धारित थे। आज कल की भांति व्यवस्थापक सभाओं या राज
शासन द्वारा विधिनियम बनाने की परिपाटी उस समय न थी।

आधुनिक काल में यह जरूरी कर्तव्य समझा जाता है कि देश में सब
नागरिकों को उन्नति का समान अवसर मिले पर अधिकतर यह समानता
सिद्धांत में ही रहती है व्यवहार में यह सर्वत्र नहीं दिखायी देती है। आलो
चकों का कहना है कि प्राचीन भारत में राज्य अपना यह प्रथम कर्तव्य करने
में भी असमर्थ था क्योंकि जाति प्रथा में हरेक व्यक्ति अपने आनुवंशिक जन्म
सिद्ध पेशे में ही बंधा था इसलिए समान अवसर का अभाव था।

यह आलोचना अंशत ही ठीक हो सकती है। जाति के अनुसार वृत्ति
का निर्धारण राज्य नहीं करता था वरन यह सामाजिक व्यवहार और प्रथाओं
द्वारा होता था। १०० ई० पू० तक वृत्ति के चुनाव में पूर्ण स्वतंत्रता थी,
राज्य भी इस काल में विशेष जाति को विशेष वृत्ति ग्रहण करने को बाध्य
नहीं करता था। क्षत्रिय और वैश्य भी वेद का अध्यापन करने को स्वतंत्र थे।
आगे चलकर वृत्ति या पेशे आनुवंशिक हो गये और स्मृतियां इस बात पर
जोर देने लगीं कि हरेक जाति अपने लिए निर्धारित वृत्ति ही ग्रहण करे।
स्मृतियों की इस नयी व्यवस्था का आधार भी उस समय की वास्तुस्थिति
ही थी अत यदि नागरिकों को उन्नति का समान अवसर नहीं था या उनको
अपनी वृत्ति निर्धारित करने में पूर्ण स्वतंत्रता नहीं थी तो इसका दोष राज्य
पर नहीं तत्कालीन समाज पर था। यह कहा जा सकता है कि राज्य को इन
प्रतिबंधों को दूर करने और समाज को समझाने का प्रयत्न करना चाहिये था
पर उस युग में यह असंभव सा था क्योंकि उस जमाने में ये प्रथाएँ दैवी या
ऋषि प्रणीत मानी जाती थीं। फिर भी शिला-लेखादि से पता चलता है कि
बहुत से लोग अपनी स्मृतिनिर्धारित वृत्ति से विभिन्न वृत्ति भी ग्रहण करते थे,
यह तारीफ की बात है कि राज्य इसमें रोक टोक नहीं करता था। जहाँ तक

मालूम होता है केवल पुरोहिती वृत्ति के सबन्ध म ही प्रतिबन्ध लागू होते थे। उपनिषदुत्तर काल में कोई भी अब्राह्मण पुरोहिती या वेदाध्ययन न कर सकता था, संभव है कि कभी कदापि राज्य द्वारा इसके उल्लंघनकर्ता को दंड भी दिया गया हो। पर यह भी नहीं भूलना चाहिये कि पुरोहित बनने या वेद पढ़ाने का अधिकार वास्तव में भिक्षा माँगने के अधिकार से अधिक न था। पुरोहित या धर्मगुरु की समाज में भले ही अधिक प्रतिष्ठा रही होपर उसकी आमदनी बहुत ही थोड़ी थी। समाज में यह भावना भी थी कि ब्राह्मण के लिए इन वृत्तियों का निर्धारण ईश्वरकृत है और इसका उल्लंघन करनेवाला नरक में जरूर जाता है। अत यदि राज्य ने इस परिपाटी का समर्थन किया तो वही किया जिसे ९९ प्रतिशत अब्राह्मण स्वय स्वीकार करते थे।

आधुनिक सिद्धान्तों के अनुसार राज्य का प्रत्येक नागरिक विधि नियमों की दृष्टि में समान होना चाहिये। यह मानना पड़ेगा कि प्राचीन भारत में यह स्थिति न थी। एक ही अपराध के लिए अन्य जातियों की अपेक्षा ब्राह्मण के लिए हलके दण्ड का विधान था। स्मृतियों में अवश्य कहा है कि शूद्र जो अपराध करे यदि ब्राह्मण वही करे तो उसका पाप अधिक है और परलोक में उसे दण्ड भी अधिक भोगना पड़ेगा, पर तारीफ तो तब थी यदि इहलोक में भी ब्राह्मण के लिए स्मृतियों में अधिक कठोर दंड का विधान किया जाता। पर स्मृतियों से यह आशा करना ठीक भी नहीं है। कानूनन समानता होते हुए भी दुनिया भर में, हाल तक ऊँचे पद के व्यक्ति को हलके ही दंड मिलते थे। प्राचीन रोम और यूनान में दास की हत्या करने पर नाममात्र का ही दंड होता था। ऍंग्लो सैक्सन युग में भी स्वतंत्र नागरिक या सरदार (नाइट) की हत्या पर जो हरजाना देना पड़ता था, उससे बहुत कम दास या काश्तकार की हत्या पर लिया जाता था। १८ वीं शताब्दी तक फ्रांस में भी कानून में ऊँच नीच का बहुत भेद भाव था। अत प्राचीन भारत के कानून में सबके साथ पूर्ण समता की आशा करना ज्यादती है। फिर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्मृतियों ने ब्राह्मण के गौरव को बहुत बढ़ा चढ़ाकर वर्णन किया है, व्यवहार में ब्राह्मण शारीरिक दंड से बरी न थे, जैसा स्मृतियों में कहा गया है। अनुसंधान से पता चलता है कि राजद्रोह के अपराधी ब्राह्मण को शिरच्छेद के बजाय जल में डुबाकर प्राण दंड दिया जाता था। अस्तु, दंड देने के तरीके में भेद रहने पर भी दंड में कोई भेद न था।

राज्य प्रजा के जानमाल की रक्षा और सर्वांगीण अभ्युदय की व्यवस्था करता है अत वह प्रजा से आशा भी रखता है कि वह उसके नियमों और

शासनों का पालन करके उसके साथ पूरा सहयोग करे। प्राचीन भारतीय विचारकों ने भी प्रजा के इस कर्तव्य पर बहुत ज़ोर दिया है। आधुनिक काल में भी प्रजा से युद्ध पड़ने पर राज्य के लिए लड़ने और प्राण तक दे देने की आशा की जाती है। जाति प्रथा के उदय के कारण प्राचीन भारत में वेदोत्तर काल में सब नागरिकों से इसकी अपेक्षा न की जाती थी। राज्य की रक्षा के लिए युद्ध करना क्षत्रिय का ही कर्तव्य था और समरभूमि से पराङ्मुख होना उसके लिए सबसे बड़ा कलंक का विषय था। अन्य जातियों का काम युद्ध करने के बजाय अपने उद्योग, व्यवसाय और श्रम द्वारा युद्ध के साधन निर्माण करना और जुटाना था। उस युग में अनिवार्य सैन्य भर्ती से कार्य विभाजन ही श्रेष्ठ समझा जाता था।

परंतु ग्राम संस्था के प्रति ग्राम निवासियों की गहरी निष्ठा थी और ग्राम तथा गोधन की रक्षा में ग्राम के सब जातियों और श्रेणियों के कट मरने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। महाराष्ट्र कर्नाटक और दक्षिण भारत में पाये जानेवाले 'वीरगल'[1] इस बात के प्रमाण हैं कि संकट पड़ने पर सब जातियों के लोग और अक्सर स्त्रियाँ भी ग्राम के बचाव के लिये मर मिटने से न डरते थे[2]।

हमारे विधानशास्त्री नृपतन्त्र को ही आदर्श मानते हैं अत वे सैनिक और नागरिक को देश के बजाय नरेश के लिए ही प्राण देने का उपदेश करते हैं। पश्चिम में भी राष्ट्रीय राज्यों के उदय के पूर्व यही दशा थी।

विशुद्ध भावना के रूप में देश या राज्य प्रेम का विकास प्राचीन भारत में होने की विशेष गुंजाइश न थी। जिन अनेक राज्यों में देश बँटा हुआ था उनमें धर्म, संस्कृति या भाषा का भेद न था। काशी और कोशल, अंग और बंग में शायद ही कोई अंतर रहा हो। १२ वीं शताब्दी के गहड़वाल, चंदेल और चाहमान राज्यों की सीमाएँ भौगोलिक या प्राकृतिक आधार पर विभाजित नहीं हो सकतीं। प्राकृतिक सीमाओं की रोक न रहने से और एक ही प्रकार की स्वदेशी संस्कृति के प्रचार से भारत के विभिन्न राज्यों के नागरिकों में स्वराज्याभिमान प्रखर स्वरूप में नहीं रहता था। विभिन्न राज्यों में युद्ध प्राय राजाओं

---

१ युद्धस्थल वीरों के स्मृति में बनाये हुए मूर्त्यंकित शिलाखंडों को 'वीरगल' कहते हैं।

२ ए इ, ८ २६२, सौ इं ए रि, १९२१ न ७१, ए क, भाग १ न० ७२

की स्पर्धा से होते थे न कि नागरिकों के संकुचित और स्वार्थी राज्याभिमान के दर्प से। जीतनेवाला भी साधारणतः पराजित राजा के किसी रिश्तेदार को ही गद्दी पर बिठा देता था और स्थानीय नियमों और प्रथाओं में हस्तक्षेप न करता था। अतः राजा और शासक वर्ग को छोड़कर साधारण जनता पर लड़ाई की हारजीत का विशेष प्रभाव न पड़ता था। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि उनमें देशभक्ति की कमी थी मगर दूसरी दृष्टि से कहा जायगा कि उनमें संकुचित प्रांतीयता की भावना न थी। यदि भारत के विभिन्न राज्यों की प्रजा में प्रबल प्रांतीयता की भावना का विकास हो गया होता और वे एक दूसरे के खून के प्यासे बन गये होते तो भारत देश भर में (व्याप्त) सांस्कृतिक एकता की भावना का उदय और फैलाव संभव न होता।

पर संपूर्ण भारतवर्ष के लिए भारतीयों में गहरा प्रेम और उत्कट देशभक्ति थी और जब भी उसके धर्म, संस्कृति और स्वतंत्रता पर संकट उपस्थित होता था, भारतीय उसके लिए प्राण अर्पण करने को दौड़ पड़ते थे। सिकन्दर के आक्रमण के प्रबल प्रतिरोध का इतिहास पढ़कर कौन कह सकता है कि उस समय के भारतीयों में देश प्रेम का अभाव था? दक्षिण सिंध में ब्राह्मण सिकंदर के प्रतिरोध का नेतृत्व कर रहे थे और इसके लिए सिकन्दर द्वारा झुंड के झुंड में वे फाँसी पर लटका दिये गये, क्योंकि इन्हीं के[1] कारण उसका एक एक कदम आगे बढ़ना मुश्किल हो रहा था। उनमें से एक से फाँसी देने के पहिले पूछा गया कि तुम क्यों लोगों और राजा को सिकन्दर का सामना करने को उकसाते हो? उसने धीरतापूर्वक उत्तर दिया—क्योंकि मैं चाहता हूँ कि वे सम्मान से जियें और सम्मान से ही मरें[2]। दुर्भाग्यवश शक, पह्लव और कुषाण आक्रमणों के विरोध का पूरा इतिहास नहीं मिलता, परन्तु जो कुछ थोड़ा मिलता है उससे पता चलता है कि कुणिंद, यौधेय और मालव आदि गणतंत्र, दशकों तक बराबर इनसे लड़ते रहे और अंत में उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्त करके ही दम लिया। हूणों को निकालने के लिए उत्तर भारत के बड़े राज्यों ने मिलकर प्रयत्न किया था। भारत की संस्कृति और धर्म को मुसलमानों से कितना खतरा है इसका भान होने पर उत्तर भारत के सभी मुख्य हिंदू राज्यों ने एक होकर पेशावर के पास सन् १००८ ई० में मुसलमानों का सामना किया।

१—मैक्क्रिंडल, एन्शिएंट इंडिया इट्स इनवेज़न बाइ अलेक्जेंडर दि ग्रेट, पृ० १२६—१६०।

२ वही—पृ० ११४।

१०२४ ई० में सोमनाथ मंदिर को महमूद गजनवी के आक्रमण से बचाने के लिए ५० हजार हिन्दुओं ने प्राण दिये। अपने धर्म और देशपर मरनेवाले योद्धा यही विश्वास करते थे कि भारतवर्ष की भूमि ऐसी पवित्र है कि देवता भी इसमें जन्म लेने को तरसते हैं[1]। माता के समान मातृभूमि भी स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है[2] यह एक सुप्रख्यात कहावत कहती है विदेशी आक्रमणों के प्रतिरोध का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिन्दू इसमें पूरा विश्वास भी करते थे।

राजनीतिक दायित्व के आधार

नागरिकके राज्य के प्रति अनेक कर्तव्य हैं। अब हमें यह देखना है कि प्राचीन भारतीय विचारकों के मत में इनका क्या आधार है। राज्य ही जनता को अराजकता से बचाने का एकमात्र साधन है अतः जनता का यह धर्म है कि उसका पूरा समर्थन करे और उसके नियमों का पालन करके उसके प्रति अपनी जिम्मेदारी पूरी करे। मनु का कथन है कि यदि राज्य दंड का भय न हो तो सब लोग कर्तव्यच्युत हो जायँ, बलवान् दुर्बलों को शूल या मत्स्य की भाँति भूनकर खा जायँ, कुत्ते भी हविर्भाग खाने के लिए दौड़ जायँ। स्वर्ग के देव भी यदि अपने अपने कर्तव्य के दक्ष रहते हैं तो उसका कारण भी देवाधिदेव द्वारा दंड का भय ही है। राजा का देवतात्व भी प्रजा की राजनीतिक जिम्मेदारी का एक कारण माना गया है। मनु कहते हैं, 'राजा नररूप में देवता है और सब को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये।' परन्तु जैसा कि अगले अध्याय में दिखाया जायगा राजा के देवतात्व का यह अर्थ नहीं है कि आँख मूँद कर उसकी आज्ञा का पालन किया जाय। कुशासन तथा कर्तव्य की अवहेलना करने पर राजा को सिंहासन से उतारने और वध करने का अधिकार भी प्रजा को दिया गया था।

विधि नियम भी देवी माने जाते थे और राज्य उन्हें कार्यान्वित करता था इसलिए भी राज्य के अनुशासन में रहना प्रजा का कर्तव्य कहा गया है। परन्तु

१—गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्य च हेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
—मार्कण्डेय पुराण

२—जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

पुराने अनुपयोगी नियमों की गुलामी का समर्थन इसका अभीष्ट न था। राज द्वारा न सही, व्यवहार द्वारा पुराने नियमों में परिवर्तन हुआ करता था।

हम देख चुके हैं कि प्राचीन भारत के कुछ विचारकों ने भी सहमति (इकरार) द्वारा राज्य की उत्पत्ति की कल्पना की है। प्रजा राजा को कर देने और उसकी आज्ञापालन करने को इस शर्त पर तैयार होती थी कि राजा उसकी रक्षा करे। अतः प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राज्य के प्रति कर्तव्य का आधार यह इकरार ही था। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि हमारे विधान शास्त्रियों ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि अपने कर्तव्यों से च्युत होने और प्रजा की सुरक्षा और सुव्यवस्था करने में असमर्थ होने पर राजा पागल कुत्ते की भाँति मार डाला जाना चाहिये।[1] उसके आज्ञापालन का प्रश्न भी ऐसी अवस्था में उपस्थित नहीं होता है।

सप्ताङ्ग का सिद्धान्त भी राजनीतिक कर्तव्यों का आधार है। सरकार और प्रजा दोनों राज्यशरीर के अंग हैं, दोनों परस्पर के सहयोग से ही काम कर सकते हैं और संघर्ष होने पर दोनों का नाश अवश्यम्भावी है। राज्य अपने कार्यों द्वारा प्रजा की इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति का प्रयत्न करता है, उसे इस कार्य में सफलता तभी मिल सकती है जब प्रजा भी उसके प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करे। अतः चूँकि राज्य प्रजा की नैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति की कोशिश करने में यत्नशील रहता है, प्रजा को भी चाहिये कि वह अपने राजनीतिक कर्तव्यों का पालन करके राज्य का मार्ग सुगम बनाए।

---

१ अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः ।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः ॥ —महाभा १३ ६१,३२

५ अध्याय

नृपतन्त्र

यद्यपि प्राचीन भारत में अन्य प्रकार के भी राज्य थे पर सबसे अधिक प्रचलन नृपतन्त्र का ही था। अतः इस अध्याय में हम राजपद संबंधी विभिन्न प्रश्नों पर विचार करेंगे।

वैदिक वाङ्मय में राजपद की उत्पत्ति के विषय में कुछ कल्पनायें की गयी हैं। किसी समय देवताओं और असुरों में संग्राम हुआ और देवताओं की बराबर हार होती रही। देवताओं ने एकत्र होकर विचार किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनके पराभव का कारण उनमें राजा का न होना ही था। उन्होंने सोम को अपना राजा और नेता बनाया[१] और असुरों पर विजय प्राप्त की। अन्यत्र कहा गया है कि देवताओं में सबसे श्रेष्ठ, यशस्वी और शक्तिशाली होने के कारण ही इन्द्र देवताओं के अधिपति चुने गये।[२] एक और कथा है कि वरुण देवताओं के राजा होना चाहते थे, पर वे उन्हें स्वीकार न करते थे। तब अपने पिता प्रजापति से उन्होंने ऐसा मंत्र प्राप्त किया कि वे सब देवताओं से बढ़ गये और सबने उन्हें अपना राजा माना[३]।

इन कथाओं से स्पष्ट है कि राजा की उत्पत्ति का कारण सामरिक आवश्यकता थी और वही व्यक्ति राजा बनाया जाता था जो रण में सफल नेतृत्व कर सके। युद्ध में विजय नेता के साहस, कौशल और पराक्रम पर ही निर्भर है। इन गुणों से युक्त व्यक्ति जब नेता बनाया जाय और उसके नेतृत्व में विजयश्री का लाभ हो तो उसकी शक्ति निरंतर बढ़ती ही चली जाती है और अंत में वह राजा का पद प्राप्त कर लेता है। यदि उसके लड़के भी योग्य हुए तो यह पद आनुवंशिक बन जाता है। राज्याभिषेक के समय किये जानेवाले वाजपेय यज्ञ में एक रथ की दौड़ की भी प्रथा है जिसमें राजा ही सर्वप्रथम आता है।

---

१ अराजतया वै नो जयन्ति राजानं करवामहै इति। ऐ. ब्रा., १. १४

२ तै. ब्रा., २. २. ७. २

३ जै. ब्रा. ३. १५२

यह रीति उस जमाने की यादगार है जब राजपद के उम्मेदवार की शक्ति का परीक्षा रथ की दौड़ में की जाती थी।[1]

हम देख चुके हैं कि वैदिक काल में समाज का संघटन पितृप्रधान कुटुंब मूलक था। कई कुटुंबों या कुलों को मिलाकर विश् और कई विशों को मिलाकर जन या संघटन होता था। कुलपतियों में से ही नेतृत्व और पराक्रम के गुणों से युक्त व्यक्ति विश्पति का पद प्राप्त करते थे। विश्पतियों में से इन्हीं गुणों में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति जनपति के उच्चपद पर आसीन होता था। उसकी योग्यता की जाँच रथदौड़ ऐसे प्रकारों से की जाती थी।[2]

अतः प्राचीन कथाओं और हिंदू संयुक्त कुटुंब के संघटन दोनों सिद्ध करते हैं कि राजा की उत्पत्ति समाज के पितृप्रधान कुटुम्ब-पद्धति से ही हुई। पराक्रमी और प्रतिष्ठित कुलपति विश्पति बन जाता था। साधारणतः सबसे श्रेष्ठ कुल के प्रमुख में ये गुण विद्यमान समझे जाते थे, चुनाव की आवश्यकता तभी होती था जब इसमें संदेह होता था कि उत्तराधिकारी कौन है।

वैदिक वाङ्मय धर्मप्रधान है फिर भी उसमें इस बात का कोई भी संकेत नहीं कि राजपद का पुरोहित या धर्मगुरु के पद से संबंध हो अथवा उसकी उत्पत्ति उससे हुई हो। यह बात उल्लेखनीय है कि वैदिक राजा का कर्मकांड या पौरोहित्य कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं था और न वह प्राचीन मिस्र, रोम या ग्रीस के राजा या शासन की भाँति सार्वजनिक यज्ञादि का संचालन करता था। चिकित्साकौशल के बल पर अश्विनीकुमारों के देवत्व प्राप्त करने की कथा है पर चिकित्साकौशल द्वारा किसी वैद्य के राजा बनने का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में कहीं नहीं है।

---

१ वैदिक काल में घुड़सवारी और रथहाँकने में कौशल का वही महत्व था जो आजकल वायुसेना में श्रेष्ठता का है।

२ सिकंदर के इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि कठ जाति में, जो अपने रणकौशल और पराक्रम के लिए विख्यात थी, सबसे स्वरूपवान् व्यक्ति ही राजा चुना जाता था (मैक्क्रिंडल, इन्वेज़न ऑफ इंडिया पृ० ३८) इसका अर्थ यह है कि सैनिक योग्यता समान होने पर स्वरूप को प्रधानता दी जाती थी, यह नहीं कि सुंदरता के सामने वीरता की उपेक्षा की जाती थी।

क्या राजा का निर्वाचन होता था ?

प्राचीन भारत में राजा निर्वाचित होता था या नहीं इस पर बहुत मतभेद है। वैदिककाल के पूर्वभाग में अवश्य निर्वाचन के कुछ उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद में एक स्थल पर विशों द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है।[1] अथर्ववेद में भी एक स्थल पर विशों द्वारा राजा के वरण की कामना की गयी है।[2] पर सम्भवतः साधारण जनता निर्वाचन में सम्मिलित नहीं होती थी। शतपथ ब्राह्मण में एक उल्लेख में कहा गया है कि अन्य राजागण जिसे मानें वही राजा होता है दूसरा नहीं।[3] राज्याभिषेक के एक मन्त्र में याचना की गयी है।[4] अभिषिक्त राजा अपने श्रेणी के व्यक्तियों में प्रतिष्ठित हो। अतः अधिक सम्भव है कि जनता के नेतागण कुलपति और विशपति ही राजा का वरण करते रहे हों और साधारण जनता अधिक से अधिक प्राचीन रोम की 'क्यूरिया' (जनसाधारण) की भाँति उनके निर्णय पर केवल अपनी सहमति देती रही हो[4]। निर्वाचन भी कभी कदा ही हुआ करते थे। साधारणतः सबसे प्रतिष्ठित कुल के सबसे वयोवृद्ध व्यक्ति को ही नेता मानकर राजा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता था।

कुलपतियों और विशपतियों द्वारा राजा के इस औपचारिक निर्वाचन की प्रथा उस काल में भी पुरानी पड़ती जा रही थी। निर्वाचन के सम्बन्ध में जितने उल्लेख मिलते हैं अधिकांश से यही पता चलता है कि कुलपतियों और विशपतियों की दलबन्दी से राज्य में बराबर झगड़ा मचा रहता था और अक्सर राजा को भी सिंहासन छोड़ना पड़ता था। इन उल्लेखों में[5] या तो

1 ता ईं विशो न राजानं वृणाना बीभत्सवो अप वृत्रादतिष्ठन्। १० १२४ ८ यहाँ पर विशद्वारा निर्वाचन का स्पष्ट उल्लेख है साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि जनता डरी हुई थी। यदि जनता की सहमति पर ही राजा का निर्वाचन निर्भर था तो उन्हें डरने की क्या आवश्यकता थी ?

2 त्वां विशो वृणतां राज्याय। ३ ४, २

3 यस्मै वा राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न।
—श प ब्रा ९ ३ ४, ५

4 इससे उनमें उत्साह का अभाव और भय का प्रभाव रहता था, यथा, ऊपर के नं० १ के उद्धरण में वर्णित है।

5 इयमस्तु त्वां प्रतिजना प्रतिमित्रा अवृषत। अ वे, ३ ३ ६

अपने मित्रों द्वारा निर्वाचित राजा के प्रतिद्वंद्वियों का सामना करते हुए सिंहासन पर जमे रहने की, या राज्यच्युत होने के बाद पुनः गद्दी पर बैठनेवाले राजा के प्रजा द्वारा अंगीकार किये जाने की, याचना की जाती है।[1] इनसे यह सिद्ध नहीं होता कि आजकल के अर्थ में वैदिक काल में राजा का निर्वाचन होता था। हाँ, यह अवश्य है कि आजकल की अपेक्षा राजा उच्चवर्गीय कुलपतियों और विशपतियों के समर्थन पर अधिक निर्भर रहता था। निर्वाचन की प्रथा वैदिककाल में भी प्रायः अव्यवहृत हो चुकी थी। यह इसी बात से सिद्ध है कि ऋग्वेद में भी अधिकतर राजपद आनुवंशिक दिखाई देते हैं। तृत्सुओं में चार पीढ़ी में और पुरुओं में और भी अधिक समय से पुत्र ही पिता की राजगद्दी पर बैठते चले आ रहे थे। सृञ्जयों का राजा दुष्टऋतु पौंसायन की कथा में दस पीढ़ी से प्राप्त राज्य का उल्लेख है और राज्याभिषेक के समय की घोषणा में भी नये राजा को राजा का पुत्र कहा गया है।[2]

अतः इसमें संदेह नहीं कि उत्तर वैदिक काल के बहुत पहले ही राजा का पद आनुवंशिक (पैतृक) बन गया था। ईसा की आठवीं सदी तक राजपद के निर्वाचित होने के पक्ष में जो प्रमाण दिये जाते हैं वे बहुत पुष्ट नहीं हैं।[3] अथर्ववेद में उल्लिखित 'राजकृत' (३, ६, ७) और रामायण के उल्लिखित 'राजकर्तारः' राजा के निर्वाचक नहीं वरन् राज्याभिषेक करनेवाले ब्राह्मण हैं।[4] जब अपने ज्येष्ठ पुत्रों की उपेक्षा करके राजा प्रतीप ने अपने छोटे पुत्र शांतनु को और ययाति ने पुरु को राज्य दिया तो प्रजा ने महल के सामने एकत्र होकर प्रतिवाद किया परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि राजा के निर्वाचन में उन्हें भी बोलने का अधिकार था। उन्होंने केवल ज्येष्ठ पुत्र के स्वाभाविक अधिकार का अपहरण का कारण जानना चाहा और राजा के उत्तर से संतुष्ट

---

१ श० प० ब्रा०, १२ ९ ३ १—१२

२ राजानं राजपितरं। ऐ० ब्रा० ८ १२

३ र० चं० मजूमदार, कारपोरेट लाइफ १०७-११३; का० प्र० जायसवाल हिंदू पॉलिटी, भाग प्रथम पृ० १०

४ सायण ने राजकृत की व्याख्या यों की है 'राजानम् कुर्वन्ति, राज्येऽभिषिंचंति। रामायण के टीकाकार ने राजकर्तारः का अर्थ राज्याभिषेककर्तारः किया है। इस अर्थ की पुष्टि आगे के श्लोकों से होती है जिनमें राजकर्ताओं में प्रसिद्ध वैदिक ब्राह्मणों के ही नाम हैं।

होकर वे चले भी गये।[1] इन दोनों घटनाओं से यही सिद्ध होता है कि जनता ने ज्येष्ठ पुत्र के पिता की गद्दी पर बैठने के अधिकार अर्थात् पैत्रिक राज्य का सिद्धांत स्वीकार कर लिया था, न कि उन्हें राजा के निर्वाचन में राय देने का अधिकार था। रामायण में राम के युवराज बनाये जाने के संबंध में जो वर्णन है उससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि जनता का इस निर्णय में कोई हाथ था। इस प्रस्ताव पर सहमति के लिए दशरथ ने अपनी प्रजा के नेताओं को नहीं वरन अपने करद या सामंत और पड़ोसी राजाओं को बुलाया था।[2] उन्होंने भी उपचारत राम के युवराज बनाये जाने पर सहमति दी, उनकी सहमति का मूल्य तो इसी से प्रकट हो जाता है कि राम का वनगमन उससे न रुक सका। इक्ष्वाकु वंश की वंशावली से भी यही ज्ञात होता है कि श्रीराम के कई पीढ़ियों पूर्व और बाद भी राजपद आनुवंशिक था और प्रजा का राजा चुनने का अधिकार न था।

✓यह भी कहा गया है कि रुद्रदामन (१२० ई०), हर्षवर्धन (६०६ ई०) और गोपाल (७५० ई०) जनता द्वारा राजा बनाये गये थे।[3] इसमें संदेह नहीं कि रुद्रदामन और गोपाल स्पष्टरूप से जनता द्वारा निर्वाचित कहे गये हैं,[4] परंतु यह बात उनकी प्रशस्तियों में उन्हीं के दरबारी कवियों द्वारा कही गयी है, अतः यह परमार्थतया सत्य नहीं माना जा सकता। रुद्रदामा की इसी प्रशस्ति में दूसरे स्थल पर यह भी कहा गया है कि उसने स्वयं अपने पराक्रम से[5] महाक्षत्रप

१ शांतनु के बड़े भाई देवापि को कोढ़ी होने के कारण उत्तराधिकार से वंचित किया गया। पुरु के बड़े भाई इसलिए उपेक्षित हुए कि उन्होंने अपने पिता को अपना यौवन देना अस्वीकार कर दिया था।

२ समानिनाय मेदिन्याः प्रधानान्पृथिवीपतान्—न तु केकयराजानं जनकं वा नराधिप। त्वरया चानयामास पश्चात्तौ श्रोष्यत प्रियम्।
अथोपविष्टे नृपतौ तस्मिन् परबलार्दने। ततः प्रविविशुः शेषा राजानो लोकसंमताः॥ इससे स्पष्ट है कि राज्य के प्रधान व्यक्ति नहीं, करद राजागण बुलाये गये थे। कलकत्ता संस्करण का पाठ प्रधानान् पृथिवीपति ठीक नहीं है यह बाद के श्लोक से सिद्ध हो जाता है।

३ मजूमदार, कारपोरेट लाइफ, पृ० ११२

४ देखिये जूनागढ़ शिलालेख—सर्ववर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृतेन। मात्स्यन्यायमपोहितुं य प्रकृतिभि लक्ष्म्या कर ग्राहित पृ० ई०, ४ २४८

५. स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना रुद्रदाम्ना। जूनागढ़ शि० ले०

पद प्राप्त किया था तथा उसी में यह भी वर्णन है कि उसने अनेक प्रांतों को छीनकर अपने राज्य में मिला लिया था। अतः प्रशस्तिकार की—ऐसे प्रसिद्ध विजेता का प्रजा के निर्वाचन के बल पर राजपद प्राप्त करने की बात ऐतिहासिक के बजाय औपचारिक ही माननी चाहिये। गोपाल ने मात्स्यन्याय का अंत करके बंगाल में सुव्यवस्था स्थापित की थी, और पालवंश के राज्य की नींव रखी थी अतः प्रजा द्वारा निर्वाचन की बात उसकी स्थिति दृढ़ करने के लिए कही गयी होगी। उसके बाद उसके उत्तराधिकारी पैतृक परंपरा द्वारा ही राज्य प्राप्त करते रहे और किसी ने भी जनता द्वारा अपना निर्वाचन कराने की परवाह न की। यह सत्य है कि हर्ष को निर्वाचन द्वारा राज्य प्राप्त हुआ परन्तु यह राज्य उसका पैतृक थानेश्वर राज्य न था वरन उसके बहनोई ग्रहवर्मा का मौखरि का कन्नौज-राज्य था, जिस पर उसे कोई हक न था। ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद मौखरि सिंहासन पर बैठने योग्य उस वंश में कोई न था। इस लिए मौखरि अमात्यों ने अपनी विधवा रानी के भाई को राज्य देना उचित समझा। इस घटना से ज्ञात होता है कि राज्य के उत्तराधिकारी न होने पर अमात्य और अन्य ऊँचे अधिकारी मृत राजा के संबंधियों में से किसी सुयोग्य व्यक्ति को राजा चुनते थे। जातक कथाओं में भी कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं पर इनसे राजा के निर्वाचन की प्रथा सिद्ध नहीं होती। शिलालेख, ताम्रपट और साहित्य ग्रंथों से भी यही ज्ञात होता है कि ६०० ई० पू० से जिन राज्यों का पता चलता है वे सब पैतृक परंपरा से ही चलते थे। १२ वीं शताब्दी के इतिहास लेखकों को तो राजा के निर्वाचन की कल्पना ही विचित्र प्रतीत होती थी।[1]

---

१ जब ९३९ में कश्मीर का उत्पल राजवंश समाप्त हुआ तब कमलवर्धन नामक व्यक्ति ने अधिकार हस्तगत कर लिया। परन्तु तुरन्त अपना राज्याभिषेक कराने के बजाय उसने ब्राह्मणों से राजा का निर्वाचन करने को कहा, उसे आशा थी कि ब्राह्मण मुझे ही चुनेंगे। कल्हण इस पर टीका करते हुए कहते हैं कि इससे बढ़कर मूढ़ता हो नहीं सकती थी, यह तो ऐसा ही है कि घर स्वयं आयी हुई प्रेमान्ध सुन्दरी को कोई लौटा दे और दूसरे दिन उससे पुछवाये कि तुम आओगी या नहीं। अस्तु ब्राह्मण ५-६ रोज तक वाद विवाद ही करते रहे और इस बीच में शूरवर्मा नामक व्यक्ति ने राजधानी पर अधिकार कर लिया, फिर तो ब्राह्मणों ने उसी को राजा उद्घोषित किया और बेचारा कमलवर्धन अपना सा मुंह लेकर रह गया। राजतरंगिणी, पञ्चमतरंग ४७३।

आनुवंशिक राज्यपद्धति से सबद्ध कुछ वैधानिक बातें भी उल्लेख्य हैं। साधारणतः हिंदू परिवार की संपत्ति भाइयों में विभाजित होती है परन्तु राज्य अविभाज्य होता था और ज्येष्ठ पुत्र ही गद्दी का उत्तराधिकारी होता था। परन्तु छोटे भाइयों को भी प्रादेशिक शासन तथा अन्य उच्च पद दिये जाते थे। जातक कथाओं और इतिहास में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

परन्तु राज्य लिप्सा प्रबल होती है और कभी-कभी उसी के कारण छोटे भाई राज्याधिकार प्राप्ति के लिए गृहयुद्ध पर भी उतारू हो जाते थे। इतिहास और दंतकथाओं में इसके उदाहरण मिलते हैं, परन्तु प्राचीन भारत के इतिहास पर सम्यक् विचार करने से ऐसी घटनाएँ अपवाद ही सिद्ध होती हैं। बहुधा जागीर या छोटे राज्यादि देकर छोटे भाइयों को संतुष्ट कर दिया जाता था। गुजरात की राष्ट्रकूट और वेंगी की चालुक्य राज शाखाएँ इसी प्रकार स्थापित हुई थीं।

युवराज की शिक्षा को बहुत महत्व दिया गया है। राजा में देवत्व भले ही हो पर उसकी शिक्षा की आवश्यकता तो रहती ही है। राजपुत्रों की शिक्षा के लिए विशेष प्रबंध होता था यद्यपि उनके सामान्य विद्यार्थियों के साथ साथ तक्षशिला आदि प्रख्यात शिक्षा केंद्रों में भी शिक्षा प्राप्त करने के उदाहरण भी मिलते हैं। प्रारंभिक काल में तो राजपुत्रों के पाठ्यक्रम में भी वेद, तत्त्वज्ञान आदि को ही प्रमुख स्थान दिया जाता था[1] पर धीरे धीरे वार्ता और राजनीति ही अध्ययन के मुख्य विषय बन गये[2]। कुछ लेखकों ने तो यहाँ तक कह दिया कि राजाओं को उपयुक्त विषयों के सिवा और कुछ पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं। राज्य कार्य, शस्त्रविद्या और युद्ध कौशल की शिक्षा केवल किताबों से ही नहीं वरन प्रत्यक्ष रूप में दी जाती थी। धनुर्वेद, रथसंचालन और हस्ति विद्या में निपुणता की सबसे अधिक आवश्यकता थी।[3] शिक्षा पूरी हो जाने पर और वयस्कता प्राप्त करने पर राजकुमार का युवराज पद पर अभिषेक होता था।

---

१ अर्थशास्त्र १-२, मनुस्मृति, ७.४३।

२ कामन्दक, २ २

३ धर्मकामार्थशास्त्राणि धनुर्वेदं च शिक्षयेत्।
रथे च कुञ्जरे चैव व्यायामं कारयेत् सदा।
शिल्पानि शिक्षयेच्चैनं नाप्तैर्मिथ्याप्रियं वदेत्॥

अग्नि पु २२०,२३

इसके बाद उसे शासन कार्य चलाने में जिम्मेदारी के काम दिये जाते थे जिन्हें वह अपने पिता की देखरेख में पूरा करता था।

यदि राजा नाबालिग होता था तो शासन कार्य चलाने के लिए शासन परिषद् संघटित होती थी। जातकों[1], नाटकों[2] और उत्कीर्ण लेखादि से ज्ञात होता है कि राजमाता प्रायः इस परिषद् की अध्यक्ष होती थी। सात कर्णी वंश की नयनिका (१५० ई० पू०) और वाकाटक वंश की रानी प्रभावती गुप्ता (३९० ई०) ऐसी अनेक रानियाँ प्राचीन भारत में हो गयी हैं जिन्होंने अपने पुत्रों के वयस्क होने तक सफलता पूर्वक राज्काज का संचालन किया।

हिंदू विधिनियम में अभ्रातृक पुत्री को पिता की गद्दी पर बैठने का अधिकार न था। यह बात सत्य है कि भीष्म ने धर्मराज को सलाह दी कि युद्ध में मारे गये राजाओं की गद्दी पर पुत्र के अभाव में पुत्रियों को भी आसीन करने की अनुमति दी जाय।[3] परंतु साधारण मत इसके प्रतिकूल था। अधिकांश विधान शास्त्री स्त्रियों को राज्य का उत्तराधिकार देने के विरुद्ध थे, उनका विचार था कि अपनी स्वाभाविक दुर्बलताओं के कारण वे भली भाँति राजकाज संचालन करने में असमर्थ हैं।[4]

अतः कन्या के अतिरिक्त अन्य उत्तराधिकारी न रहने पर जामाता अपने ससुर की गद्दी पर बैठता था। ऐसी अवस्था में उसकी पत्नी केवल नाममात्र की रानी नहीं रहती थी किंतु पति के साथ प्रत्यक्ष राज्य संचालन भी कभी कभी करती थीं। प्रथम चन्द्रगुप्त और उसकी लिच्छवि वंशीया रानी कुमार देवी की संयुक्त मुद्रा से इस मत की पुष्टि होती है।

दक्षिण भारत में विशेषकर चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के समय में राजकुमारियाँ बहुधा उच्च पदों पर नियुक्त की जाती थीं। हम यहाँ ऐसे केवल दो

१—चतुर्थ भाग पृष्ठ १०५, ४२७, इसमें कहा गया है कि वाराणसी के राजा के संन्यासी हो जाने पर प्रजा ने रानी से ही राज्य का भार वहन करने का अनुरोध किया। यही साधारण प्रथा थी, 'अन्ना राजा न होति'।

२—कौशाम्बी के राजा उदयन के शत्रु के हाथ बंदी हो जाने पर उसकी माता ने शासन कार्य संचालन किया। प्रतिज्ञायौगन्धरायण, १ अङ्क।

३—कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय। म० भा० १२ ३२, ३३

४—दुट्ठ च अनन्द मातु इत्थि परियादिका।
अनवकासं यमित्थी राजा अस्स चक्कवत्ती। अं०, १ पृ० १८६

उदाहरण देंगे। प्रथम अमोघवर्ष की कन्या और एरगग की पत्नी रेवकनिमद्दि एदातोर नामक बड़े ज़िले की शासिका थी (८१० ई०)। दूसरा उदाहरण तृतीय जयसिंह की बड़ी बहन अक्का देवी का है जो १०२२ ई० में किनसुद ज़िले की शासिका थी। परन्तु उत्तर भारत के इतिहास में इस प्रकार के उदाहरण नहीं मिलते।

अंत में हम रानी के पद और अधिकार पर भी दृष्टिपात करेंगे। वैदिक काल में उसकी गणना 'रत्नियों' अर्थात् उच्च अधिकारियों में होती थी परन्तु उसके कार्य और अधिकार के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। विधान शास्त्री शासन में उसके लिए कोई विशिष्ट कार्य निर्धारित नहीं करते परन्तु शासन कार्य पर उसके व्यक्तित्व और विचारों का प्रभाव थोड़ा बहुत अवश्य रहा होगा। दक्षिण भारत में ऐसा अवश्य था क्योंकि कभी कभी रानियों द्वारा भूमिदान का और बड़े प्रांतों के राज्यकारभार का उल्लेख मिलता है।[1] इसके भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि आवश्यकता के समय काम आने के लिए राजकुमारियों को शासन-कार्य और युद्ध विद्या की भी शिक्षा दी जाती थी।

राजा की प्रतिष्ठा और उसके अधिकार

समय के अनुसार राजा की प्रतिष्ठा, शक्ति और अधिकार में भी अंतर रहा है। प्राग् ऐतिहासिक काल में वह सरदारों की समिति का सबसे बड़ा सदस्य मात्र था, वे कभी कभी उसका चुनाव भी औपचारिक या वास्तविक रूप में करते थे। राजा के कार्यों का नियन्त्रण 'समिति' द्वारा होता था जो जनता की संस्था थी। उस समय उसकी स्थिति भी दुर्बल थी और अधिकार भी सीमित थे। सम्भवतः इस काल में कर या शुल्क भी अनिवार्य न था और नियमित कर के बजाय बड़े बड़े विशपति या कुलपति कभी कभी उसे उपहार या भेंट दिया करते थे।[2] राज्याभिषेक के समय राजा पर इन्द्रदेव सबसे बड़ा जो अनुग्रह कर सकते थे वह यही था कि उसे प्रजा से बलिग्रहण या नियमित कर वसूलने का अधिकार दे दें।[3]

वैदिककाल में भी छोटे-छोटे 'जन' राज्य (tribal states) ही होते थे और जनता की संस्था समिति के राज्यकार्य में पर्याप्त अधिकार थे अतः राजा की

१ अल्तेकर—एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ स्टेट, पृष्ठ २४२।
२ यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे। अ० वे०, ३.२९.३
३ अथा ते इन्द्र केवलीर्विशो बलिहृतस्करत्। १०, १७३, ६

सत्ता सर्वरूप न थी। समय बीतने पर जैसे जैसे राज्य प्रादेशिक होते गये और उनका विस्तार भी बढ़ता गया, कुलपतियों और विशपतियों की शक्ति कम होती गयी, समिति के भी अधिकार घटते गये क्योंकि उसकी बैठक नियमित रूप से, शीघ्र और बारबार न हो सकती थी। इन कारणों से राजा की शक्ति और अधिकारों की वृद्धि होती गयी। ऋग्वेद में ही 'स्वराट्' (अपने से राज्य करनेवाला) एकराट् (एकमात्र शासक) अधिराट् (महान् शासक) और सम्राट् के उल्लेख मिलते हैं।[1] अवश्य ही इनमें से कुछ उपाधियां देवताओं के लिए प्रयुक्त हुई हैं परन्तु निश्चय ही पृथ्वी पर भी इनके प्रतिरूप रहे होंगे।

वैदिक काल में भी राजा का ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा कम न थी। विभिन्न राजाओं की प्रशस्तियों में उनके वैभव और समृद्धि का वर्णन है। सम्भवतः वे बड़े बड़े यूथ (गोधन) और विस्तृत भूप्रदेश के स्वामी होते थे और प्रजा से कर या शुल्क भी पाया करते थे जिसका देना क्रमशः अनिवार्य और नियमित हो गया। अथर्ववेद में राजा धनपति, जनता का स्वामी और योद्धाओं में अग्रगण्य कहा गया है और प्रार्थना की गयी है कि उसे शक्ति, तेज और राष्ट्र पर प्रभुत्व प्राप्त हो[2]। एक अनुष्ठान का वैशिष्ट्य यह है कि उसमें ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्रत्येक राजा के लिए एक एक गाय छोड़ता है[3]। इसका यह भाव है कि राजा का प्रभुत्व हर वर्ग पर है। अस्तु उसकी शक्ति उत्तरोत्तर व्यापक होती जा रही थी। उसके क्रोध का आतङ्क भी अधिकाधिक बढ़ता जा रहा था[4]।

राजा का सबसे बड़ा कर्तव्य यह था कि वह अपनी प्रजा की आन्तरिक अशांति और बाहरी शत्रु के आक्रमण से रक्षा करे[5]। वह नियम और व्यवस्था, परंपरा और रूढ़ियों का संरक्षक था (धृतव्रत) व राजधानी में वह न्यायासन पर बैठकर गंभीर अभियोगों का स्वयं विचार करता था[6]। यद्यपि छोटे मोटे मामलों का फैसला देहातों में पंचायतों में ही होता था। वह

१ २ २८ १, ७ ३७, ३, १० १२७ ७, ३२६ १४
२ ४ २२
३ तै स, १ ८ १६; तै ब्रा, १ ७ १०
४ अन्यम राज्ञामभियात् मन्यु । अ वे, ५ ४०, २
५ गोपा जनस्य । ऋ वे, ३ ४३ ५, ।
६ तस्माद्राजन्येनाध्यक्षेण वैश्य इति । का स, २८ ४

अपने राज्यकर्मचारियों की सहायता से शासन करता था, इन कर्मचारियों में सेनापति, ग्रामणी संग्रहीता और सूत प्रमुख थे। अंतिम तीन अधिकारियों के कार्य का ठीक पता नहीं है।

राजा का देवत्व

यह बात ध्यान योग्य है कि राजा के देवत्व की भावना जो ईसा की पहली सहस्राब्दी में इतनी सर्वमान्य थी, वैदिक काल में वर्तमान न थी। उस काल में राजा का पद पूर्णतः लौकिक था। सार्वजनिक हित के लिए अथवा राष्ट्र और जनता का अरिष्ट दूर करने के लिए होने वाले किसी यज्ञादि का संचालन राजा के कार्मों में शामिल नहीं था।

ऋग्वेद में केवल एक ही राजा पुरुकुत्स को अर्धदेव का विशेषण दिया गया है (४४२९९) अथर्व वेद में भी केवल एक ही दफे और एक उत्तर कालीन सूक्त में ही राजा परीक्षित मर्त्यों में देवता कहे गये हैं (यो देवा मर्त्यान् अधि २० १२७ ७) इन स्थलों से यह नहीं सिद्ध होता कि उस युग में देवत्व की भावना मान्य थी। पुरुकुत्स को अर्धदेव शायद इस कारण कहा गया है कि उनकी विधवा मा ने उन्हें इंद्र और वरुण के विशेष प्रसाद से प्राप्त किया था। जिस ऋचा में परीक्षित को मर्त्यों में देव की उपाधि दी गयी है वह उनकी प्रशंसा करने के लिए ही रची गयी थी। वैदिक वाङ्मय में अन्य किसी भी राजा को यह उपाधि नहीं दी गयी, इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राजा में देवत्व की कल्पना कुछ राजा द्वारा उपकृत दरबारियों के ही मस्तिष्क में सीमित थी।

धार्मिक विधि और विचारों के उत्तरोत्तर बढ़नेवाले प्रभाव से ब्राह्मण काल में ऐसा वातावरण बनने लगा था जिसमें राजा के देवत्व की भावना पनप सकती थी। युद्ध में विजय इंद्रदेव की कृपा का फल कहा जाता था, और इंद्र की उपाधियां भी राजा को धीरे धीरे लगायी जाने लगीं[1]। राज्याभिषेक के समय पुरोहित कहते थे कि भगवान सविता के आदेश पर ही अभिषेक किया जाता है और यह अभिषेक मनुष्य के हाथों से नहीं वरन् भगवान पूषन् और अश्विनी कुमारों द्वारा होता है। ऐसा माना जाता था कि अभिषेक के समय राजा के शरीर में अग्नि, सविता और बृहस्पति देवता प्रवेश करते हैं। अश्वमेध और वाजपेय यज्ञ द्वारा राजा को देवता का पद मृत्यु के

१ ऐ ब्रा०, ८ २

देवता प्राप्त होता है यह भी धारणा थी[1]। बहुसंख्यक प्रजा एक राजा की आज्ञा पालन क्यों करती है इसका कारण कुछ लोगों के मत में यही था कि राजा देवाधिदेव प्रजापति का प्रत्यक्ष प्रतीक था[2]। ब्राह्मण अपने को भूदेव कहकर अपने लिए देवत्व का दावा कर रहे थे अतः वे राजा को भी उससे वंचित रख सकते थे, क्योंकि वही तो उनके विशेषाधिकारों का संरक्षक था। इन परिस्थितियों और कारणों से उत्तर वैदिक काल में ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया था जो राजा के देवत्व की भावना के विकास के लिए अत्यंत अनुकूल था। ईसवी पहली शताब्दी में कुषाण राज्य की स्थापना से इस भावना को और भी बल मिला। चीनी परंपरा से प्रभावित होने के कारण इस वंश के राजा 'देवपुत्र' होने का दावा करते थे और अपनी मुद्राओं पर अपने को ज्योति से आवृत बादलों से अवतरित होते हुए अंकित कराते थे[3]। कुषाण सम्राटों ने अपने पूर्वजों के मंदिर भी बनवाए जिनमें उनकी प्रतिमाएँ देव के समान पूजी जाती थीं।

कुछ स्मृतियों और पुराणों ने स्पष्ट रूप से राजा के देवत्व का दावा मान लिया है। मनु कहते हैं कि राजा नर रूप में महान् देवता है। ब्रह्मा ने आठों दिशाओं के दिक्पालों के शरीर का अंश लेकर उसके शरीर का निर्माण किया है।[4] विष्णु पुराण और भागवत में कहा गया है कि राजा के शरीर में अनेक देवता निवास करते हैं[5]। भागवत में तो यह भी लिखा है कि सब प्रथम राजा वेन के शरीर में विष्णु के शरीर के नाना लांछन भी विद्यमान थे। राजा को

---

१ श प ब्रा १२ ४ ४, ३। तै ब्रा, १८ १० १०।

२ एष वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमो यद्राजन्य। तस्मादेकः सन् बहूनामीष्टे।
श ब्रा, ५ १५ १४

३ कॅटलॉग ऑफ कॉइन्स इन दी पंजाब म्यूज़ियम, भाग १, चित्र १

४ यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृप।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥ मनु ८ ५

५ ब्रह्मा जनार्दनो रुद्रो इन्द्रो वायुर्यमो रविः।
हुतभुग्वरुणो धाता पूषा भूमिर्निशाकरः।
एते चान्ये च ये देवा शापानुग्रहकारिणः।
नृपस्यैते शरीरस्थाः सर्वदेवमयो नृपः। विष्णु पु॰ १ १३ १४

६ जातो नारायणांशेन पृथुराद्यः क्षितीश्वरः।
वेदस्य दक्षिणे हस्ते दृष्ट्वा चिह्नं गदाभृत
९

देवता मानने की परपरा ही स्थापित हो गयी थी, परवर्ती काल में बौद्ध लोग भी राजा को सम्मुतिदेव' कहते थे। इस पदवी का सकेत यह है कि राजा का देवत्व जनता को सम्मत है।)

अस्तु, कुछ स्मृतियों और पुराणों में राजा के देवत्व की कल्पना स्वीकार की गयी है। परतु उसे ईश्वर का साक्षात् अवतार बहुत थोड़े ही स्मृतिकारों ने माना है। अधिकाश स्मृतियों और पुराणों में केवल राजा और देवताओं के कार्यों की समता का ही उल्लेख और वर्णन किया गया है। महाभारत (१२ ६७ ४०) नारद स्मृति (१० २६) शुक्रनीति (सप्त ७२) और मत्स्य (अ २२६) मार्कण्डेय (२७,२१) अग्नि (२२५,१६) पद्म (सृष्टि ३०, ४९) और वृहद्धर्म (उत्तर खड ३ ८) पुराणों में बताया गया है कि राजा अपने तेज से दुष्टों को भस्म कर देता है अत वह अग्नि के समान है, वह अपने चरों द्वारा सब कुछ देख लेता है अत सूर्य के तुल्य है, वह अपराधियों को उचित दड देता है अत वह यम के समान है, और योग्य व्यक्तियों को प्रचुर पुरस्कार देता है अत वह कुबेर के तुल्य है[1]। अस्तु, अधिकाश ग्रथकार राजा और देवताओं के विभिन्न कार्यों की समता पर ही जोर देते हैं। ये अनेक बार

पादयोरविंद च त पं सेने हरे क्षणाम्।

भाग ४ १३,२२, देखिये वायु, ५७ ७१

१ कुरुते पच रूपाणि कार्ययुक्तानि य सदा।
भवत्यग्निस्तथादित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यम ॥ ४१ ॥
यदा ह्यासीदत पापान्दहत्युग्रेण तेजसा।
मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावक ॥ ४२ ॥
यदा पश्यति चारेण सर्वभूतानि भूमिप।
क्षेम च कृत्वा व्रजति तदा भवति भास्कर ॥ ४३ ॥
अशुचींश्च यदा क्रुद्ध क्षिणोति शतशो नरान्।
सपुत्रपौत्रान् सामात्यांस्तदा भवति सोऽन्तक ॥ ४४ ॥
यदा त्वधार्मिकान्सर्वान् तीक्ष्णैर्दण्डैर्नियच्छति।
धार्मिकांश्चानुगृह्णाति भवत्यथ यमस्तदा ॥ ४५ ॥
यदा तु धनधाराभिस्तर्पयत्युपकारिण
तदा वैश्रवणो राजा लोके भवति भूमिप ॥ ४६ ॥

म० भा० १२ ६७

राजा के कार्यों को देवताओं के कार्यों से तुलना करते हैं पर यह नहीं कहते कि राजा स्वयं देवता है।

इस प्रकार हिन्दू ग्रन्थकारों ने राजपद को दैवी बताया है न कि किसी राजव्यक्ति को। यूरोप में राजा के देवत्व का सिद्धान्त स्वच्छन्द निरंकुश राजसत्ता के समर्थन के लिए ही प्रतिपादित किया गया था। प्राचीन भारत में एक मात्र नारद ही ऐसे ग्रन्थकार हैं जिन्होंने यह कहने का साहस किया कि दुष्ट राजा पर भी प्रहार करना पाप है क्योंकि उसमें देवता का अंश है।[1] परन्तु दूसरे किसी ने भी उनकी बात नहीं मानी। दुष्ट राजा वेन ने अपने देवत्व की दुहाई देकर दंड से बचना चाहा पर क्रुद्ध ऋषियों ने उसकी एक न सुनी और उसे तत्काल मार डाला। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि प्राचीन भारत में केवल अच्छे और धार्मिक राजा ही देवतुल्य माने जाते थे। दुष्ट और दुराचारी राजा तो राक्षसावतार माने जाते थे[2]। पोप ग्रेगरी के इस मत से हिन्दू शास्त्रकार सहमत नहीं थे कि दुष्ट राजा भी देवता के अंश होने से परमात्मा के सिवाय अन्य कोई उनसे जवाब तलब नहीं कर सकता। राजा के देवत्व के पूर्ण समर्थक मनु भी कहते हैं कि धर्म से विचलित होने पर राजा का नाश हो जाता है[3]। वे यह भी कहते हैं कि देवत्व का अर्थ यह नहीं है कि राजा सब दोषों के परे है बल्कि साधारण जन की अपेक्षा उसके गलती करने की आशंका अधिक है (७।४९) क्योंकि उसके सामने प्रलोभन भी बड़े रहते हैं अतः उसे सदा काम क्रोध और लोभ जन्य बुराइयों से बचने की सावधानीपूर्वक चेष्टा करते रहना चाहिये। धूर्त खुशामदियों की स्तुतियों से प्रतारित होकर अपने को अतिमानुष समझनेवाले राजा गण किस प्रकार उपहास के पात्र होते हैं इसका वर्णन बाणभट्ट ने भलीभाँति कर दिया है[4]।

---

१ तानि प्रहरेयस्तु कृतागस्यपि दुर्मतिः ।
शूले तमग्नौ विपचेद् ब्रह्महत्याशताधिकम् ॥ १८।३१

२ गुणैर्युक्तस्तु यो राजा स ज्ञेयो देवतांशकः ।
विपरीतस्तु रक्षोंऽश स च नरकभाजनः ॥ शुक्र १।७०

३ दृष्टा हि सुमहत्तेजो दुर्धरं चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ मनु, ७।२८

४ प्रतारणकुशलैः धूर्तैः अमानुषोचिताभिः स्तुतिभिः प्रतार्यमाणा आत्मन्यारोपितालीकाभिमाना मर्त्यधर्माणोऽपि दिव्यांशावतीर्णमिव सदैवतमिवाति

ग्लैडस्टोन का यह मत कि राजा के कार्यों में ही नहीं किंतु विचारों में
भी दोष या गल्तियां नहीं हो सकती है प्राचीन भारतीय विचारकों को
अनुमत नहीं था। इसके विपरीत वे तो यह मानते थे कि साधारण जन का
अपेक्षा राजा के कर्तव्यच्युत होने की आशंका अधिक है। राजा के देवत्व का
यह अर्थ भी नहीं माना गया था कि दुष्ट या अनीतिमान् राजा की आज्ञाओं
का भी बिना मीन मेष निकाले पालन करना ही जरूरी है। यूरोपीय विचारकों
में बिशप बोसुए का मत है कि राजा के पापाचरण करने पर भी प्रजा उसकी
आज्ञापालन के बंधन से मुक्त नहीं हो सकती, काल्विन कहते हैं कि नीच
राजा की आज्ञा भी सदैव शिरोधार्य मानना चाहिये। प्राचीन भारत के
विचारकों का मत इसके विरुद्ध है वे अयोग्य या दुष्ट राजा को देवत्व का
अधिकारी कभी भी नहीं मानते। वे साफ साफ कहते हैं कि ऐसा राजा साक्षात्
राक्षस है और प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का पूरा अधिकार है।
इंगलैंड के राजा प्रथम जेम्स का यह मत प्राचीन भारत में मान्य नहीं था
कि प्रजा कदापि राजा को दंड देने की अधिकारिणी नहीं हो सकती क्योंकि
राजा का अधिकार प्रजा को दंड देना है न प्रजा का राजा को, प्रजा की सृष्टि
ही राजा के आज्ञापालन के लिए हुई है। अतः विलोबी का यह कथन भारत
पर नहीं लागू होता कि 'प्राचीन काल के सभी एशियाई राज्यों में राजा प्रजा
पर शासन करना अपना ईश्वर प्रदत्त अधिकार समझते थे और प्रजा भी बिना
चीं चपड़ के उनका यह दावा स्वीकार कर लेती थी'।

यह विषय समाप्त करने के पूर्व हम राजा के देवत्व के विषय में अन्य
प्राचीन देशों में प्रचलित विचारों पर दृष्टिपात करेंगे। प्राचीन मिस्र में राजा
या 'फाराओ' 'रा' (सूर्य) देवता का पुत्र माना जाता था। सार्वजनिक यज्ञ
का संचालन और देवता से किसी बात की याचना करने का अधिकार केवल
उसे ही था। प्राचीन बॅबिलोनिया और असीरिया में भी राजा ईश्वर के
प्रतिनिधि माने जाते थे और देवताओं की भाँति पूजा के भाजन होते थे।
प्राचीन ग्रीस में भी राजा देवाधिदेव ज्यूस के वंशज माने जाते थे। देवताओं
की इच्छा जानने की भी शक्ति केवल उन्हीं में थी। १० ई० के बाद प्राचीन

(५६ पृष्ठ से)

मानुपमास्यामसुलभेक्षमाणा प्रारब्धदिस्योचितचेष्टानुभवा भवजनस्योपहा
स्यतामुपयाति। कादम्बरी शुकनासोपदेश

१ लेबर ऑफ स्टेट, पृ० ४२–३

रोम के सम्राट मरने के बाद देवता घोषित कर दिये जाते थे और उनकी पूजा के लिए मंदिर भी बनाये जाते थे। १७ वीं और १८ वीं सदी के यूरोपीय विचारकों के मत का ऊपर उल्लेख हो ही चुका है।

राजा के संबंध की अन्य धारणाएँ

अब तक हमने राजा के देवत्व संबंधी धारणाओं का विवेचन किया है। राजा का पद का महत्व ठीक ठीक समझने के लिए उसके संबंध में प्रचलित अन्य धारणाओं पर भी विचार आवश्यक है।

✓ वैदिक काल से ही राजा धर्म का रक्षक पोषक और समर्थक समझा जाता रहा है। वैदिक काल के राजा का आदर्श ऋत और धर्म की रक्षा करनेवाले धृतव्रत वरुण देव थे। राजा केवल लाक्षणिक रूप में देवतांशी था। मगर विधिनियम साक्षात् देवदत्त माने जाते थे और यह अनिवार्य था कि राजा उनका पालन करे। राजन्य सर्वत्रैव धर्माधिष्ठित है धर्म से बढ़कर कुछ दूसरी चीज नहीं है अतः धर्म का पालन राजा का नित्य और आवश्यक कर्तव्य है।[1] संसार के सर्व प्रथम राजा वेन को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी थी कि श्रुतिस्मृतियों में जो धर्म कहा गया है मैं उसका पूरा पालन करूँगा और कदापि मनमानी न करूँगा[2]। राजा का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा था। वह प्रजा का नेता था और प्रजा उसका अनुगमन करती थी अतः उसका आचरण आदर्श होना चाहिये। प्रजा के रोग शोक और कष्ट का कारण राजा का कर्तव्यच्युत होना ही समझा जाता था। एक लेखक कहता है यदि राजा अन्यायी हो जाय तो शक्कर और नमक भी अपना स्वाद खो देते हैं[3]। जातकों में इस विषय पर जनता के मत की अभिव्यक्ति बहुत अच्छी तरह हुई है। किसान के बैल को हल से चोट लग गयी इसका दोष भी राजा को ही दिया गया, एक ग्वाला दुष्ट गाय द्वारा मारा जाता है इसका दोष भी राजा के मत्थे। यहाँ तक कि भूखे कौओं द्वारा काटे जाने पर मेढक भी राजा को ही दोष देते हैं[4]। लोगों का विश्वास था कि धर्म और सदाचार से ही सुख मिलता है और उनकी वृद्धि तभी हो सकती है जब

---

१ तद्देतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति। बृ उ, १ ४ १४

२ यश्चात्र धर्म इत्युक्तो धर्मनीतिव्यपाश्रय।
तमशंक करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥ म भा १२ ५० ११६

३ जातक भाग तृतीय, पृ १११।

४ ,, ,, पंचम पृ १०१-७।

राजा स्वय उनके आदर्श बने। अत यह स्वाभाविक था कि यदि राजा धर्म पालन नहीं करे तो प्रजा के कष्टों की जिम्मेदारी उस पर रक्खी जाय।

राजा के संबंध में दूसरी महत्त्वपूर्ण धारणा यह भी थी कि वह प्रजा का सेवक[1] समझा जाता था। एक प्राचीन धर्म सूत्र लेखक बौधायन का कथन है कि राजा वास्तव में प्रजा का सेवक है और प्रजा की आयका छठा भाग जो कर में दिया जाता है वही उसका वेतन है। नारद भी कर को राजा द्वारा प्रजा की रक्षा का पारिश्रमिक कहते हैं। अपरार्क कहते हैं कि बिना प्रयोजन कोई भी किसी को कुछ नहीं देता अत राजा से अपनी रक्षा की आशा में ही प्रजा उसे कर देती है[2]। यत प्रजा राजा को भरपूर वेतन देती है अत उसे भी भृत्य और दास की भाँति उसकी सेवा करनी चाहिये[3]।

राजपद को थाती (trustee) समझने की धारणा भी प्राचीन भारत में वर्तमान थी। राजा को ब्लाउ तरह से चेता दिया जाता था कि राजकोष उसकी निजी संपत्ति न थी बल्कि जनता की थाती थी और विश्वस्त के नाते ही वह उसका उपयोग केवल सार्वजनिक हित के लिए कर सकता था। यदि राजा सार्वजनिक धन का दुस्पयोग करे और उसे अपने निजी काम में लगाये तो वह नरक का भागी होता है[4]।

कुछ राज्य शास्त्रियों के मत में तो राजा का काम विश्वस्त या थातीदार के काम से भी कठिन और दुर्वह होता है। विश्वास का कर्तव्य यह है कि वह अपने सुपुर्द काय ठीक तरह से करे। यदि वह ब्रच्छी देखरेख करता है और उससे किसी प्रकार का व्यक्तिगत लाभ नहीं उठाता तो उसका कर्तव्य पूरा हो जाता है। विश्वस्त के नाते कर्तव्य पालन करने में उसमें स्वार्थत्याग की

---

१ षड्भागभृतो राजा रक्षेत्प्रजाम्। बौ ध सू, १ १० ६

२ सर्वो हि धन प्रयच्छन्नात्मसमवायि प्रयोजनमुद्दिशति। न च करदानस्य स्वगुहे॰ऽयत्प्रयोजनमस्ति। तस्मात्कामाद्दानेन प्रजापालन विधेयमिति सिद्धम्॥ या स्मृ १ ३६६ पर टीका

३ सर्वत फलभुग्भूत्वा दासव स्यात्तु रक्षणे। शुक, ४ २ १३०।

४ बलप्रजारक्षणार्थं धर्मार्थं कोषसग्रह। पात्रे ह सुखदो नृपस्यान्यस्तु दु खद॥ स्त्रीपुत्रार्थं कृतोयश्च स्वोपभोगाय केवलम्। नरकायैव स ज्ञेयो न परत्र सुखप्रद॥ शुक, ४ २ ३–५।

अपेक्षा नहीं की जाती। पर आदर्श राजा का स्वार्थत्याग भी कर्तव्य है। जिस प्रकार गर्भवती स्त्री अपने उदरस्थ शिशु को हानि पहुँचाने की आशंका से अपनी इच्छाओं का दमन और सुखों का त्याग करती है उसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा के भले के सामने अपने सुख सुविधा और इच्छाओं की परवाह नहीं करनी चाहिए[1]।

अस्तु इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन भारतीय शास्त्रकार आदर्श राजा उसे ही मानते थे जो अपना जीवन प्रजा पालन के लिए न्योछावर कर दे। परन्तु मनुष्य स्वभावतः दुर्बल है और औसत दर्जे के राजा से इस उच्च आदर्श के सांगोपांग निर्वाह की आशा हमेशा नहीं की जा सकती। अभी देखना यह है कि स्वेच्छाचारी राजा की मनमानी से प्रजा की रक्षा का कोई उपाय किया गया था या नहीं। राजा की शक्ति को निरंकुश न होने देने के लिए उसपर कुछ रोक की व्यवस्था थी या नहीं।

आरम्भ में ही यह स्वीकार कर लेना अच्छा होगा कि प्राचीन भारतीय विचारकों द्वारा राजशक्ति पर आधुनिक स्वरूप के कोई वैधानिक रोक लगाने की व्यवस्था नहीं की गयी थी। सम्भवतः वैदिक काल की लोकसभा या समिति द्वारा राजा की शक्ति पर रोक रहती थी, कुछ वैदिक उद्धरणों से पता चलता है कि समिति के प्रतिकूल होनेपर राजा का अपने पद पर कायम रहना कठिन हो जाता था। पर क्रमशः समिति की शक्ति कम होती गयी, ५०० ई० पू० तक यह प्रायः लुप्त हो गयी और उसके स्थान पर दूसरी किसी लोकप्रिय संस्था की भी स्थापना न हो सकी। राजा को अपने न्यायालय द्वारा किसी भी व्यक्ति को नियम भंग करने पर दंड देने का अधिकार था, यदि राजा अपने अधिकार का दुरुपयोग करने पर उतारू हो जाय तो उसे रोकनेवाली समिति या सभा जैसी कोई लोकप्रिय संस्था भी न थी। साधारणतः अमात्य मण्डल राजा पर अंकुश रखता था पर अमात्य का पद राजा की ही इच्छा पर निर्भर था अतः जनमत की परवाह न करनेवाले निरंकुश या स्वेच्छाचारी राजा की रोक थाम करना उनकी सामर्थ्य से परे था।

साथ ही यह भी न भूलना चाहिये कि पार्लमेंट या प्रतिनिधि सभा राज काज का खर्च देने से इनकार करके राजा की शक्ति का जिस प्रकार वैधानिक नियन्त्रण करती है, वह उपाय भी आधुनिक काल की ही घटना है। प्राचीन

---

१ नित्यं राज्ञा तथा भाव्यं गर्भिणी सहधर्मिणी।
यथा स्वं सुखमुत्सृज्य गर्भस्य सुखमावहेत्॥ अग्निपुराण, २२२-८।

यूरोप में भी यह अज्ञात था। अत्याचारी राजा का विचार करनेवाला न्यायालय प्राचीन भारत में ही नहीं यूरोप में भी वर्तमान न था। अतः प्राचीन भारतीय ये उपाय तो न निकाल सके पर जो उपाय उन्होंने निकाले वे भी साधारणतः कम सफल न थे।

प्राचीन भारत में धार्मिक और पारलौकिक दण्डों का बड़ा डर था और हमारे विधान शास्त्रियों ने राजा की शक्ति पर अंकुश लगाने के लिए इस भावना का पूरा उपयोग किया है। सभी शास्त्रकारों ने एकमत से कहा है कि प्रजा का पीड़न और सार्वजनिक धन का अपव्यय करनेवाला राजा घोर पाप करता है और निश्चय नरक का भागी होता है। नरक का भय कैसा भयानक होता था इसकी कल्पना आधुनिक काल में करना कठिन है।

राजा का पद लोग कुछ हद तक दिव्य मानते थे पर विधि नियम और रूढ़ियों को उससे भी अधिक दिव्य समझते थे। राज्याभिषेक के समय राजा को उनके पालन करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी और उनमें परिवर्तन करने का उसे अधिकार न था।

समुचित संस्कार और शिक्षा के अभाव से ही राजाओं में अक्सर स्वेच्छाचार और निरंकुशता की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। अतः बाल्या और किशोरावस्था में राजकुमार की शिक्षा और संस्कार की व्यवस्था करने पर शास्त्रकारों ने बहुत ध्यान दिया है। बड़े ही प्रभावकर शब्दों में वे कहते हैं कि राजा को विनयी, शांत, सदाचारी और धार्मिक होना चाहिए, उसे वाणी में मधुर, व्यवहार में शिष्ट, गुरुजनों की अभ्यर्थना में उत्सुक, सत्संगति का प्रेमी और लोकमत का ध्यान रखनेवाला होना चाहिए, उसे सब विद्या और शासनकला में निपुण होना चाहिये। शिक्षा और संस्कार द्वारा उपर्युक्त गुणों का बीजारोपण जिस राजा में किया जा चुका है वह कदापि अपने कर्तव्य का उल्लंघन करनेवाला और प्रजा का पीड़न करनेवाला नहीं हो सकता।

परन्तु यदि राजा को उपयुक्त शिक्षा न मिले अथवा शिक्षा द्वारा भी उसकी दुष्प्रकृति का दमन न हो सके तो? यदि वह लोकमत की परवाह न करे बड़े बूढ़ों, गुरुओं और मन्त्रियों के उपदेश का अनादर करे, नरक का भय भी उसके स्वेच्छाचार को न रोक सके, तो प्रजा का क्या कर्तव्य है?

हम पहले ही देख चुके हैं कि हमारे शास्त्रकारों ने अत्याचारी राजा की आज्ञा के पालन का समर्थन नहीं किया है। वे अत्याचार का प्रतिरोध करना प्रजा का कर्तव्य समझते हैं। पर उन्होंने इसका विवेचन नहीं किया है कि

प्रतिरोध कब उचित है और उसका रूप या उसकी सीमाएँ क्या हों। संभव है उन्हें यह आशंका रही हो कि इस विषय पर खुलकर चर्चा करने से अराजकता को उत्तेजन मिले।

परन्तु हमारे शास्त्रकार एक क्षण को भी यह कल्पना नहीं करते कि प्रजा चुपचाप अत्याचार सहन कर लेगी। वे कहते हैं कि जनता अत्याचारी राजा को चेतावनी दे कि यदि तुम अपना व्यवहार नहीं बदलते तो हम तुम्हारा राज्य छोड़ कर दूसरे सुशासित राज्य में चले जायेंगे[1]। उन्हें आशा थी कि प्रजा के राज्य त्याग द्वारा कर की हानि के डर से राजा के होश ठिकाने आ जायेंगे। पर यदि वह इस पर भी न सुधरे तो प्रजा उसे गद्दी से उतार कर उसके कुल के किसी गुणवान व्यक्ति को उसके पद पर बिठा दे सकती थी।[2] इतना ही नहीं यदि और कोई उपाय न रह जाय तो महाभारत ने स्पष्ट शब्दों में अत्याचारी राजा के वध की भी अनुमति दी है[3]। राज्य शास्त्र के ग्रंथों में इस प्रकार मारे जानेवाले राजाओं के नाम भी दर्ज हैं। वेन राजा इनमें से एक था जिसे ऋषियों ने देवत्व की दुहाई देने पर भी मार डाला। जनता की रोषाग्नि में भस्म होनेवाले राजाओं में नहुष, सुदास, सुमुख और निमि भी हैं। यह उल्लेखनीय है कि राजा के देवत्व का समर्थन करनेवाले मनु ने भी राजाओं को उपर्युक्त अत्याचारियों के दृष्टान्त से शिक्षा लेने की सलाह दी है। जातकों में भी प्रजा द्वारा अत्याचारी राजाओं के वध के अनेक कथाएँ हैं[4]।

प्रजा को अत्याचारी राजा के वध का अधिकारी मानने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन शास्त्रकार प्रभुता या सार्वभौमता का स्रोत जनता को ही मानते थे। पर विद्रोह के सिवा इसके उपयोग का कोई शांतिमय उपाय न था। अत

---

१ अधर्मशीलो नृपतिर्यदा तं भीषयेज्जन ।
धर्मशीलान्विपक्षबद्रिपोराश्रयत सदा ॥ शुक्र, ४ १-२ ।

२ गुणनीतिबलद्वेषी कुलभूतोऽप्यधार्मिक ।
नृपो यदि भवेत्तं तु त्यजेद्राष्ट्रविनाशकम् ॥
तत्पदे तस्य कुलजं गुणयुक्तं पुरोहित ।
प्रकृत्यनुमतं कृत्वा स्थापयेद्राज्यगुप्तये ॥ शुक्र, २ २७४-५

३ अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम् ।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजा सन्नह्य निर्घृणम् ॥ म भा १३ ६१ ३२-३

४ देखिये 'सच्चंकिर' और 'पदकुसल माणव' जातक।

इसे वैधानिक अधिकार न कहकर विधनातीत ही कहना पड़ेगा। यह भी मानना होगा कि यह उपाय काम में लाना कठिन था।

अत्याचारी राजा के नियमन का अधिक सुलभ और व्यावहारिक उपाय होना चाहिये था, पर हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि प्राचीनकाल में किसी अत्याचारी राजा को गद्दी से उतारना या मारना बहुत कठिन भी न था। जातकों में इस प्रकार की घटनाओं के बहुत उल्लेख मिलते हैं। प्राचीन काल में एक ओर तो स्थायी और वेतनभोगी सेना का भी बहुत रिवाज न था दूसरी ओर ग्रामों और नगरों में लोकसेनाएँ भी रहती थीं जिनके शस्त्रास्त्र राजकीय हथियारों से किसी निम्नकोटि के न होते थे। अतः विद्रोह की सफलता की सम्भावना सर्वथा असम्भव न थी। देश में सामंतों और सरदारों की भरमार थी इनमें से या राज्य के मंत्रियों और उच्चपदाधिकारियों में से अत्याचारी राजा के प्रतिरोध के लिए नेता निकल ही आते थे। मौर्य और शुंग वंश के अंतिम शासकों और राष्ट्रकूट चतुर्थ गोविंद का अंत अत्याचार पीड़ित जनता, मंत्रियों और सामंतों के विद्रोह द्वारा ही हुआ। प्राचीन काल में अत्याचारी राजा के स्थान पर अच्छे शासक को बैठाना जनता के लिए उतना दुष्कर न था जितना आजकल है जब राज्य के पास टैंक विमान और अणु बम का बल है और जनता को अपने हाथ में अधिक से अधिक लाठी और तलवार का ही सहारा है।

अस्तु, राजशक्ति के साधारण प्रतिबंध, नरक और लोकमत की परवाह न करनेवाले राजा को, न्यायपथ पर रखने में असमर्थ थे। व्यावहारिकता और उपयोगिता की दृष्टि से वे आधुनिक लोक तंत्र और प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों के विधान की भी बराबरी न कर सकते थे। पर यह न भूलना चाहिये कि अति प्राचीन वैदिक काल में जब राज्य ग्रीक नगर राज्यों की भाँति छोटे होते थे, समिति जैसी लोकप्रिय संस्थाएँ राजाओं का उसी प्रकार नियमन करती थीं जैसे कोई आधुनिक प्रतिनिधि सभा कर सकती है। उस काल में राजा के लिए इससे बड़ी कोई विपत्ति कल्पित न की जा सकती थी कि समिति से उसका विरोध हो जाय[1]। परन्तु जब राज्य अधिकाधिक विस्तृत हो गये तब यातायात के शीघ्र और सुलभ साधनों के अभाव से समिति के सभासदों का एकत्र होना दुष्कर हो गया। हमें यह भी न भूलना चाहिये कि प्रतिनिधि मूलक लोक तंत्र की कल्पना, जिससे जनता का प्रतिनिधित्व केंद्रीय प्रतिनिधि सभा द्वारा

---

१ नास्मै समितिः कल्पते। अ० वे० ,५ १९ १५

होता है, ३०० वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। अत प्राचीन ग्रीस और रोम की भाँति यदि प्राचीन भारत में भी उसका अभाव हो तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

यह भी न समझना चाहिये कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने सब कुछ नरक के भय, लोकमत के प्रभाव या विद्रोह की सम्भावना पर ही छोड़ दिया था। उन्होंने ग्राम, नगर और प्रादेशिक पंचायतों और सभाओं को शासन के व्यापक अधिकार देकर और विविध कार्य सौंप कर शासन के विकेंद्रीकरण का प्रतिपादन मात्र ही नहीं उसे व्यावहारिक रूप भी दे दिया था[1]। इन संस्थाओं में जनता का पूरा हाथ रहता था और इनके माध्यम से ही राज्य प्रजा के सपर्क में आता था। राजा चाहे जितने ही कर लगा दे पर प्राय वसूली केवल उन्हीं की हो सकती थी जिसे ग्राम-सभा वसूल करने को तैयार होती थी। इन स्थानीय संस्थाओं को न्याय के भी पर्याप्त अधिकार थे जिससे राजा के हाथ से एक और विभाग निकल जाता था जो अत्याचार का प्रमुख साधन बन सकता था। स्थानीय संस्थाओं को अपनी सीमा में उगाहे जानेवाले भूमिकर तथा अन्य करों के पर्याप्त व्यय पर भी अधिकार रहता था, इनका उपयोग जनता की इच्छानुसार सार्वजनिक हित के कार्यों में किया जाता था। गाँव के अधिकारी भी अधिकतर राज्य से तनख्वाह लेनेवाले कर्मचारी न थे, प्राय उनका पद और अधिकार आनुवंशिक होता था। केंद्रीय सत्ता से सदर उपस्थित होने पर ये स्थानीय संस्था का ही साथ प्राय देते थे। अस्तु, ग्राम और नगर संस्थाएँ वस्तुत में छोटे छोटे प्रजातंत्र ही थे जिनमें जनता की ही चलती थी। अत अत्याचारी राजा का शासन साधारणतः राजधानी के परे न चल पाता था।

अस्तु राजा की शक्ति पर सबसे बड़ी रोक प्राचीन भारत में प्रचलित व्यापक विकेंद्रीकरण की ही थी। आधुनिक प्रकार के प्रतिबंध इसलिए न लगाये जा सके कि प्रतिनिधि तंत्र की कल्पना १६ वीं शताब्दी के पहले पूर्व और पश्चिम दोनों में अज्ञात थी।

---

1 नवम अध्याय देखो

अध्याय ६

गणराज्य या प्रजातन्त्र

पिछले अध्याय में हमने नृपतन्त्र का विवेचन किया है अब हम राज्य के दूसरे प्रकारों का जिसमें लोकतन्त्र गणतन्त्र और उभयगतन्त्र या अभिजनतन्त्र आदि आते हैं विवेचन करेंगे ।

कुछ लेखकों का मत है कि प्राचीन भारत में केवल नृपतन्त्र का ही प्रचलन था , जिन राज्यों को प्रजातन्त्र समझा जाता है ,वे वास्तव में जन राज्य या जाति राज्य थे । इस मत के अनुसार मालव गण और यौधेय गण का अर्थ मालव और यौधेय प्रजा तन्त्र नहीं वरन मालव और यौधेय (जाति राज्य है ।) परन्तु यह मत ठीक नहीं है यदि हम मान भी लें कि मालव और यौधेय गण या जातियाँ थीं तो भी इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि इनकी राज्य व्यवस्था प्रजातन्त्रात्मक थी । यह निर्विवाद सिद्ध है कि गण का अर्थ एक विशिष्ट राज्य व्यवस्था है जो नृपतन्त्र से नितान्त भिन्न है । मध्यदेश के कुछ व्यापारियों से दक्षिण के एक राजा ने पूछा कि आपके देश में कौन राजा राज्य करते हैं तो उन्होंने उत्तर दिया कि महाराज, हम में से कुछ ऐसे देश के हैं जहाँ राजा का राज्य है पर औरों के देश में गण तन्त्र की व्यवस्था है[1] । एक जैन ग्रन्थ में कहा गया है कि जैन साधु ऐसे देश में न जायँ जहाँ राजा न हो, या जहाँ युवराज का राज्य हो या जहाँ आपस में लड़नेवाले दो राजाओं (द्वैराज्य) का राज्य हो या जहाँ गणराज्य हो ।[2] इन दो उद्धरणों से स्पष्ट है कि गण का एक निश्चित वैधानिक अर्थ है और इससे ऐसे राज्य का बोध होता है जहाँ अधिकार एक आदमी के हाथ में न होकर गण अथवा अनेक व्यक्तियों के

---

१ देव केचिद्देशा गणाधीना केचिद्राजाधीना । अवदानशतक, २ पृ १०३

२ अरायाणि वा गणरायाणि वा जुवरायाणि वा दोरज्जाणि वा वेरज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा । आचारांग सूत्र, २ ३ १ १०१

हाथ में होता था। ठीक इसी अर्थ में 'सघ' शब्द का भी प्रयोग किया जाता था। अत जब सैकड़ों मुद्राएँ हमारे सामने हैं जिन पर के छोटे लेखों में यौधेय मालव और अर्जुनायन राजाओं का नहीं वरन उनके गण का उल्लेख है तो उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उनका तात्पर्य जन या जाति स नहीं वरन् गण या लोकतन्त्र राज्यव्यवस्था स है जिसकी ओर स उक्त मुद्राएँ जारी की गयी थीं।

मुद्रा लेखों और पारिभाषिक शब्दों के अतिरिक्त प्राचीन भारत में राज्यतन्त्र स भिन्न प्रकार के प्रजातन्त्रों का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए हमारे पास सम सामयिक यूनानी लेखकों के विवरणों का बहुमूल्य प्रमाण भी है। कुछ लोग इन प्रमाणों को सन्दिग्ध समझते हैं; वे कहते हैं कि यूनानी इतिहासकारों ने जबरदस्ती भारतीय राज्य व्यवस्था को अपने देश में प्रचलित व्यवस्था स मिलाने की चेष्टा की है। यह तर्क विचित्र है। प्राचीन यूनान में जितनी राजनीतिक सिद्धान्तों और मूलतत्वों की चर्चा और विवेचन और शासन व्यवस्था का अध्ययन और विश्लेषण हुआ था उतना अन्यत्र कहीं नहीं हुआ था। यूनानी इतिहास लेखकों ने प्राचीन भारत में नृपतन्त्र और अनेक प्रकार के प्रजातन्त्र दोनों देखे थ। वे स्वय लोकतन्त्र क समर्थक थे और कोई कारण नहीं कि वे झूठ-मूठ अपने शत्रुओं में ऐसी राज्यव्यवस्था का अस्तित्व सिद्ध करना चाहें जिसे वे अपने गौरव का विषय मानते थे। उनके लेखों क अध्ययन स सिद्ध होता है कि उन्होंने भिन्न प्रकार क राज्यों की विभिन्नता का बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया था। आम्भी और पुरु दोनों सिकन्दर के समकालीन राजा थे, यूनानी लेखकों का कथन है कि जब पुरु ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली तो सिकन्दर ने अपना जीता हुआ बहुत बड़ा भूमिभाग उसको प्रदान कर दिया, यूनानी इतिहासकार बड़े सावधानी स कहते हैं कि उस प्रदेश में प्रजातन्त्रात्मक राज्य व्यवस्था थी[2]। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि न्यासा के नगर राज्य में अल्पजनतन्त्र प्रचलित था[3]। वे आगे जाकर कहते हैं कि सबरक नामक प्रबल भारतीय जाति में प्रजातन्त्र था, नृपतन्त्र नहीं। व्यास नदी क पूर्व एक शक्तिशाली राज्य अवस्थित था जिसका शासन

---

१ बेनीप्रसाद, स्टेट। १६८-९। मॅक क्रिंडल, इन्वेजन ऑफ इंडिया बाइ अलेक्जेंडर द ग्रेट,
२ पृ १०८-९ २ वही पृ ८१ ३—वही पृ २५२, ४ – पृ. १११

उच्चवर्ग के हाथ में था जो जनता पर न्याय से और योग्यता से शासन करता था सिंधु नदी की घाटी में बहुत से प्रजातन्त्रीय राज्य थे मगर उनका वर्णन करने में यूनानी इतिहासकार जो वहाँ इनेगिने नृपतन्त्रात्मक राज्य थे उसका उल्लेख करना नहीं भूले हैं। वे लिखते हैं कि मुसिक राज्य पर एक राजा का राज्य है और पाटल में भिन्न कुल के दो राजाओं का राज्य है जो लोक समिति की सलाह से एक साथ राज्य करते हैं। जब हम देखते हैं कि यूनानी लेखकों ने शासन पद्धति और राज व्यवस्था की विभिन्नता का किस सूक्ष्मता से वर्णन किया है तब हमें उनके वर्णनों की प्रामाणिकता स्वीकार करनी ही पड़ती है और यह विचित्र तर्क अस्वीकार करना पड़ता है कि उन्होंने केवल यूनान से समता दिखाने के लिए अपने मन से भारत में प्रजातन्त्र राज्यों का वर्णन किया है। मैकक्रिण्डल का यह मत भी निस्सार है कि यूनानी लेखकों द्वारा वर्णित प्रजातन्त्रात्मक राज्य वास्तव में ग्राम संस्थाएँ थीं[1] यूनानी लेखकों ने तो ग्राम जीवन या ग्राम शासन का उल्लेख भी नहीं किया है। फिक का यह मत है कि ग्रीक लेखकों द्वारा वर्णित प्रजातन्त्र या स्वयशासित राज्य छोटी छोटी रियासतें या इक्के दुक्के नगर थे जो मगध जैसे बड़े बड़े साम्राज्यों के अड़ोस,पड़ोस में रहते हुए और किसी प्रकार अपनी स्वाधीनता को बनाये रख सके थे[2]। परन्तु यह मत भी ठीक नहीं है। एक तो सिकंदर के समय में पंजाब में कोई बड़ा साम्राज्य भी न था दूसरे उस समय के प्रजातन्त्रात्मक राज्य राजाओं द्वारा शासित राज्यों से कहीं अधिक विस्तृत और शक्तिशाली थे।

अभी तक हमने इन राज्यों के लिए प्रजातन्त्र शब्द का सामान्य प्रयोग किया है। अब हमें इनका प्रकृत स्वरूप निश्चित करना है। कुछ लेखक इनकी शासनसंस्था को केवल जाति या जन की पंचायत बताते हैं कुछ दूसरे उसको उच्चजनतन्त्र समझते हैं, कुछ ऐसे भी लेखक हैं जो इनमें विशुद्ध प्रजातन्त्र देखते हैं। अब हमें देखना है कि इनमें से कौन सा शब्द इनके विधान का ठीक ठीक वर्णन कर सकता है।

कुछ लेखकों का कहना है कि इन राज्यों को प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र कहना ठीक नहीं क्योंकि इनमें सारे अधिकार साधारण जनता के हाथ में नहीं बल्कि एक छोटे से उच्च वर्ग के लोगों के हाथों में ही रहते थे। हम जानते हैं कि यौधेयों का शासन ५००० व्यक्तियों की परिषद् के हाथ में था जिनमें से

---

१ मैकक्रिंडल, पृ ११९

२ फिक, सोशल कंडिशंस इन दि नार्थ ईस्टर्न इंडिया, पृ १४७

प्रत्येक के लिए राज्य को एक हाथी देना जरूरी था।[1] अस्तु, यह स्पष्ट है कि इस राज्य के शासक अमीर या उच्च वर्ग के सदस्य ही होते थे जिनमें एक एक हाथी दे सकने का सामर्थ्य था, जन साधारण का राज्य के शासन में कोई हाथ न था। शाक्यों और कोलियों के राज्य में भी यही स्थिति थी। समस्त जनता के जीवन से घनिष्ठ संबंध रखनेवाले संधि विग्रह जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न का निर्णय भी थोड़े से शाक्य और कोलिय राजाओं अर्थात् सरदारों के हाथ था। साधारण किसान और मजदूरों का काम केवल अधिकारी वर्ग के निश्चय को मानना और पूरा करना था।

इसमें संदेह नहीं है कि आजकल प्रजातंत्र और लोकतन्त्र का जो अर्थ है उस अर्थ में तो प्राचीन भारत के यौधेय, शाक्य, मालव और लिच्छवि गण राज्य लोकतन्त्र नहीं कहे जा सकते। आधुनिक काल के अधिकांश उन्नतिशील लोकतंत्र राज्यों की भाँति प्राचीन भारत के इन गण-राज्यों में शासन की बागडोर सामान्य जनता के हाथ में नहीं थी। फिर भी हम इन्हें प्रजातंत्र या गणतन्त्र कह सकते हैं। राजनीति के प्रमाणभूत ग्रंथों के अनुसार प्रजातंत्र राज्य वह है जिसमें सर्वोच्च शासन अधिकार राजतंत्र की भाँति एक व्यक्ति के हाथों में न होकर एक समूह गण या परिषद् के हाथ हो जिसके सदस्यों की संख्या चाहे कम हो या अधिक। इस प्रकार सरदारतंत्र उच्चजनतंत्र और प्रजातंत्र सभी लोकतन्त्र की श्रेणी में आते हैं। इसी प्रकार प्राचीन रोम, एथेंस, स्पार्टा, कार्थेज, मध्यकालीन वेनिस संयुक्त नेदरलैंड और पोलैंड सभी प्रजातंत्र माने गये हैं यद्यपि इनमें से किसी में भी आधुनिक लोकतन्त्र के सब लक्षण वर्तमान न थे। प्राचीन यूनान और रोम के प्रजातंत्र राज्यों में मतदान का अधिकार बहुत छोटे से अल्पसंख्यक समूह के हाथ में था जो स्वतंत्र नगर अधिकार रहित नागरिक और बहु संख्यक दास वर्ग पर शासन करता था। मध्य युग में वेनिस के प्रजातंत्र में कौंसिल की समाप्ति के बाद मताधिकार थोड़े से रईसों के हाथ में रह गया था और इन पर भी एक छोटे से गुट का बड़ा प्रभाव रहता था। संयुक्त नेदरलैंड के सात राज्यों पर शासक निर्वाचित 'स्टैडहोल्डर' होता था परंतु उसे चुनने का अधिकार भी बहुत थोड़े लोगों को था। आधुनिक काल में भी संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में लाखों नीग्रो चिरकाल तक मताधिकार से वंचित रहे हैं इंगलैंड में भी १९ वीं सदी के मध्य तक 'पाकेट बरो' पाये जाते थे जिनके सहारे सरदार लोग जिसे चाहे उसे निर्वा

1 मॅकक्रिंडल्, इन्वेजन ऑफ अलेक्जंडर दि ग्रेट, पृ १८१

चित कर सकते थे। और अभी हाल तक फ्रांस में स्त्रियाँ मताधिकार से वंचित थीं जिससे आधी फ्रेंच जनता चुनाव में भाग नहीं ले सकती थी।

अस्तु, शास्त्रीय और ऐतिहासिक दोनों आधारों से प्राचीन भारतीय गण राज्य प्रजातंत्र कहे जायेंगे उसी प्रकार जैसे प्राचीन रोम और यूनान के राज्य प्रजातंत्र कहे जाते थे। इन राज्यों में शासनाधिकार एक ही व्यक्ति अथवा मुट्ठीभर आदमियों के हाथ में नहीं वरन काफी बड़े वर्ग के हाथ में था। वैशाली का लिच्छवि गण राज्य आजकल के दो जिलों से बड़ा न था फिर भी उसके शासक वर्ग में ७७०७ आदमी थे। इस वर्ग के सदस्य क्षत्रिय होने के कारण 'राजा' कहे जाते थे। शबर ने स्पष्ट लिखा है कि क्षत्रिय और 'राजा' पर्यायवाची हैं[1]। उत्तरी पूर्वी भारत के प्रायः सभी गण राज्यों में शासन मंडल के सभासदों को राजा की पदवी देने की प्रथा थी[2]। इसी से अमरकोष[3] में 'राजन्यक' का अर्थ क्षत्रियों का गण राज्य बताया गया है, और वृष्णि अपने को राजन्य मानते क्षत्रिय गण कहते थे।[4]

अस्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय गणराज्यों में शासक वर्ग प्रायः क्षत्रिय होता था और संख्या में वह प्राचीन ग्रीस या रोम के प्रजातंत्र राज्यों के शासक वर्ग से अधिक नहीं तो कम भी न था। अतः जिस अर्थ में प्रामाणिक राजनीति ग्रंथों में प्राचीन यूनान या रोम के राज्य प्रजातंत्र कहे गये हैं उसी अर्थ में ये गणराज्य भी प्रजातंत्र थे। साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि ये आजकल के लोकतंत्र राज्यों की कोटि के नहीं थे, जिनमें अधिक से अधिक लोगों को मताधिकार दिया जाता है। प्राचीन गणराज्यों में राज नीतिक अधिकार अधिकतर क्षत्रियों के हाथ में ही था। अस्तु इस प्रकार के राज्यों को प्राचीन वाङ्मय और लेखों में गणराज्य कहा गया है, और आगे चलकर हम भी उनको उसी संज्ञा से निर्दिष्ट करेंगे।

अब हम अपने गणतंत्र राज्यों के विकास क्रम का अध्ययन करेंगे। हम देख चुके हैं कि वैदिक काल में नृपतंत्र ही सर्वत्र प्रचलित था। इस काल में

---

१ पू मी ६ ७ ३

२ लिच्छविकवृजिकमल्लकमद्रककुकुरकुरुपांचालादयो राज शब्दोपजीविन अर्थशास्त्र, एकादश भाग।

३ अथ राजकम्। राजन्यकं च नृपतिक्षत्रियाणां गणे क्रमात्॥

४ वृष्णिराजन्यगणस्य त्रय।

रार्य लोग नये नये प्रदेश पादाक्रांत कर रहे थे इसलिए उनको एकमुखी तृत्व की बड़ी आवश्यकता थी। मेगास्थीन ने जो लिखा है कि ४थी शताब्दी ई० पू० में भारत में एक परंपरा प्रचलित थी जिसके अनुसार प्रजातंत्र का विकास राजतंत्र के बाद माना जाता था[1]। पुराणों में बुद्ध के पूर्व की जो राज-वंशावली है उनसे प्रकट होता है कि ६ ठीं शताब्दी के मद्र, कुरु, पांचाल, शिवि और विदेह गणराज्य पहले नृपतंत्र ही थे।

ऋग्वेद के अंतिम सूक्त में प्रार्थना की गयी है कि समिति की मंत्रणा एकमुखी हो, सदस्यों के मन भी परस्परानुकूल हों और निर्णय भी सर्वसम्मत हों।[2] इस सूक्त का संकेत गणतंत्र की समिति की ओर भी हो सकता है पर साधारणतः समिति का संबंध राजा से ही रहता था। अतः इस बात में संदेह है कि इसका तात्पर्य गणतंत्र की केंद्रीय समिति से रहा हो। केवल इस सूक्त से ऋग्वेद काल में गणतंत्र का अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा।

एक अन्य स्थल पर राजाओं के समिति में एकत्र होने का वर्णन किया गया है[3]। दूसरे स्थान पर यह कहा गया है कि राजा वही हो सकता है जिसे अन्य राजा लोग स्वीकार करें[4]। यहाँ पर अन्य राजाओं का अर्थ संभवतः विशुपति है, और यह राज्य भी बाद के प्रजातंत्र राज्य के प्रकार का था। राजशक्ति सर्वसाधारण जनता के हाथ में न हो कर विशों के मुखियों के हाथ में थी। यदि इनके द्वारा स्वीकृत अध्यक्ष या अधिपति का पद आनुवंशिक हो जाता था तो राज्य नृपतंत्र में परिवर्तित हो जाता था। पर यदि विशुपति या सरदारों द्वारा स्वीकृत अधिपति के अधिकार की कालमर्यादा सीमित होती था और उसका पद आनुवंशिक न होने पाता था तो बाद में चलकर यही राज्य परवर्ती काल के क्षत्रिय गणराज्य के रूप में विकसित हो सकता था।

ब्राह्मण वाङ्मय के एक प्रसिद्ध उद्धरण में कहा गया है कि प्राच्यों के राजा 'सम्राट्' कहे जाते थे, सात्वतों के राजा 'भोज', तथा नीच्यों और अपाच्यों के राजा 'स्वराट्' कहे जाते थे, और उत्तर मद्र तथा उत्तर-कुरु आदि हिमालय के उत्तर के प्रदेशों में 'वैराज्य' व्यवस्था थी और यहाँ के लोग 'विराट्'[1] शब्द

1　इस प्रकार कई पीढ़ियाँ बीतने पर नृपतंत्र समाप्त हुआ और उसका स्थान प्रजातंत्रात्मक शासन ने लिया। परिशिष्ट अध्याय ९।

2　समानो मंत्र समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। १० १९१,३

3　यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। ऋ वे, १० ९७ ६

4　यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न।
श प ब्रा, ९ ३ २ ५

से संबोधित किये जाते थे[१]। 'स्वराट्' और 'भोज' उपाधियों के अर्थ के विषय में कुछ मतभेद है[२]। पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि उत्तर-कुरु और उत्तर मद्र के 'वैराज्य' गणतंत्र ही थे क्योंकि 'विराट्' संबोधन उनके राजाओं का नहीं वरन् 'नागरिकों' का है और अभिषेक राजा का नहीं जनता का होता था[३]। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि उत्तर कुरुओं और उत्तर मद्रों के देश में ४थी सदी ईसवी तक गणतंत्र व्यवस्था ही प्रचलित थी।

ऐतिहासिक काल में भारत के उत्तरी पश्चिमी और उत्तरी पूर्वी भूभागों में गणतंत्र राज्य कायम थे। पर दक्षिण में किसी गणतंत्र राज्य का पता नहीं चलता यद्यपि उत्तर भारत की अपेक्षा वहाँ स्थानीय शासन में जनता का हाथ कहीं अधिक था। अब हम ऐतिहासिक काल के विविध गणतंत्र राज्यों पर दृष्टिपात करेंगे और उत्तर-पश्चिम से शुरू करेंगे[४]।

---

१ ये के च प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते विराडित्येतानभिषिक्तानाचक्षते। ऐ० ब्रा०, ७, ३ १४

२ डा० जायसवाल का मत है कि ये प्रजातंत्र राज्य थे, पर यह संभव नहीं प्रतीत होता। हिंदू पॉलिटी, १ ८०-१

३ सायण प्रजातंत्र राज्यों के अस्तित्व से अनभिज्ञ थे अतः उन्होंने वैराज्य का अर्थ 'इतरेभ्यो भूपतिभ्य श्रैष्ठ्यम्' किया है। महाभारत (१२ ६७ ५४) में 'विराट्' राजा का एक पर्याय माना गया है। पर यदि विराट् का अर्थ 'विशेषेण राजा' हो सकता है तो वि (बिना) राजा भी हो सकता है। 'वैदिक इंडेक्स' में वैराज्य भी राजशक्ति का एक प्रकार कहा गया है पर वैराज्य में यदि पूरी जनता का अभिषेक होता था तो स्पष्ट है कि राजशक्ति अनेक आदमियों के हाथ में थी।

४ प्राचीन भारत के गणतंत्र राज्यों का वृत्तान्त उत्तर पश्चिम में मुख्यतः ग्रीक लेखकों और उत्तर पूर्व में बौद्ध ग्रंथों से ज्ञात होता है। पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, जयादित्य और वामन आदि वैयाकरणों से भी बहुत सहायता मिलती है क्योंकि इनके ग्रंथों में राजनीतिक विधान संबंधी बहुत से शब्दों की व्युत्पत्ति सिद्ध की गयी है। महाभारत में भी दो अध्यायों में इन राज्यों के विधान और उनके गुण दोषों की सहानुभूति पूर्वक चर्चा की गयी है (१२ ८१, १०७) अर्थशास्त्र ने मुख्यतः गणों

क्र पृ ८

५०० ई० पू० से ४०० ई० तक पंजाब और सिंधु की घाटी में गणतंत्र राज्यों का ही बोलबाला था। उनमें से कुछ ऐसे भी हैं कि जिनके केवल नाम ही वैयाकरणों के ग्रंथों में हमें मिल जाते हैं पर उनके बारे में दुर्भाग्यवश हम और कुछ नहीं जानते। इस श्रेणी में वृक, दामणि, पार्श्व और मबोज हैं। पाणिनि के समय में त्रिगर्त षष्ठ छ गणतंत्रों का राज्यसंघ था, काशिका (१००० वर्ष बाद रचित) के अनुसार ये छ राज्य कौंडोपरथ, दाण्डकि, क्रौष्टकि, जालमानि, ब्राह्मगुप्त और जानकि थे। सम्भवतः उन्होंने अपनी मुद्रा भी चलायी थी जिस पर 'भक्त (त्रिगर्त) जनपदस्य' 'त्रिगर्त देश की मुद्रा' ऐसा लेख पाया जाता है[1]। सम्भवतः यह गणसंघ जलंधर दोआब में स्थित था और बाद में इसका 'कुणिंद' नामांतर हुआ। कुणिंदों की मुद्राएँ बड़ी संख्या में मिली हैं। कुणिंद राज्य दूसरी सदी ईस्वी तक वर्तमान था और कुषाण साम्राज्य[2] को नष्ट करने में इससे यौधेयों को बहुत सहायता मिली।

आधुनिक आगरा जयपुर प्रदेश में लगभग २०० ई० पू० से ४०० ई० तक अर्जुनायन गणतंत्र कायम था। इसकी मुद्राएँ भी मिली हैं। इन पर किसी राजा का नाम नहीं है केवल इतना ही लिखा है 'अर्जुनायनानाम् जय' 'अर्जुनायनों का जय हो'। मुद्राओं का समय अनुमानतः १०० ई० पू० है पर गणतंत्र इससे कहीं पुराना रहा होगा क्योंकि उसका शासक वर्ग अपनी उत्पत्ति महाभारत के प्रख्यात योद्धा 'अर्जुन' से मानता था। इनका यौधेयों से जो अपने को धर्मराज युधिष्ठिर के वंशज मानते थे, बहुत सहयोग रहा करता था।

यौधेय गणतंत्र काफी बड़ा राज्य था। इसकी मुद्राओं के प्राप्ति स्थानों से ज्ञात होता है कि इसका विस्तार पूर्व में सहारनपुर से पश्चिम में भावलपुर तक और उत्तर पश्चिम में लुधियाना से दक्षिण-पूर्व में दिल्ली तक रहा होगा। यह तीन गणतंत्रों का राज्यसंघ था। इनमें से एक की राजधानी पंजाब में रोहतक थी। दूसरे के शासन में उत्तर पांचाल का उपजाऊ 'बहुधान्यक' प्रदेश था और तीसरे की सीमा में सम्भवतः राजपूताना का उत्तरी भूभाग था।

(७४ पृष्ठ से)

और संघों की शक्ति भंग करने के उपायों पर विचार किया है पर इसी सिलसिले में इनके विषय की बहुत सी बातें मालूम हो जाती हैं।

१ एलन, कॉइन्स ऑफ ऐंशियेंट इंडिया, चित्रफलक ३९ १०, इन मुद्राओं के लेखों से गणतंत्र का अस्तित्व सिद्ध होता है।

२ मजूमदार और आल्तेकर—दि एज ऑफ वाकाटक एंड गुप्ताज़, अध्याय २

सिकंदर के वृत्तलेखकों ने लिखा है कि व्यास पार एक उपजाऊ देश था जिसमें वीर लोग रहते थे और जिसके शासन की बागडोर उच्चवर्ग के हाथ थी। यह गणतन्त्र निस्सन्देह यौधेय गणतन्त्र ही था और उसका प्रभाव उस समय सर्व विख्यात था। यौधेय अपनी अप्रतिम वीरता के लिए प्रख्यात थे। ये देवसेना के सेनानी कार्तिकेय को अपनी कुलदेवता मानते थे और इसीलिए उनके वाहन के नाम पर 'मत्तमयूरक' विशेषण धारण करते थे[1]। इनके पराक्रम और शक्ति का वर्णन सुनकर ही सिकंदर के सैनिक दहल गये थे और उन्होंने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया था। प्रथम शताब्दी ईसवी में कुषाण सम्राट् कनिष्क ने इनका पराभव किया पर अधिक समय तक कुषाण इन्हें अपने काबू में नहीं रख सके। रुद्रदामा के शिलालेख के शब्दों में 'अपने पराक्रम के लिए समस्त क्षत्रियों में अग्रगण्य' इन अभिमानी वीरों ने शीघ्र सिर उठाया[2] और २२५ ई० तक न केवल इन्होंने अपनी खोयी हुई स्वतन्त्रता ही पुनः प्राप्त कर ली वरन् कुषाण साम्राज्य को ऐसा धक्का दिया जिससे वह फिर सम्हल न सका[3]। ३५० ई० तक यह गणतन्त्र वर्तमान था, पर इसके बाद का इतिहास ज्ञात नहीं है।

मध्य पंजाब के मद्रों का भी एक गणराज्य था। मद्र लोग संभवतः कठों से भिन्न न थे जिनके प्रजातन्त्रात्मक राज्य का उल्लेख सिकंदर के वृत्त लेखकों ने किया है। इनकी राजधानी स्यालकोट थी। शत्रु के सम्मुख सिर झुकाकर प्राण बचाने से इन्होंने अंत तक सिकंदर के विरुद्ध लड़ते लड़ते मर जाना ही अच्छा समझा। इनका गणराज्य ४थी सदी ईसवी तक वर्तमान था।

मालव और क्षुद्रक उन गणतन्त्रों में अग्रगण्य हैं जिन्होंने सिकंदर के अभियान का प्रबलतम प्रतिरोध किया था। इस समय मालव चेनाब और रावी के बीच वाले तथा उससे कुछ दक्षिण के प्रदेश में बसे थे और क्षुद्रक उनके दक्षिणी पड़ोसी थे[4]। सिकंदर का सामना करने के लिए उन्होंने संयुक्त योजना बनायी थी पर दोनों सेनाओं के मिलने के पहले ही सिकंदर मालवों पर टूट पड़ा। मालवों के पास १ लाख लड़ाके थे और उन्होंने जमकर यूनानियों से लोहा लिया, यहाँ तक कि मालवों के एक गढ़ पर हमला करते समय सिकंदर के प्राण जाते जाते

---

१ महाभारत, ५ ३५ ३–४।

२ जूनागढ़ का शिलालेख।

३ मजुमदार और अल्तेकर—दि एज ऑफ वाकाटकाज एंड गुप्ताज, पृ २८ ३२

४ मैकक्रिंडल, इन्वेज़न ऑफ अलेग्ज़ैंडर, पृ० १३८

बचे। अंत में मालवों और क्षुद्रकों को संधि प्रार्थना करनी पड़ी। पर इस संकट से सबक सीखकर दोनों राज्यों ने जो राज्यसंघ स्थापित किया वह कई शताब्दियों तक कायम रहा। महाभारत में अनेक बार मालव और क्षुद्रकों का उल्लेख साथ साथ पाया जाता है[1]। और वैयाकरणों ने इन दोनों नामों से बने हुए एक विशेष रूप के 'द्वंद्व समास' का उल्लेख किया है। आगे चलकर क्षुद्रक पूर्ण रूप से मालवों में मिल गये। १०० ई० पू० के आसपास मालव अजमेर-चित्तौड़-टोंक प्रदेश में आकर बसे और आगे बढ़ते हुए ४०० वर्ष बाद मध्य हिंदुस्तान के प्रदेश में गये जिसे अब मालवा कहा जाता है। १५० ई० के करीब शकों ने उन्हें पराजित किया पर २२५ ई० तक वे फिर स्वतंत्र हो गये। मालव भी रामचंद्र के प्रख्यात इक्ष्वाकु वंशज होने का दावा करते हैं। उनकी ताँबे की मुद्राएँ भी बहुतायत से मिलती हैं। इन पर किसी राजा का नाम न होकर 'मालवों की जय' लिखा है।

सिकंदर के वृत्तलेखकों द्वारा वर्णित मालवों के पड़ोसी गणतंत्र 'अगेसिनाइ' और शिबियों का ठीक स्थान निश्चित नहीं है। शिबियों का राज्य पहले नृपतंत्र या बाद में गणतंत्र में परिवर्तित हुआ। १०० ई० पू० तक वे राजपूताने में चित्तौर के पास मध्यामिका में आकर बस गए थे। यहाँ उनके गणतंत्र का स्पष्ट निर्देश करनेवाली मुद्राएँ बहुत बड़ी संख्या में मिली हैं[2]।

क्षुद्रकों के पड़ोस में अम्बष्ट गणतंत्र भी था। यूनानी इतिहासकार कर्टियस ने स्पष्टतः उनके राज्य को प्रजातंत्र (Repulic) कहा है। इनकी सेना में ६० हजार पदाति, ६ हजार घुड़सवार और ५०० रथ थे, सिकंदर का सामना करने के लिए इन्होंने तीन सेनानी चुने थे, पर अंत में अपने वृद्धों की सलाह मानकर उन्होंने सिर झुका दिया। इसके भी बाद के इतिहास का कुछ पता नहीं।

द्वारिका (काठियावाड़) के अंधक वृष्णियों का राज्य भी गणतंत्र था। इसका अस्तित्व प्रागैतिहासिक काल से हो या, महाभारत में इसका उल्लेख किया गया है। अर्थशास्त्र में काठियावाड़ के 'संघ' माने गणराज्यों के उल्लेख से पता चलता है कि इस प्रदेश में गणतंत्र की परंपरा कायम रही।

बौद्धों के त्रिपिटक और भाष्यों से पता चलता है कि वर्तमान युक्त-

---

१ २ ७६ १०, २ ८७ १८

२ इन मुद्राओं पर यह लेख है 'मज्झिमिकाय सिबिजनपदस।' एलन—कॉइन्स ऑफ एन्शंट इंडिया पृ० १२७

प्रांत के गोरखपुर और उत्तरी बिहार के प्रदेशों में भी अनेक गणतन्त्र वर्तमान थे। इनमें से भग्ग, बुली, कोलिय और मोरिय राज्य तो आधुनिक तहसीलों से बड़े न थे। शाक्य, मल्ल, लिच्छवि और विदेह राज्य कुछ बड़े थे पर सब मिलाकर भी इनका विस्तार लंबाई में २०० और चौड़ाई में १०० मील से अधिक न था। पश्चिम में गोरखपुर से पूर्व में दरभंगा तक और उत्तर में हिमालय से दक्षिण में गंगा तक इन गणराज्यों का विस्तार था। इन चारों में शाक्यों का राज्य सबसे छोटा था। यह गोरखपुर जिले में स्थित था इसके पूर्व में मल्लराज्य स्थित था। इसका विस्तार पटना जिले तक था। इसके बाद लिच्छवि और विदेह राज्य थे[1]।

शाक्य राज्य की शासन व्यवस्था के बारे में कुछ संदेह है। बौद्ध ग्रंथों के कुछ उल्लेखों से जान पड़ता है कि यहाँ नृपतन्त्र था। बुद्ध के समय में भद्दीय यहाँ का राजा था, उसने जब संघ में प्रवेश करने का निश्चय किया तो अपने राज्य के उत्तराधिकारी की व्यवस्था करने के लिए एक सप्ताह का समय माँगा। पर हम देख चुके हैं कि पूर्वी भारत के इन क्षात्रय गणतन्त्रों का प्रत्येक सदस्य 'राजा' कहलाने का अधिकारी था। भद्दिय भी संभवत इसी अर्थ में राजा हुआ होगा। जातकों में शाक्यों के संथागार का वर्णन है जहाँ एकत्र होकर वे संधि विग्रह आदि महत्वपूर्ण विषयों पर विचार किया करते थे। इनमें संपूर्ण शाक्य प्रदेश पर राज्य करनेवाले किसी आनुवंशिक राजा का उल्लेख नहीं है।

इसमें तो कुछ भी संदेह नहीं कि बुद्ध के जीवन काल में मल्ल, लिच्छवि और विदेह राज्य गणतन्त्र थे। उनके पड़ोसी मगध और कोशल के राजा उन्हें जीतने का बारबार प्रयत्न करते थे इसलिए अपनी रक्षा के लिए ये गणतन्त्र अपना एक संयुक्त राज्यसंघ बीचबीच में बनाते थे कभी लिच्छवि मल्लों से मिल जाते थे तो कभी विदेहों से। पर ५०० ई० पू में मगध ने मल्ल और विदेह राज्यों को जीत लिया। लिच्छवियों को भी मगध साम्राज्य के आगे नतमस्तक होना पड़ा पर २०० ई० पू० तक वे पुन स्वतन्त्र हो गये। ४ थी

1 अस्तु, यह प्रकट हो जाता है कि ये गणतंत्र राज्य ग्रीस के नगर राज्यों से बड़े न थे। सबसे बड़े नगर राज्य स्पार्टा का क्षेत्रफल ३३६० वर्गमील था, लिच्छवि राज्य का विस्तार भी प्राय इतना ही था। अपने चरम उत्कर्ष के समय एथेंस का विस्तार लगभग १०६० वर्ग मील था, शाक्य राज्य का विस्तार भी प्राय इतना ही था।

सदी ईसवी में लिच्छवि राज्य अत्यंत शक्तिशाली था और गुप्त साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त को उनसे वैवाहिक संबंध करने से अपने उत्थान में बहुत मदद हुई।

अब हम प्राचीन भारतीय गणतंत्रों के विधान और उनकी शासन-व्यवस्था का विवेचन करेंगे। हमारी कठिनाई यह है कि इस विषय पर सामग्री बहुत कम है। अतः विभिन्न काल के और विभिन्न प्रदेशों के अनेक गणतंत्रों के संबंध की बिखरी बातें जोड़कर हमें उनके विधान की एक रूपरेखा बनानी है। यद्यपि यह तरीका बहुत अच्छा नहीं पर दूसरा कोई रास्ता भी नहीं है।

यह तो स्पष्ट ही है कि मोरिय, कोलिय शाक्य आदि छोटे छोटे थोड़े से गाँवोंवाले गणतंत्रों की शासन-व्यवस्था यौधेय, मालव आदि सैकड़ों ग्रामों और दर्जनों नगरों वाले विशाल गणतंत्र राज्यों से बहुत भिन्न होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर-पूर्व के इन छोटे छोटे गणतंत्रों की केंद्रीय समिति के सदस्य अधिकतर राजधानी में ही रहते थे और वहीं संथागार याने सभा भवन में एकत्र होकर राजकाज के विषयों पर निश्चय किया करते थे। वे संख्या में ... थे और उनमें से प्रत्येक सदस्य को राजा और उसके पुत्र को उपराजा की उपाधि दी जाती थी[1]। संभवतः इन 'राजा' लोगों की देहातों में कुछ जमींदारी हुआ करती थी जिसका प्रबंध उनके कारिंदे करते थे। शासक वर्ग के अतिरिक्त साधारण प्रजा में कृषक भृत्य, दास कारीगर आदि सम्मिलित थे जो बहुसंख्यक होने पर भी सत्ताहीन रहते थे। जब रोहिणी नदी के जल के ऊपर कोलियों और शाक्यों के किसानों और भृत्यों में झगड़ा हुआ तो उन्होंने अपने अपने राज्य के कर्मचारियों को खबर दी और इन्होंने अपने 'राजाओं' को समाचार पहुँचाया। इससे प्रकट होता है कि संधि विग्रह आदि महत्वपूर्ण सार्वजनिक

---

1 तत्थ निच्चकालं रज्जं कारेत्वा वसन्तानं येव राजूनं सत्तसहस्सानि सत्तसतानि सत्त च राजानो होन्ति तत्तका येव उपराजानो तत्तका सेनापतिनो तत्तका भण्डागारिका। जा० १ पृ० ५०४। इस वाक्य का अर्थ जो ऊपर किया गया है वही ठीक मालूम पड़ता है। डा० भांडारकर का कहना है कि ऊपर उद्धृत वाक्य एक ऐसे राज्य संघ का संकेत करता है जिसमें घटक ७७०७ राज्य थे, जिनमें हरेक राज्य का पृथक् राजा, युवराज इत्यादि रहते थे। कारमाइकल लेक्चर्स, १९१८, पृ० १२५। इस वाक्य पर डा० मजुमदार के भाष्य के लिए देखिए, कॉर्पोरेट् लाइफ्, पृ० ९१-४ (प्रथम संस्करण)

विषयों पर निर्णय देने का अधिकार उच्चवर्गीय 'राजा'ओं को था जन साधारण को नहीं। परन्तु शाक्य राज्य में छोटे छोटे कस्बों और ग्रामों में भी पंचायतें होती थीं जिनके सभा भवन (सथागार) का उल्लेख बौद्ध वाङ्मय में मिलता है[१]। संभवत: इन ग्राम पंचायतों में सब वर्गों के लोगों को प्रवेश और शासनाधिकार मिलता था।

यौधेय, मालव, इत्यादि विशाल गण राज्यों की व्यवस्था स्वभावतः बहुत भिन्न थी। विस्तृत होने के कारण वे अनेक प्रांतों में विभाजित रहते थे जिनके शासक संभवत उच्चवर्ग से ही चुने जाते थे। राज्य के बहुसंख्यक नगरों का एक अलग शासन विभाग था। उनको स्थानीय विषयों में पूरा अधिकार था और इनका शासन प्रबंध स्थानीय नेताओं के ही हाथ में था। दुर्भाग्य वश यह पता नहीं कि नगर परिषदों का संघटन किस प्रकार का था। संभव है कि इनमें भी उच्च वर्ग की ही प्रधानता रही हो, पर नृपतंत्र राज्यों की नगर परिषदों के बारे में जो विश्वसनीय वृत्तांत उपलब्ध है उससे ज्ञात होता है कि इनमें साधारण वर्ग के व्यापारियों, कारीगरों और किसानों का भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व रहता होगा। राज्यों में फैले हुए सैकड़ों गांवों की पंचायतों में तो सामान्य जनता के हाथ में ही प्राय सर्वसत्ता रहती थी। संभव है कि गाँव का मुखिया शासक वर्ग का ही होता हो। राज कर्मचारी भी अधिकतर इसी वर्ग के होते रहे हों पर ग्राम पंचायतों के अत्यधिक सदस्य साधारण श्रेणी के और हर जाति तथा वर्ग के होते थे।

इन गणतंत्रों में शासन का सर्वोच्च अधिकार केंद्रीय समिति के ही हाथों में था। जिसके सदस्यों की संख्या काफी बड़ी होती थी। यौधेयों की समिति में ५,००० और लिच्छवियों की समिति में ७७०७ सदस्य थे[२]। क्षुद्रकों ने अपने १५० प्रमुख नेताओं को सिकंदर से संधिवार्ता के लिए भेजा था, उनकी समिति की सदस्य-संख्या इसकी कई गुनी रही होगी। ये संख्याएँ बहुत बड़ी जान पड़ती हैं पर स्मरण रखना चाहिये कि इसी समय यूनान में एथेनियन असेंबली में ४२००० नागरिक थे और हरएक को उसकी बैठक में शामिल होने का अधिकार था। पर वास्तविक व्यवहार में वहाँ ऐसा नहीं होता था।

---

१ चातुमा गाव का सथागार का उल्लेख बौद्ध वाङ्मय में मिलता है।
म नि, १ पृ ४५०

२ वैशाली की पूरी जनसंख्या लगभग १,६८,००० थी, ऐसा मालूम होता है। जातक, १ पृ २०१

देहात के सदस्य हरेक मामूली बैठक में शामिल होने के लिए समय और धन का व्यय करना न पसंद करते थे। साधारणतः दो तीन हजार सदस्य उपस्थित होते थे जो पूरी संख्या कि ७-८ की सदी से अधिक न थे। लिच्छवि और यौधेय समिति के सदस्य समस्त गणतंत्र के मूल संस्थापकों के वंशज थे, वे सब 'राजा' कहलाने के अधिकारी थे, इनमें से कुछ राजधानी में रहते थे, कुछ राज्य के विभिन्न पदों पर थे और शेष राज्य के देहातों में रहते थे। इन सबको समिति में शामिल होने का अधिकार था पर मुश्किल से एथेंस की भाँति १० प्रतिशत ही उपस्थित होते रहे होंगे। जब कि व्यासा जैसे छोटे से नगर राज्य की परिषद् में ३० सदस्य थे तब यौधेय ऐसे विशाल गणतंत्र की केंद्रीय समिति में ५००० सदस्य रहे हों तो आश्चर्य ही क्या। हमें यह भूलना न चाहिये कि शासक वर्ग का प्रत्येक सदस्य अपनी वंश परंपरा से समिति की सदस्यता का अधिकारी था, हरेक को अपने आभिजात्य और ऊँचे पद का इतना अभिमान था कि प्रतिनिधित्व का सिद्धांत उन्हें ज्ञात भी होता तो भी, प्रतिनिधि नियुक्त करने का विचार उनके मन में आ ही न सकता था।

डा० जायसवाल का मत है कि कुछ गणतंत्रों में व्यवस्थापिका सभा के अमीर सभा[1] और सामान्यसभा ऐसे दो भाग होते थे[2]। पर यह बहुत असंभव प्रतीत होता है। हम देख चुके हैं कि केंद्रीय समिति में केवल उच्चवर्ग के लोग रहते थे। उनको अपने कुल और हैसियत का बड़ा गर्व था, अपने से श्रेष्ठ सभा की कल्पना भी कदापि सहन न करते। सामान्य श्रेणियों के लोगों को सभा ही अस्तित्व में न था। जिन 'वृद्धों' या अगुओं की सलाह पर अम्बष्ठों ने सिकंदर की अधीनता स्वीकार करने का निश्चय किया वे किसी अमीर सभा के सदस्य नहीं वरन् अपने वर्ग के वयोवृद्ध और अनुभवी लोग थे।

अस्तु, गणतंत्रों में सर्व शासनाधिकार केंद्रीय समितियों में निहित थे इन्हें अपने अधिकार और शक्ति का बड़ा ध्यान रहता था। ये केवल मंत्रिमंडल के सदस्यों का ही नहीं वरन् सेना के नायकों का भी निर्वाचन करती

१ अमीर सभा = House of Lords or Upper House

२ हिंदू पालिटी पृ ८४—'संघे चानुत्तराधें' (पाणिनि ३ ३ ४२) इस सूत्र का तात्पर्य व्यवस्थापिका समिति के दो स्तरों से नहीं है न इसका राज्य विधान से ही संबंध है, बल्कि इसमें तो ब्राह्मण और श्रमणों के समूह तथा पशुओं के यूथ का उल्लेख करके बताया गया है कि एक के सदस्यों का स्थिति में अंतर है दूसरे में नहीं।

थीं। सिकन्दर के अभियान की खबर मिलने पर अम्बष्ठों ने तीन प्रख्यात योद्धाओं को अपनी सेना का नेतृत्व करने के लिए चुना। रोमन सीनेट की भाँति ये समितियाँ भी हरेक युद्ध के लिए अलग अलग सेनापति नियुक्त करती थीं। कम से कम शुरू में तो सेनापति युद्ध के समय उसी युद्ध के लिए नियुक्त किये जाते थे, इससे किसी एक सेनापति द्वारा राज्य पर कब्जा करने की आशंका न रह सकती थी। जो परिपाटी अम्बष्ठों में ४०० ई० पू० में थी वही यौधेयों में ई० चौथी सदी में भी थी, क्योंकि गुप्त काल के एक लेख में यौधेय गण द्वारा एक सेनापति के पुरस्कृत (निर्वाचित) किये जाने का उल्लेख है[1]। पर धीरे धीरे यह पद भी आनुवंशिक हो गया। २२५ ई० में जिस मालव सेनापति ने अपने राज्य की खोयी हुई स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त की थी उसके वंश में लोग तीन पीढ़ियों से सेनापति होते आये थे[2]। पर ये सेनापति कभी भी राजा या महाराजा जैसी राजत्व सूचक उपाधि धारण न कर पाते थे।

बौद्ध ग्रंथों से ज्ञात होता है कि गणतंत्रों की केंद्रीय समितियाँ परराष्ट्र नीति पर पूरा अधिकार रखती थीं। विदेशी राज्यों से आनेवाले राजदूतों से मिलकर उनके प्रस्तावों पर विचार करती थीं और संधि विग्रह के प्रश्न का निपटारा करती थीं[3]। संकट के समय यह अधिकार समिति के प्रमुख नेताओं को दे दिया जाता था, क्षुद्रकों ने सिकन्दर के पास अपने जो डेढ़ सौ दूत भेजे थे वे वास्तव में उनकी केंद्रीय समिति के प्रमुख सदस्य थे और उन्हें चर्चा करके संधि करने का पूरा अधिकार दिया गया था[4]। कुछ शास्त्रकारों का मत है कि राज्य के लिए केंद्रीय समिति में संधि विग्रह ऐसे नाजुक प्रश्नों पर प्रकट चर्चा होना अहितकर है इन प्रश्नों का निर्णय गण मुख्यों पर ही छोड़ देना चाहिए। संभव है कि कुछ गणतंत्रों ने अपनी मंत्रणा गुप्त रखने के विचार से यह प्रथा अपनाई हो पर उनकी संख्या अधिक न थी क्योंकि विधान शास्त्रियों ने गणतंत्र राज्यों का यह बहुत बड़ा दोष बताया है कि वे अपनी मंत्रणा गुप्त न रख सकते थे।

---

१ फ्लीट, कॉ इ इ ३ पृ २५२

२ संभवतः एपि इ भा २७ में यह लेख प्रकाशित होगा।

३ जातक, भाग ४, १४५ (सं ४६५) रॉकहिल—लाइफ आफ बुद्ध, पृ ११८–९

४ मैक्क्रिंडल, अले इन, पृ २८४।

५ न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत।
गणमुख्यैस्तु संभूय कार्यं गणहितं मिथः॥ म भा, १२ १०७ २४

सरकार पर समिति का नियंत्रण

साधारण तौर पर गणतंत्र राज्यों की सरकार पर केंद्रीय समिति का पूरा नियंत्रण रहता था। अंधकवृष्णि संघ के प्रधान श्री कृष्ण नारद से शिकायत करते हैं कि—मैं ज्ञाति का (समिति का) दास हूँ स्वामी नहीं और मुझे आलोचकों के कटु वचन सुनने और सहने पड़ते हैं[1]। अर्थ शास्त्र (एकादश भाग) से पता चलता है कि संघ-मुख्य (अध्यक्ष) या शासन परिषद के सदस्य सांघिक धन का दुरुपयोग या नियम का उल्लंघन करने पर राज्य के न्यायालय द्वारा दंडित और पदच्युत किये जा सकते थे। यह भी प्राय निश्चित है कि ऊँचे पदाधिकारियों और प्रादेशिक शासकों की नियुक्ति भी केंद्रीय समिति द्वारा ही की जाती थी, यद्यपि इस विषय का कोई उदाहरण हमें नहीं मिलता। इसी कारण इस संस्था के सदस्यों में सदा लाग डाँट रहा करती थी।

संथागार (सभागृह) केवल राजकाज करने का ही स्थान नहीं था, उसमें बीच-बीच में गोष्ठी भी जुड़ती थी जिसमें सामाजिक और धार्मिक विषयों पर चर्चा होती थी। कुशीनार के मल्लों ने अपने संथागार में ही एकत्र होकर भगवान् बुद्ध के अन्त्येष्टि संस्कार के विषय पर विचार किया था। इन्हीं मल्लों और लिच्छवियों ने भगवान् बुद्ध से अपने नवनिर्मित संथागारों में उपदेश देकर उसके उद्घाटन करने की प्रार्थना अनेक समय पर की थी।

इस प्रकार के सामाजिक या धार्मिक अवसरों पर संथागार में सभा के समय भले ही शांति रहती हो पर महत्वपूर्ण राजनीतिक विषयों के विचार के समय यह शांति न रहती थी। आजकल की म्युनिसिपल्टियों और पार्लमेंटों की भाँति इन समितियों में भी दल बंदी का बहुत जोर रहता था। यहाँ तक कि बौद्ध ग्रंथों, अर्थ शास्त्र और महाभारत में गणतंत्रों में आपस का ईर्ष्याद्वेष और दलबंदी की प्रबलता ही उनकी सबसे बड़ी कमजोरी बतलाई गयी है। बुद्ध और नारद जो गणतंत्र व्यवस्था के समर्थक थे इन्हें आपस के झगड़ों से बचने का उपदेश देते हैं और उसका उपाय भी बताते हैं[2]। कौटिल्य इस व्यवस्था के विरोधी थे अतः उन्होंने बहुत से ऐसे अनुचित उपाय बताये हैं जिनसे गणतंत्रों में फूट डालकर उनका विनाश किया जा सके। (अर्थ शास्त्र ११)

---

१ दास्यमैश्वर्यभावेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्।
अर्धभोक्तास्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे॥ म भा, १२ ८१ ५

२ डायलॉग्स ऑफ बुद्ध, भा २, पृ ८०, म भा, १२ ८१

दलबंदी का कारण प्राय सदस्यों की आपसी ईर्ष्या और अधिकार लोलुपता थी। आजकल की भाँति उस प्राचीन काल में भी संघ के सदस्य अधिकार प्राप्ति के लिए गुट बनाया करते थे। दौड़ धूप करनेवाले, गुट बंदी में निपुण और भाषणपटु व्यक्ति अधिकार प्राप्ति में सफल सिद्ध होते थे[1]। जब दलों की शक्ति बराबर बराबर रहती थी तो छोटे छोटे गुटों को सरकार को बनाने और बिगाड़ने का अवसर मिल जाता था। कुछ लोग अपनी दुष्टता के कारण ही प्रभावशाली बन जाते थे, पक्ष और विपक्ष सभी उनसे घबड़ाते थे। अंधक वृष्णि संघ में आहुक और अक्रूर इसी प्रकार के महानुभाव थे[2]। आज कल की भाँति उस समय भी अधिकारारूढ़ दल को निकालना कठिन काम था[3]। समिति में दलबंदी तीव्र होने पर बेचारे संघ-मुख्य की स्थिति बहुत नाज़ुक और दयनीय होती थी। वह स्वार्थ के लिए झगड़नेवाले दोनों पक्षों के बीच का लक्ष्य बनता था। परंतु राज्य के हित से प्रेरित होने के कारण वह किसी की तरफदारी न कर सकता और उसकी दशा उस माता की तरह हो जाती थी जिसके दो पुत्र जुआ खेलते समय आपस में झगड़ रहे हों, और किसी की भी विजय उसके हर्ष का कारण नहीं हो सकता हो।

समिति के संचालन और वादविवाद के नियमन संबंधी कुछ नियम तो अवश्य ही बने होंगे पर किसी राज्यशास्त्र के लेखक ने उनका वर्णन नहीं किया है। यदि हम यह मान लें कि बौद्ध 'संघ' के नियम तत्कालीन 'गण' या 'संघ' राज्यों के आधार पर बनाये गये हैं तो हमें इस विषय की कुछ जानकारी मिल जाती है। बौद्ध संघ की गणपूर्ति (कोरम) के लिए २० सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक थी, इसी प्रकार का कोई नियम गणतंत्र की समिति में भी अवश्य रहा होगा, खासकर जब विभिन्न दलों में अधिकार प्राप्ति के लिए इतनी होड़ रहती थी। सदस्यों के बैठने का स्थान निर्धारण करने के लिए भी

१ अन्ये हि सुमहाभागा बलवन्तो दुरासदाः।
नित्योत्थानेन सम्पन्ना नारदान्धकवृष्णयः॥
यस्य न स्युर्न वै स स्याद्यस्य स्युः कृत्स्नमेव तत्॥ म. भा., १२. ८१. ८

२ स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किं नु दुःखतरं ततः।
यस्य चापि न तौ स्यातां किं नु दुःखतरं ततः॥ म. भा., १२. ८१. १०

३ बभ्रूग्रसेनतो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथंचन।
ज्ञातिभेदभयात् कृष्ण त्वया चापि विशेषतः॥ म. भा. १२. ८१. १०

एक कर्मचारी नियुक्त था, उपर्युक्त गण प्रमुख मंच पर बैठते थे और शेष सदस्य दलों के अनुसार उनके सामने रहते थे। गणपूरक अधिवेशन का अध्यक्ष होता था और गणना का निरीक्षण करता था। जरा भी पक्षपात करने पर उसकी कटु आलोचना होती थी। पहले प्रस्तावक औपचारिक रूप से प्रस्ताव उपस्थित करता था, तत्पश्चात् उस पर वादविवाद होता था। बौद्ध संघ में यह प्रथा थी कि जो लोग प्रस्ताव के पक्ष में रहते थे वे चुप रहते थे केवल विरोधी ही असहमति प्रकट करते थे। परन्तु गणतन्त्र की समितियों में तो वादों का विवाद बराबर होता रहा होगा। आज कल की भाँति बौद्ध संघ में प्रस्ताव तीन बार उपस्थित और स्वीकृत किया जाता था, गणतन्त्रों की समितियों में शायद यह परिपाटी न बरती जाती थी। जब मतभेद दिखाई देता था तब मत लिए जाते थे और बहुमत का निश्चय मान्य होता था। जब शाक्यों की कोशल की सेना द्वारा अपनी राजधानी घिर जाने पर कोशल नरेश की आखिरी चेतावनी या अंतिमेत्थ्य (Ultimatum) मिला तब उनकी समिति यह निश्चय करने के लिए बुलायी गयी कि दुर्ग के फाटक खोल दिये जायें या नहीं। कुछ लोग इसके पक्ष में थे कुछ विपक्ष में। अंत में मत संग्रह करने पर मालूम हुआ कि बहुमत आत्मसमर्पण की ही ओर है, वैसा ही किया भी गया[1]। यही परिपाटी सर्वत्र प्रचलित रही होगी।

परन्तु आदर्श गण राज्य में मत लेने की नौबत न आती थी। समिति में मित्रता का वातावरण रहता था और निर्णय वृद्धों की सलाह से होते थे, बहुमत के संख्या बल से नहीं। लिच्छवि संघ के स्वर्ण युग में यही अवस्था थी[2]। अष्टकों ने भी पहले तो सिकंदर से लड़ने के लिए सेनापति चुने फिर वृद्धों की सलाह मानकर संधि का निश्चय किया।

समिति की कार्रवाई का ब्योरा रखने के लिए लेखक भी अवश्य रहते होंगे। एक बार निश्चय हो जाने पर फिर पुनर्विचार कुछ समय तक न होने पाता था।

अब हम गणराज्यों के मन्त्रिमंडल पर विचार करेंगे। राज्य के आकार और परम्परा के अनुसार मन्त्रियों की संख्या में अंतर रहता था। मल्ल राज्य के मन्त्रिमंडल में केवल चार सदस्य थे, इन सब ने भगवान बुद्ध की अंत्येष्टि में प्रमुख भाग लिया था। इससे बड़े लिच्छवि राज्य में नौ मंत्री थे यद्यपि इनकी समिति

---

१ रॉ. हि.-लाइफ़., पृ ११८-९।

२ डायलाग्स ऑफ बुद्ध, भा दो, पृ ८०।

में ७७०७ सदस्य थे। लिच्छवि विदेह राज्य संघ की मन्त्रि परिषद में १८ सदस्य थे। यौधेय, मालव और क्षुद्रक आदि बड़े राज्यों के मन्त्रिमंडल में कितने मन्त्री रहते थे यह हमें मालूम नहीं। सिकंदर से संधिवार्ता के लिए क्षुद्रकों ने १५० भव्य और प्रभावकारी आकृति के प्रतिनिधि भेजे थे। कहा जा सकता है कि वे ही उनके मन्त्रिमंडल के सदस्य थे। मगर मन्त्रिमंडल कितना ही बड़ा क्यों न हो इसमें १५० तक सदस्य शायद ही हो सकेंगे।

केंद्रीय समिति ही संभवतः मन्त्रिमंडल के सदस्य नियुक्त करती थी। मन्त्रियों का चुनाव कुछ प्रतिष्ठित कुलों के प्रमुखों से ही होता था या कोई भी इस पद के लिए खड़ा हो सकता था, इसका ठीक पता नहीं। धीरे धीरे मन्त्रिपद भी आनुवंशिक हो गया, यद्यपि पिता के स्थान पर काम करने से पहले पुत्र का औपचारिक निर्वाचन होता रहा हो। मालवों की स्वतन्त्रता के उद्धारक श्रीसोम का वंश कम से कम तीन पीढ़ियों से गणमुख्य होता आ रहा था[1]। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि पिता का पद न मिलने पर कुछ मन्त्रि पुत्र अक्सर शत्रु से मिलकर राज्य नष्ट करने की भी कुचेष्टा करते थे। लिच्छवि और यौधेय आदि कुछ गण राज्यों में तो मन्त्रिपरिषद के सदस्यों को 'राजा' की उपाधि दी जाती थी। परन्तु मालव इस प्रकार की उपाधि देने के विरुद्ध थे, २२५ ई० में उनकी स्वतन्त्रता का उद्धार करनेवाले महान नेता के लिए भी, विजय की घोषणा में भी ऐसी किसी उपाधि का प्रयोग नहीं किया गया।

गण राज्य अपनी समर शूरता के लिए प्रख्यात थे। उनके मन्त्रिमंडल के सभासद अवश्य ही संकट में अपने गण के उद्धार की शक्ति रखने वाले वीर वर सेनानी रहे होंगे। गण नेता के लिए प्रज्ञा, पौरुष, उत्साह, अनुभव, शास्त्र और गणपरंपरा का ज्ञान आदि गुणों की अत्यंत आवश्यकता थी[2]।

गणाध्यक्ष ही मन्त्रिमंडल का प्रधान और समिति का अध्यक्ष हुआ करता था। शासन काम की देखरेख के साथ ही उसका मुख्य कार्य गण की एकता बनाये रखना और झगड़े तथा फूट का निवारण करना था जो बहुधा गणराज्यों

---

१ संभवतः एपि इ २७ में यह लेख प्रकाशित हो जायगा।

२ प्राज्ञान् शूरान्महोत्साहान्कर्मसु स्थिरपौरुषान्।
मानयन्तः सदा युक्ता विवर्धन्ते गणा नृप॥
द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः।
कृच्छ्रास्वापत्सु संमूढान्गणाः संतारयन्ति ते॥ म भा, १२ १०७ २०२१

के नाश के कारण होते थे। एक मन्त्री के जिम्मे परराष्ट्र विभाग रहता था जो गुप्तचरों के विवरण सुनता था और अपने तथा दूसरे राज्यों के छिद्रादि पर आँख रखता था[1]। कोष विभाग एक अन्य मन्त्री के हाथमें रहता था उस राज्य के धन को बाजार में लगाने और राज्य का ऋण वसूल करने का अधिकार था[2]। तीसरा विभाग न्याय का था, इसके अध्यक्ष का काम सम्भवतः मातहत न्यायालयोंके विचारों की अपील सुनकर व्यवहार और धर्म के नियमानुसार अंतिम निर्णय करना था[3]। अर्थशास्त्र ने गणतन्त्र का नाश चाहनेवाले राजा को सलाह दी है कि गुप्तचरी विधवाओं को फरियाद देकर इस विभाग के अध्यक्ष के पास भेजना चाहिये और उसे पथभ्रष्ट कराकर गण शासन की बदनामी करानी चाहिये। अन्य विभागों में दंड (पुलिस), कर, व्यापार और उद्योग भी थे। कुछ गणतन्त्र व्यापार में भी उतने ही उन्नत थे जितने वे युद्ध में विख्यात थे[4]।

आधुनिक काल के मंत्रिमंडलों की भाँति प्राचीन मन्त्रिमंडल के भिन्न भिन्न सदस्यों के पदों और अधिकारों में सम्भवतः कुछ अंतर था।[5]

प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष के अधीन विभिन्न श्रेणी के अधिकारी काम करते थे। शाक्य कोलिय आदि छोटे-छोटे राज्यों के मातहत अधिकारी सीधे विभागाध्यक्ष से सम्बंध रखते थे, बड़े राज्यों में बीच की कई श्रेणियाँ होती थीं।

यौधेय और क्षुद्रक आदि विशाल गणराज्यों में बहुसंख्यक नगरों की अपनी स्वायत्त परिषदें होती थीं। इनमें शासक उच्च श्रेणी के अतिरिक्त जन-साधारण लोगों के विविध वर्गों का भी प्रतिनिधित्व रहता था जैसा नृप-तन्त्र द्वारा शासित नगरों में होता था[6]। इन परिषदों के निर्वाचन और कार्य प्रणाली का हमें ज्ञान नहीं है इसलिए अभी यह जानना सम्भव नहीं है कि इन परिषदों पर

---

१ चारमन्त्रविधानेषु कोषसंनिचयेषु च।
नित्ययुक्ता महाबाहो वर्धन्ते सर्वतो गणाः॥ म भा १२ १०७ १९

२ धन लगाने के विवरण के लिए अर्थ शास्त्र अ १२ देखिये।

३ धर्मिष्ठान्व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः।
यथावत्प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः॥ वही, २७

४ वार्ताशस्त्रोपजीविनः। अर्थशास्त्र, अ ११

५ इससे शत्रुको अवसर गणतन्त्रों में फूट डालने का अवसर मिल जाता था।
अर्थशास्त्र ११

६ गुप्तसाम्राज्य की अवस्था के लिए दामोदरपुर ताम्रपत्र देखिये एपि इ, १५. प १२९

केंद्रीय शक्ति का नियंत्रण कैसे और किस रूप में रहता था और केंद्रीय समिति में इनके प्रतिनिधि जाते थे या नहीं।

गणराज्यों के अंतर्गत ग्रामों में भी पंचायतें अवश्य रही होंगी, उनके अधिकार भी नृपतंत्रांतर्गत ग्राम पंचायतों से कम न रहे होंगे। यह भी संभव नहीं प्रतीत होता कि इनकी सदस्यता केवल उच्च या शासक वर्ग तक ही सीमित रही हो क्योंकि इस वर्ग के लोग अधिकतर राजधानी और अन्य नगरों में ही रहते होंगे। अन्य राज्यों के समान किसान, व्यापारी, कारीगर आदि सभी ग्रामीण वर्गों के प्रतिनिधि पंचायत में रहते थे। यह भी अनुमान ही है पर संभवतः वस्तुस्थिति भी यही थी।

समुचित सामग्री का अभाव गणतंत्रों के संबंध में जितना खलता है उतना अन्य कहीं नहीं खलता। उनके विधान और कार्यप्रणाली का जो चित्र हमारे सामने है वह अत्यंत धुंधला और अस्पष्ट है। पर जो भी जानकारी मिली है उससे ज्ञात होता है कि ये राज्य बड़े ही समृद्ध और सुव्यवस्थित थे। सिकंदर का जैसा प्रबल प्रतिरोध इन्होंने किया वैसा तत्कालीन नृपतंत्र राज्य न कर सके। इन राज्यों के नागरिकों में तो उत्कट देशभक्ति और ज्वलंत स्वातंत्र्यप्रेम था वह नृपतंत्र की प्रजा में दुर्लभ था। इस व्यवस्था में व्यापार और उद्योग को भी बहुत उन्नति हुई थी। पंजाब और सिंधु के गणराज्यों में सुखी और समृद्ध नगरों की बहुतायत थी। इनमें विचार स्वातंत्र्य को प्रश्रय दिया जाता था अतः यहाँ दार्शनिक चिंतन की भी खूब प्रगति हुई। पूर्वी गणराज्यों की तो यह विशेषता थी। उपनिषद्, बौद्ध और जैन दर्शन के विकास में इनके नागरिकों का महत्वपूर्ण भाग रहा। सिंधुनद की घाटी के दार्शनिकों से भी यूनानी बहुत प्रभावित हुए थे।

अधिकांश गणतंत्र एक ही जाति के रहते थे। इनका शासकवर्ग समझता था कि उसके सब व्यक्ति एक ही ऐतिहासिक या पौराणिक मूल पुरुष के वंशज हैं। केंद्रीय समिति की सदस्यता का अधिकार प्रायः इन्हीं तक सीमित था।

नगर और ग्राम संस्थाओं में सभी वर्गों और श्रेणियों को उचित प्रतिनिधित्व और स्थान मिलता था। विशेषाधिकारी उच्चवर्ग और शेष जनता में किसी संघर्ष का प्रमाण नहीं मिला है। यह भूलना न चाहिये कि छठवीं सदी तक अंतर्जातीय विवाह की प्रथा थी अतः क्षत्रियों की अलग और स्वयंपूर्ण जाति न बन सकी थी। सेना में उच्च पद प्राप्त करनेवाले वैश्य या शूद्र को

क्षत्रिय पद से वंचित करना सम्भव न था। पाणिनि के एक सूत्र से यह ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मण का पद क्षत्रिय के ही समान था[1]।

गणतन्त्रों की स्थापना या विकास में वर्गैक्य की भावना का बड़ा हाथ रहा। जहाँ यह भावना बलवान न थी वहाँ गण राज्यों की स्थापना प्राय न हो सकी। यह भी प्रतीत होता है कि गणराज्यों के अधिकार का विस्तार या प्रभाव ऐसे प्रदेशों में न हो पाता था जहां उनके वंश के लोग पर्याप्त संख्या में नहीं रहते थे। यह सत्य है कि गणराज्य समान शत्रु से मोर्चा लेने के लिए आपस में मिल जाते थे परन्तु मौर्य या गुप्त सम्राटों की भांति कोई शक्तिशाली और विशाल साम्राज्य वे स्थापित न कर सके। उनकी दृष्टि अपने निवास प्रदेश के परे न जाती थी। अपनी स्वतन्त्रता पर संकट आने पर वे प्राण होम करने को तैयार रहते थे पर विदेशी आक्रमण के निवारण के लिए पंजाब, राजपूताना और सिंध के गण राज्यों को मिलाकर एक विशाल उत्तर पश्चिमी राज्य संघ बनाने की कल्पना उनके मन में न आ सकी। कुलाभिमान, आपसी झगड़े और अत्यधिक स्वातन्त्र्य प्रेम के कारण गणतन्त्रों में सुदृढ़ केंद्रीय शासन का विकास भी न हो सका क्योंकि इसके लिए विशेषाधिकारी वर्ग और स्थानीय संस्थाओं के बहुत से अधिकार केंद्रीय सरकार को सौंपने पड़ते हैं।

अब हमें इस बात का विचार करना है कि किन कारणों से ४०० ई० के बाद इन गणतन्त्रों का अस्तित्व नष्ट हो गया। डा० जायसवाल इनके पतन का कारण गुप्त वंशी नृपों के साम्राज्यवाद को मानते हैं। उनका कथन है कि 'सिकंदर की भाँति समुद्रगुप्त ने देश की स्वतन्त्र्यभावना को कुचल डाला, उसने यौधेय, मालव तथा उन अन्य गणराज्यों का नाश किया जिनके उत्संग में स्वतन्त्रता का पालन, पोषण और संवर्धन होता था।' परन्तु यह कथन ठीक नहीं। मालव अर्जुनायन, यौधेय और मद्र आदि गणों ने समुद्रगुप्त की अधीनता केवल कुछ कर भर देने तक स्वीकार की थी। गुप्त सम्राट् को कर देते हुए भी उनकी अन्तर्गत स्वतन्त्रता सुरक्षित रही उनके प्रदेशों पर गुप्त राजाओं का प्रत्यक्ष शासन न था। अतः उनकी गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था पर गुप्त साम्राज्यवाद का विशेष प्रभाव पड़ना सम्भव न था। पहले भी मौर्य और कुषाण साम्राज्यों ने उन्हें आत्मसात् कर लिया था, पर इन

---

१ आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते (?) ... ब्राह्मणराजन्यात्। पाणिनि, ५ ३।११४ [reading uncertain: "आयुधजीविसंघान् ञ्यड्वाहीकेषु अब्राह्मणराजन्यात्"] यहां ब्राह्मण और क्षत्रिय एक साथ रखे गये हैं।

साम्राज्यों के कमजोर पड़ते ही गणराज्य पुन स्वतंत्र हो गये। गुप्त साम्राज्य बाद ने उनकी अंतर्गत स्वाधीनता में हस्तक्षेप न किया या अत यह समझना मुश्किल है कि वह उनकी प्रजातन्त्र व्यवस्था के लिए कैसे घातक सिद्ध हुआ।

नदसा गाँव के यूप पर के लेख से पता चलता है कि तीसरी शताब्दी में ही मालव गण राज्य की सत्ता पैतृक परंपरा गत होकर ऐसे कुलों के हाथ में जा रही थी जो अपना उद्भव इक्ष्वाकु राजर्षियों स बताते थे। चौथी शताब्दी मे यौधेय और सनकानिक गणों क नेता महाराज और महासेनापति जैसी राजसी उपाधियाँ धारण कर रहे थे। यही दशा लिच्छवि गण राज्य की भी रही होगी क्योंकि 'राजपुत्री' कुमारदेवी लिच्छवि प्रदेश की उत्तराधिकारिणी थी। अस्तु, जब गणराज्यों की सत्ता (आनुवंशिक) अध्यक्षों के हाथ में सीमित हो गयी, जो सेनापति रहते थे और जो राजसी उपाधियाँ भी धारण करते थे, तो गणराज्य और नृप तन्त्र मे अंतर ही क्या रहा ? गणतन्त्रों के सदस्यों ने इस नयी प्रवृत्ति का विरोध क्यों नहीं किया और गण व्यवस्था कैसे कमजोर होती गयी, इसका ठीक कारण ज्ञात नहीं। राजा के देवत्व की भावना के जोर पकड़ने स प्रभावित होकर ही गण राज्यों ने सम्भवत अध्यक्ष पद के आनुवंशिक होने का विरोध नहीं किया। सम्भव है उन्होंने यह भी सोचा हो कि गणतन्त्र की अपेक्षा नृपतन्त्र द्वारा विदेशी आक्रमण से अधिक सुरक्षा हो सकती है।

अध्याय ७

केंद्रीय लोकसभा

आधुनिक राज्यों के केंद्रीय शासन में, राज्याध्यक्ष, राजा या राष्ट्रपति, उसकी परिषद् या मन्त्रिमण्डल, तथा सरकार पर नियन्त्रण रखने और विधि नियम या कानून बनाने के लिए पूर्णत या मुख्यत लोकमतानुवर्ती प्रतिनिधिसभा या धारासभा का समावेश होता है। इस सभा को केंद्रीय लोकसभा कहना उचित होगा। पिछले दो अध्यायों में नृपतन्त्र और गणतन्त्र के अध्यक्षों के संबंध में विचार किया जा चुका है। अब हम केंद्रीय लोकसभा के विषय पर विचार करेंगे। क्या प्राचीन भारत में आज कल की पार्लमेंट की भाँति कोई केंद्रीय लोकसभा थी? यह किसी विशेष युग या विशेष प्रकार के राज्य में ही थी या सब काल में और सब प्रकार के राज्यों में थी? इसके सदस्य किस प्रकार चुने जाते थे? सरकार पर इसका नियन्त्रण था या नहीं और यदि था तो किस सीमा तक था? कानून या विधिनियम बनाने का अधिकार सभा को ही था या सरकार बिना इसकी स्वीकृति या अनुमति के विधि या कानून बना सकती थी। इन्हीं प्रश्नों पर हमें इस अध्याय में विचार करना है।

पिछले अध्याय में यह दिखाया गया है कि प्राचीन गण-राज्यों में आधुनिक पार्लमेंट से मिलती जुलती केंद्रीय लोकसभा वर्तमान थी। यह भी बताया जा चुका है कि उनमें किन वर्गों का प्रतिनिधित्व था और शासन पर उनका क्या प्रभाव था। अब हमें यह देखना है कि इसी प्रकार की संस्थाएँ नृपतन्त्रात्मक शासन पद्धति में भी होती थीं या नहीं।

वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन प्राय सर्व राज्यों में लोकसभाएँ होती थीं जो राजाओं का नियन्त्रण करती थीं। ऋग्वेद काल का औसत राज्य ग्रीस के नगर राज्यों की भाँति विस्तार में कुछ वर्ग मील से अधिक न थे। इनकी राजधानी इनमें अन्तर्भूत ग्रामों से कुछ विशेष बड़ी न होती थी। हर ग्राम में जनता की 'सभा' होती थी और राजधानी में संपूर्ण राज्य की केंद्रीय लोकसभा होती थी जिसका नाम 'समिति' था।

'सभा' और 'समिति' का वैदिक काल में बड़ा ऊँचा स्थान था। एक सूक्त में उन्हें प्रजापति की जुड़वा 'दुहिताएँ' कहा गया है[1]। इससे मालूम होता है कि लोग समझते थे कि ये सनातन ईश्वरनिर्मित संस्थाएँ हैं और यह मानते थे कि यदि समाज के आदिकाल से नहीं तो कम से कम राजनीतिक जीवन के प्रादुर्भाव के साथ ही साथ ये भी अस्तित्व में आयीं। वैदिक काल के भारत के गाँव गाँव में ये संस्थाएँ विद्यमान थीं और होनहार राजनीतिज्ञ या विद्वान् की इससे बड़ी कोई आकांक्षा न थी कि समिति उसकी योग्यता स्वीकार करे[2]। यही नहीं, विवाह के समय यह मनाया जाता था कि नववधू भी अपने वक्तृत्व से समिति को वश में कर सके[3]।

वैदिक वाङ्मय में तीन प्रकार की सभाएँ मिलती हैं, 'विदथ', 'सभा' और 'समिति'। इन शब्दों का ठीक अर्थ निश्चित करना कठिन है। संभव है कि देश काल के अनुसार इनके अर्थ में वैदिक युग में भी परिवर्तन हुआ हो। आधुनिक विद्वान् भी इस विषय में एक मत नहीं हैं। लुडविग का मत है कि 'सभा' में पुरोहित, धनिक आदि उच्चवर्ग के लोक सम्मिलित होते थे, और 'समिति' में साधारण लोक रहते थे। ज़िमर का अनुमान है कि 'सभा' ग्राम संस्था थी और समिति पूरे 'जन' की केंद्रीय परिषद् थी। हिलेब्रांड का मत है कि सभा और समिति एक ही थीं, सभा उस स्थान का नाम था जहाँ लोग एकत्र होते थे और 'समिति' एकत्रित समूह को कहते थे।

इन विभिन्न मतों की विवेचना न तो यहाँ संभव है न आवश्यक ही। 'विदथ' शब्द 'विद्' धातु से निकला है और इसका अर्थ संभवतः विद्वानों की सभा है। शासनव्यवस्था के संबंध में इसका प्रयोग शायद ही कहीं किया गया हो अतः इसे हम छोड़े देते हैं। हिलेब्रांड का यह मत भी ठीक नहीं कि सभा कोई अलग संस्था नहीं वरन् समिति के अधिवेशनस्थल ही का नाम था, क्योंकि ऊपर दिये गये अथर्ववेद के उद्धरण में सभा और समिति दो बहनें अर्थात् दो अलग संस्थाएँ कही गयी हैं। एक अन्य स्थल में वर्णन है कि व्रात्य का अनुसरण सभा समिति और सेना के सदस्यों ने किस प्रकार किया[4]।

---

१ सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। अ. वे., ७. १२. १

२ ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥ अ. वे. १२. १. २६

३ वशिनी त्वं विदथमावदासि। ऋ. वे., १० ८५ २६

४ तं च सभा च समितिश्चानुव्यचलन्। अ. वे., १५ ९

इससे स्पष्ट है कि 'सभा' 'समिति' के अधिवेशन का स्थान नहीं वरन अलग संस्था थी। एक पुराने वैदिक मंत्र में वर्णन है कि 'सभा' में बहुधा गायों की ही चर्चा होती थी और उनके दूध के पौष्टिक गुण का बखान किया जाता था[1]।

एक अन्य स्थल पर वर्णन है कि जुआरी लोकसभा में एकत्र होकर किसी प्रकार जुए में सब कुछ खो बैठने पर बाद में अपनी स्त्री और अपने को भी लगा देते थे[2]। ब्राह्मण ग्रंथों में भी 'सभा' और जुए के इस संबंध का वर्णन है[3]। इससे प्रकट होता है कि 'सभा' मुख्यतः गाँव की सामाजिक गोष्ठी ही थी परंतु आवश्यकता पड़ने पर ग्राम व्यवस्था से संबंध रखने वाले छोटे मोटे मामलों पर भी इसी में विचार कर लिया जाता था। आपसी झगड़े निपटाना और गाँव की रक्षा का प्रबंध करना ही मुख्य विषय थे, पुरुषमेध यज्ञ के वर्णन से पता चलता है कि सभा और सभाचरों का न्याय दान से घनिष्ठ संबंध था।

संभव है कि कुछ राज्यों या प्रदेशों में 'सभा' का संबंध राजा से था और वह सामाजिक गोष्ठी नहीं वरन राजनीतिक संस्था रही हो। अथर्ववेद के एक मंत्र में यम के सभासदों को राजसी पद दिया गया है और उन्हें यम को प्राप्त होनेवाले कर भाग के १६ वें हिस्से का अधिकारी बताया गया है। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि मर्त्यलोक के सभासदों का पद भी स्वर्गलोक के सभासदों की भाँति राजसी श्रेणी का था और वे भी राजा को कर और शुल्क से होनेवाली आय में कुछ हिस्सा पाने के हकदार थे। मगर यह संभव है कि उपरि निर्दिष्ट स्थलों में 'सभा' से यम या इस लोक के राजा के अमात्य मंडल का संकेत रहा हो न किसी लोकसभा का। एक स्थल पर सभासद के प्रचुर धन (गोधन) का उल्लेख और उसके खूब ठाट-बाट से बढ़िया घोड़ों के रथ पर सवार होकर सभा में जाने का वर्णन किया गया है[5]।

---

१ यूयं गावो मेदयथा कृशं चिद्। ऋ. वे., ६ २८ ६

२ सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा शोशुचानः।

ऋ. वे., १० ३४ ६

३ तैत्ति. ब्रा., १ १ १० ६, शत. ब्रा. ५ ३ १ १०।

४ यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः।

अ. वे. ३ २९ १

५ भद्रा रयी सुरूप इद्गोमाँ इन्द्र स सभा। ऋ. वे., ८ ४ ९

उससे भी यह सूचित होता है कि वह बड़ा अधिकारी होता था। फिर भी अधिकतर प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि 'सभा' प्रायः ग्राम संस्था थी और उसमें सामाजिक और राजनीतिक दोनों विषयों पर विचार किया जाता था।

ऋग्वेद के अंतिम मंत्र में 'समिति' का उल्लेख सामाजिक या विद्वद्मंडल के रूप में किया गया जान पड़ता है[१]। परंतु एक और पहले के मंत्र में वर्णन है कि राजसत्ता को हस्तगत करने की इच्छा से एक नेता ने समिति को भी अपने वश में करने की योजना बनायी थी[२]। ऋग्वेद में एक स्थल पर आदर्श राजा के अपनी 'समिति' में जाने का उल्लेख किया गया है। अथर्ववेद में एक पदच्युत राजा ने पुनः सिंहासनारूढ़ होने पर सबसे बड़ी आकांक्षा यही प्रकट की कि मेरी समिति सदा मेरी ओर रहे[३]। इसी प्रकार ब्राह्मण का धन अपहरण करनेवाले राजा को सबसे बड़ा शाप यही दिया जाता था कि 'तुम्हारी समिति तुम्हारा साथ न दे'[४]।

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रकट होता है कि एक दो स्थानों पर 'समिति' का सामाजिक गोष्ठी के रूप में उल्लेख होने पर भी वह वास्तव में राजनीतिक संस्था थी और उसका रूप केंद्रीय शासन की व्यवस्थापिका सभा का सा था। यह संस्था अत्यंत प्रभावशाली थी, बहुधा इसी के समर्थन पर राजा का भविष्य निर्भर रहता था। 'समिति' के विरुद्ध हो जाने पर राजा की स्थिति अत्यंत संकट पूर्ण हो जाती थी। खोये हुए राज्य को फिर से प्राप्त करने वाले राजा की स्थिति तब तक सुदृढ़ न मानी जाती थी जब तक समिति उससे सहयोग करने पर तैयार न हो जाय। यह स्पष्ट है कि राज्य के केंद्रीय शासन और सेना पर 'समिति' का बहुत अधिक प्रभाव था, पर व्यवहार में इसका उपयोग कैसे होता था और राजा के अधिकारों से इसका सामंजस्य किस प्रकार किया जाता था इसका हमें ज्ञान नहीं।

---

१ संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्॥
१० १९१ २–३

२ मा वनिषत्तं मा वो मत्तं मा योऽस्य समितिं ददे। १० १६६, ४

३ ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह। अ वे, ६ ८८ ३

४ नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्। अ वे, ५ १९ १५

समिति के संघटन के विषय में भी हम कुछ नहीं जानते। समिति सरकारी संस्था थी या गैर सरकारी? यदि गैर सरकारी तो निर्वाचित थी या नहीं? यदि निर्वाचित तो निर्वाचक एक विशेष वर्ग था या साधारण जनता? निर्वाचन समस्त जीवन भर के लिए था या कुछ वर्षों के लिए? इन सब प्रश्नों का समुचित उत्तर देने के लिए हमारे पास कुछ भी साधन नहीं हैं। चूँकि गण०ों की समितियाँ उच्चवर्ग की संस्थाएँ थीं, अतः संभव है कि राजतंत्र की समिति' भी उसी प्रकार की रही हो। वैदिक काल के राज्य ग्रीस के नगर राज्यों की भाँति छोटे छोटे होते थे अतः संभव है कि समाज में प्रमुख स्थान रखनेवाले योद्धा या प्रतिष्ठित परिवारों के गृहपति ही समिति के सदस्य रहे हों। उस युग में पुरोहित का कार्य युद्ध क्षेत्र में भी महत्व रखता था अतः समिति में उनके प्रतिनिधि रूप में और कोई नहीं तो राजा के पुरोहित तो अवश्य ही रहे होंगे।

'समिति' के सदस्य समाज के प्रतिष्ठित और धनी व्यक्ति होते थे और शासन पर उनका बड़ा प्रभाव रहता था, 'सभा' के सदस्यों की भाँति वे भी पूरे ठाठ से 'समिति' के अधिवेशन में उपस्थित होते जाते रहे होंगे।

समिति में गहरा वादविवाद होता था, राजनीति में नाम करने के इच्छुक नये सदस्य अपनी भाषणकला से समिति को प्रभावित करने के लिए लालायित रहते थे[1]। समिति में सफलता उसी को मिलती थी जो अपनी वाक्चातुरी और तर्क बल से सदस्यों को अपनी ओर कर ले। कभी कभी दलबन्दी की तीव्रता होने पर गरमा गरम बहस हो जाती थी और हाथा पाई की भी नौबत आ जाती रही होगी। इसी से ऋग्वेद में यह प्रार्थना की गयी है कि समिति की कारवाई सौहार्द पूर्ण हो, सदस्यों में मेल जोल रहे और उसके निर्णय एक मत से हों[2]।

यह खेद और आश्चर्य की बात है कि जो 'समिति' ऋग्वेद और अथर्ववेद के युग में इतनी प्रमुख और प्रभावशाली संस्था रही हो, वह संहिता और ब्राह्मण के युग आते आते लुप्त सी हो जाय। 'सभा' का नाम तो शेष था पर स्वरूप एकदम बदल गया था। ग्राम संस्था के बजाय अब यह राजा की परामर्शदायी परिषद् या राजसभा बन गयी थी और अनेक शताब्दियों तक उसका यही अर्थ था। इसकी बैठक बारबार हुआ करती थी और इसका अपना

---

1 ये सग्रामा समितयस्तेषु चारु वदाम्यहम्। अ वे, १२, १ ५६

2 देखिये पृ ९४ नोट १।

सभापति होता था[१]। इसके सदस्यों (सभासदों) का पद पुरोहित या उच्च राज्याधिकारी के बराबर होता था[२]। इसमें करद सामंत भी उपस्थित रहते थे[३]। इससे पता चलता है कि यह धीरे धीरे लोकप्रिय संस्था से राजदरबार में परिवर्तित हो गयी थी। केंद्रीय लोकसभा के रूप में इसका इतिहास यहीं समाप्त होता है।

उपनिषद् काल में समिति पुनः प्रकट होती है अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद श्वेतकेतु पाँचालों की समिति में जाते हैं। राजा भी इस समिति में उपस्थित थे और उन्होंने श्वेतकेतु की विद्या के परीक्षार्थ उनसे कुछ प्रश्न भी किये थे। इससे ज्ञात होता है कि उपनिषद् काल में समिति पंडित सभा जैसी संस्था थी जिसके सभापति कभी-कभी राजा भी होते थे खासकर किसी नये स्नातक की परीक्षा आदि के अवसर पर, जैसे आजकल विश्वविद्यालय के उपाधिवितरण समारोह के सभापति गवर्नर हुआ करते हैं। यह तो निश्चित है कि धर्मसूत्रों के समय से पहले ही (ई० पू० ६००) 'समिति' और 'सभा' राजनीतिक संस्था का रूप खो चुकी थीं, क्योंकि सूत्रों में राजा या शासन के कार्यों के वर्णन के प्रसंग में इन संस्थाओं का कभी नाम भी नहीं लिया गया है। 'समिति' के तो नाम से भी वे परिचित न थे। 'सभासद्' शब्द का उल्लेख अवश्य हुआ है पर उससे न्यायसभा या राजसभा के सदस्य निर्दिष्ट होते थे न कि लोकसभा या व्यवस्थापक सभा के।

परन्तु गणराज्यों में केंद्रीय लोकसभाएं बराबर काम करती रहीं यह हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। नृपतंत्र में वे क्यों विलुप्त हो गयीं यह बताना कठिन है। एक कारण यह हो सकता है कि गणराज्य बहुत बाद के समय तक भी विस्तार में बड़े न थे, जब कि ब्राह्मण काल (१५०० १००० ई० पू०) में ही राजशासित राज्य बहुत विस्तृत हो गये थे। विस्तृत राज्यों [illegible] जहाँ ग्राम दूर दूर पर बसे होते थे, 'समिति' जैसी केंद्रीय लोकसभा का मिलना और काम करना कठिन हो जाता था। प्रतिनिधि व्यवस्था उस समय न निकली थी इसलिए समिति का काम करना छोटे छोटे राज्यों में ही सम्भव था सुकर था जहाँ जनता राजधानी से अधिक दूर न रहती थी। अस्तु, बड़े राज्यों में एक ओर सदस्यों के एकत्र होने और काम करने में कठिनाई थी, दूसरी ओर राजा

---

१ वा सं, [illegible] २४
२ ऐ ब्रा, ८ २१
३ छा ब्रा, ३ ३ ७ १४

सारी सत्ता अपनी मुट्ठी में ही कर लेने का अवसर ढूँढा करते थे। अत 'सभा' और 'समिति' का इन परिस्थितियों में धीरे धीरे समाप्त हो जाना स्वाभाविक ही था।

पौर जानपद सभा

श्री काशी प्रसाद जायसवाल का मत है कि वैदिक काल की 'सभा-समिति' एकदम विनष्ट नहीं हुई, बल्कि उनका स्थान 'पौर जानपद' ने ले लिया, जिनका उल्लेख बाद के साहित्य और उत्कीर्ण लेखादि में कभी-कभी मिलता है। श्री जायसवाल ने बड़े विस्तार से इस मत का प्रतिपादन किया है। आप कहते हैं कि साधारणत पौर-जानपद का अर्थ किसी राज्य के ग्राम और नगर की जनता है पर जब इसका उल्लेख नपुंसक एक वचन में 'पौर जानपद' के रूप में हो तब इसका अर्थ राजधानी और देश के नागरिकों की 'प्रतिनिधि संस्था' होता है। रामायण में इस संस्था का उल्लेख है और दूसरी शताब्दी ई० पू० में खारवेल के राज्य में यह काम कर रही थी। मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों में जानपद के कानूनों के वर्णन से भी इसका अस्तित्व सिद्ध होता है, इनके अध्यक्षों का भी उल्लेख स्मृतियों में पाया जाता है। इस संस्था की प्रतिष्ठा इतनी अधिक थी कि इसके विरुद्ध आचरण करनेवाले व्यक्ति को सरकार द्वारा किसी भी प्रकार की सुविधा देने का निषेध किया गया है[1]।

डा० जायसवाल ने अपने मत का प्रतिपादन बड़ी विद्वत्ता और चतुरता से किया है। पर उन्होंने जो प्रमाण दिए हैं तथा इस विषय में जो अन्य सामग्री उपलब्ध है उन सबकी निष्पक्ष दृष्टि से समीक्षा करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि ६०० ई० पू० से ६०० ई० तक के काल में 'पौर-जानपद' नामक कोई लोक सभा प्राचीन भारत में न था। रामायण (कांड दो सर्ग १४ ५४) में उल्लिखित 'पौर जानपद' शब्द (एक वचन में यानी 'पौरजानपदश्च' के स्वरूप में) मानने और तब उसका अर्थ 'नागरिकों की एक संस्था' करने के पक्ष में व्याकरण के जो प्रमाण दिये जाते हैं, वे पुष्ट और मान्य नहीं हैं[2]। रामायण में

---

1 हिन्दू पॉलिटी, भाग दो, अध्याय २७–२८।

2 विवादग्रस्त श्लोक यह है —

उपतिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम्।
पौरजानपदश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः ॥ इ. पृ. अ

अधिकतर यह शब्द बहुवचन में (पौर जानपदा) ही प्रयुक्त हुआ है और इसका अर्थ कोई लोकसभा नहीं वरन जनसाधारण ही है। उदाहरणार्थ रामायण (काड दो, सर्ग १४ श्लोक स ५४) में[१] 'पौर जानपद' से प्रमुख व्यक्तियों की ओर ही सकेत है। अन्यत्र (२, १११ १९ में) भरत जिस पौर जानपद का उल्लेख करते हैं उसका तात्पर्य उन हजारों लोगों से है जो श्री राम को लौटाने के लिए भरत के साथ गये थे[२]। यदि यह मान भी लिया जाय कि पौर-जानपद का अर्थ जनता की लोकसभा से है तो भी यह स्पष्ट है कि इसे कुछ विशेष अधिकार न थे। न तो यह श्रीराम क वन गमन के दशरथ के आदेश का निषेध कर सकी न श्रीराम को अयोध्या लौटने को राजी कर सकी। यह भी ध्यान देने योग्य है कि रामचन्द्र स आखिरी बार अयोध्या लौटने का अनुरोध करते हुए भरत अपनी और अमात्यों की प्रार्थना का तो उल्लेख करते हैं, पर पौर जानपद या लोकसभा का नाम भी नहीं लेते[३]। राम भी भरत को विदा करते समय उन्हें मित्रों, अमात्यों और मन्त्रियों की सलाह स राजकाज चलाने का उपदेश देते हैं। यहाँ भी पौर जानपद का नाम नहीं है[४]। यदि पौर जानपद वास्तव में जनता की प्रतिनिधि सस्था थी, तो यह उपेक्षा और भी आश्चर्यजनक हो जाती है।

(पृ ९७ से आगे)

जायसवालजी का यह दावा है कि चूंकि 'उपतिष्ठति' क्रियापद एकवचन में है इसलिए उसका हरेक कर्ता एकवचन होना चाहिए, ऐसा होने से श्लोक में का 'पौरजानपद' पद एकवचन मानना पड़ेगा और उसका अर्थ 'पौरजानपद' सभा होगा। मगर व्याकरण शास्त्र में ऐसा कोई नियम नहीं है। प्रत्युत यह कहना है कि कर्ताओं में से कुछ एकवचन कुछ द्विवचन कुछ बहुवचन हो सकते हैं, ऐसी अवस्था में क्रियापद बहुवचन होना चाहिये।

१ पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणै सह। २ १४ ५४

२ तथाथ सर्वत प्रेक्ष्य किमायमनुशासथ॥ २ १४ ४०

३ एभिश्च सचिवै साध शिरसा याचितो मया।
भ्रातु शिष्यस्य दासस्य प्रसाद कर्तुमर्हसि॥ २ १०४ १६

४ अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभि।
सर्वकार्याणि सम्मन्त्र्य सुमहान्त्यपि कारय॥

खारवेल के हाथीगुफा लेख में भी किसी केंद्रीय लोकसभा का उल्लेख नहीं है। लेख की ७ वीं पंक्ति में कहा गया है कि खारवेल ने पौर जानपद पर लाखों 'अनुग्रह' किये[1]। जायसवाल 'अनुग्रह' का अर्थ वैधानिक अधिकार मानते हैं, जो पौरसभा और जानपद सभा को दिये गये। पर वैधानिक अधिकारों की संख्या कभी लाखों नहीं हो सकती अतः अनुग्रह का अर्थ यहाँ विविध सुविधाएँ ही समझना चाहिये जो नगर और देहातों की जनता के लिए दी गयी और जिनका मूल्य लाखों रुपये तक था। राज्य की ओर से सड़क, कुएँ, चिकित्सालय और विश्राम गृह आदि बनवाना और लगान आदि में छूट देना प्रजा पर लाखों रुपयों के बराबर 'अनुग्रह' करना कहा जा सकता है। हाथीगुफा लेख के सूक्ष्म विवेचन से भी स्पष्ट हो जाता है कि खारवेल की नीति या शासन पर किसी लोकसभा का कुछ भी नियन्त्रण न था। लेख में उसके भारत के विभिन्न भागों पर अभियान और विजय का वर्णन है, परन्तु यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि पौर जानपद से कभी इनके लिए परामर्श या सहमति ली गयी थी। यदि पौर जानपद को कोई वैधानिक सत्ता थी तो उसे संधि विग्रह के समान महत्त्व के मामले में बोलने का अधिकार न था।

स्मृतियों में जानपद धर्मों के उल्लेख से केंद्रीय व्यवस्थापिका या लोकसभा के रूप में जानपद का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। मनु द्वारा (अष्टम अध्याय ४१) उल्लिखित 'जानपद धर्म' का अर्थ देश धर्म अर्थात् देश प्रथाएँ या लोकाचार है, केंद्रीय व्यवस्थापक संस्था द्वारा बनाये गये विधि नियम या कानून नहीं। इस श्लोक की प्रथम अध्याय के ११८ वें श्लोक से तुलना करने[2]

---

१ अनुग्रहानेकानि शतसहस्राणि विसृजति पौर जानपदम्। पृ ६, २० ७१

२ दोनों श्लोक धर्म के आधार का वर्णन करते हैं और दोनों की तुलना से ज्ञात होता कि ८ ४१ का 'जानपद धर्म' १ ११८ का 'देशधर्म' ही है। देशधर्म और जानपद धर्म में कुछ भी फर्क नहीं था। देखिये —

जातिजानपदान् धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ८ ४१
देशधर्मान् जातिधर्मान् श्रेणीधर्मांश्च शाश्वतान्।
पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनुः ॥ १ ११८ ई पृ ठ

पर स्पष्ट हो जायगा कि जानपदधर्म और देशधर्म एक ही हैं। कात्यायन की परिभाषा के अनुसार 'देशधर्म' किसी देश में प्रवृत्त वह सार्वलौकिक आचा[र] है जो श्रुति और स्मृतियों के प्रतिकूल न हो[1]। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी विभिन्न प्रदेशों के आचार को ही देशधर्म कहा गया है[2]। देश के विभिन्न भागों में दायभाग विवाह, खानपान और छूत सबंधी नियम अलग अल[ग] होते थे। कहीं विधवा दायभाग की हकदार थी तो कहीं नहीं। दक्षिण में मामा की लड़की के साथ विवाह होता था पर उत्तर में नहीं। उत्तर में मदिरा पान पर रोक नहीं थी, दक्षिण में थी। इसीलिए मनु तथा अन्य स्मृतिका[र] सलाह देते हैं कि न्याय करते समय उस देश के 'जानपदधर्म' और 'देशधर्म' का ध्यान रखना चाहिये। परन्तु यह धर्म प्रचलित आचार ही था, 'जानपद' जैसी व्यवस्थापक सभा द्वारा बनाये विधि नियम या कानून नहीं।

मनु एक स्थल पर 'ग्राम' और देश के 'समयों' का उल्लंघन करनेवाले व्यक्तियों के लिए दंड का निर्देश करते हैं। जायसवाल इन 'समयों' का अर्थ ग्राम और देश की व्यवस्थापक सभाओं द्वारा बनाये गये विधि नियम या कानून समझते हैं, पर यह धारणा भी ठीक नहीं है। मनु अध्याय ८ श्लोक १९ में स्पष्ट करते हैं कि 'समय' या संविद् राज्य के विधि नयम या कानून नहीं थे, किन्तु ग्राम और देश के अधिकारियों की राजी से किये समझौते मात्र थे[3]। यदि लोभवश कोई आदमी इनका उल्लंघन करे तो उस पर जुर्माना

और भी वचन देखिये (पृ ९९ से आगे)

देशग्रामकुलधर्मा आम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्॥ गौतम ध सू ११ २०

पञ्चधा विप्रतिपत्तिर्दक्षिणतस्तथोत्तरत।

...तत्र देशप्रामाण्यमेव स्यात्। बौ ध सू, १ १ १७–१८

१ यस्य देशस्य यो धर्मः प्रवृत्तः सार्वलौकिक।
श्रुतिस्मृत्यनुरोधेन देशदृष्टः स उच्यते॥

२ देशस्य जात्याः सङ्घस्य धर्मो ग्रामस्य वापि यः।
उचितस्तस्य तेनैव दायधर्मं प्रकल्पयेत्॥ अर्थशास्त्र, ३ ७

३ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम्
यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥
निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम्।
चतुः सुवर्णान् षण्निष्कान् शतमानं च राजतम्॥ मनु, ८ १८–२०

किया जाता था। अर्थशास्त्र भाग ३ अध्याय १० में जहाँ ग्राम, देश, जाति या कुटुम्ब के 'समयों' के उल्लंघन पर विचार किया गया है, कौटिल्य ने इन 'समयों' का उदाहरण देकर सारी बात और भी स्पष्ट कर दी है। कौटिल्य कहते हैं, यदि खेत मजदूर ग्राम के लिए होनेवाले किसी कार्य में काम करने का इकरार करके पीछे उससे इनकार करे, या कोई व्यक्ति किसी तमाशे के लिए चंदा न दे और चोरी से उसे देखे, या कोई ग्रामवासी ग्राम के मुखिया के ग्राम के हितार्थ दिये गये किसी आदेश को न पूरा करे तो ऐसी बातों में 'ग्राम समय' का उल्लंघन हो जायगा और दोषी दंड का भागी जरूर होगा। अंत में यह भी कहा गया है कि 'देश समय' का उल्लंघन भी इसी प्रकार समझना चाहिये[1]। इससे स्पष्ट है कि 'देश समय' केंद्रीय व्यवस्थापक सभा की व्यवस्था नहीं वरन देश या प्रांत के प्रधान अधिकारी 'देशाध्यक्ष' से किये गये समझौते ही होते थे। जायसवाल की यह धारणा (पृ० ८७) ठीक नहीं है कि 'देशाध्यक्ष' या 'देशाधिप' देश की व्यवस्थापक सभा के 'अध्यक्ष' को कहते थे। विष्णु-स्मृति और शुक्र-नीति के नीचे लिखे उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि जिले का प्रधान अधिकारी ही 'देशाध्यक्ष' या 'देशाधिप' कहा जाता था[2]। इसका अधिक विवरण आगे दसवें अध्याय में मिलेगा।

जायसवाल के इस मत का भी स्मृतियों से कोई समर्थन नहीं होता कि पौरजानपद के विरोधी की न्यायालयों में कोई सुनवाई नहीं होती थी। नीचे टिप्पणी में उद्धृत वीरमित्रोदय के वचन को जायसवाल आधार मानते हैं, मगर वह केवल यही कहता है कि यदि वादी का दावा नगर या देश में सर्वसम्मत पुरातन व्यवस्था के विरुद्ध हो तो उसे न्यायालय स्वीकार न करे[3]।

---

१ कर्षकस्य ग्राममभ्युपेत्याकुर्वतो ग्राम एवात्ययं हरेत्। प्रेक्षायामनंशदः सस्वजनो न प्रेक्षेत। प्रच्छन्नश्रवणे च सर्वहिते च कर्मणि निग्रहेण द्विगुणमंशं दद्यात्। सर्वहितमेकस्य ब्रुवतः कुर्युराज्ञाम्। अकरणे द्वादशपणो दंडः। तेन देशजातिकुलसंघानां समयस्यानपाकर्म व्याख्यातम्।
अर्थशास्त्र-भाग ३ अध्याय १०।

२ तत्र स्वदेशग्रामाधिपान् कुर्यात्। दशाध्यक्षान्। शताध्यक्षान् देशाध्यक्षांश्च। विष्णु ३ ७-१०।
चतुर्दिक्ष्वपरा देशाधिपान् सदा कुर्यात् नृपः। शुक्र १ ३४७।

३ वीरमित्रोदय का वचन यह है—यत्र नगरे राष्ट्रे च या व्यवस्था पुरातनी तद्विरोधाद्वादको व्यवहारो नादेयः पौरजानपदक्षोभादित्यर्थः। पाठ-
क्र पृ ष

इस स्थल में न्याय के एक मुख्य सिद्धांत का प्रतिपादन है, पर इससे यह अर्थ कभी नहीं निकलता कि 'पौर जानपद' का विरोधी न्यायालयों से कोई सहायता न पा सकता था।

पौरसभा का भूतपूर्व सदस्य शूद्र होने पर भी ब्राह्मण का सम्मानार्ह है, यह धारणा भी मूल उल्लेख का ठीक अर्थ न समझने से ही हुई है। मूल में एक नगर के रहनेवालों के परस्पर शिष्टाचार का वर्णन है। गौतम का कथन है कि अपने से कम उम्र के ऋत्विक और मामा आदि का भी उठकर अभिवादन करना चाहिये, ८० वर्ष की अवस्था से ऊपर शूद्र का भी इसी भाँति सम्मान करना चाहिये[1]। पौर यहाँ 'नगर निवासी' का बोधक है नगर लोक सभा के सदस्य का नहीं[2]।

अब हम तथोक्त 'पौर जानपद' संस्था के वैधानिक अधिकारों के विषय में जायसवाल जी के मत की समीक्षा करेंगे। रामायण में राम के यौवराज्याभिषेक के प्रसंग में पौरों का भी जो उल्लेख आ गया है उसी के आधार पर जायसवाल जी का यह निष्कर्ष है कि इस संस्था को युवराज चुनने का अधिकार था। परंतु रामायण में स्पष्ट कहा गया है कि राजा ने केवल अपने सचिवों से राय करके ही राम को युवराज नियुक्त करने का निश्चय किया[3]। जिस श्लोक के बल पर कहा जाता है कि पौरों से भी राय ली गयी, उसमें 'आमन्त्र्य' शब्द का अर्थ ही गलत समझा गया है। 'आमन्त्र्य' का अर्थ 'राय देना' नहीं बल्कि 'विदा करना' है। अस्तु, विवादग्रस्त श्लोक[4]

(पृ० १०१ से आगे)

वसिष्ठ स्मृति के अध्याय दो, श्लोक ६ पर टीका करते हुए अपरार्क 'पौरराष्ट्रविरुद्ध' का अर्थ स्पष्ट 'पौरराष्ट्राचारविरुद्ध' बतलाते हैं।

१ ऋत्विक्श्वशुरपितृव्यमातुलानां तु यवीयसां प्रत्युत्थानमभिवाद्याः। तथाऽन्यपूर्वः पौरः अशीतिकावरः शूद्रोऽप्यपत्यसमेन। गौ ध सू ६ ९-१०।

२ देखिये पी मि स पृ ४६४, मनु के अध्याय दो के १२४ के दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् की व्याख्या इस प्रकार स्पष्ट की गयी है—एकपुरवासिनां अधिकतरविद्यादिगुणरहितानां दशाब्दपर्यन्तं ज्येष्ठे सत्यपि सख्येऽयमभिवाद्यते न तु अभिवाद्य। पुरग्रहणं प्रदर्शनार्थं तेन एकग्रामवासेऽपि एष भवति।

३ निश्चित्य सचिवैः सार्धं युवराजममन्यत। २ १ ४२

४ ते चापि पौरा नृपतेर्वचस्तच्छ्रुत्वा तदा लाभमिवेष्टमाशु।
नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा देवान्समानर्चुरतिप्रहृष्टाः ॥ २-८ ३४

का सही अर्थ है कि राजा से विदा लेकर राय देकर नहीं, पौर-गण अपने घर गये। रामायण से थोड़ा भी परिचय रखनेवाले व्यक्ति जानते हैं कि श्री राम के भविष्य का निपटारा जनता की राय से नहीं, किंतु अंतःपुर के षड्यंत्रों से हुआ।

इसी प्रकार मृच्छकटिक नाटक के दशम अंक के एक स्थल का कुछ और ही अर्थ लगा लेने के कारण यह मत प्रतिपादित किया गया कि पौर-जानपद राजा को गद्दी से उतार सकता था। इस अंक में शर्विलक दुष्ट राजा पालक का वध करके अपने मित्र आर्यक को गद्दी पर बैठाता है। पौर-जानपद का इस कार्य में कुछ भी हाथ न था। शर्विलक शासन परिवर्तन की घोषणा जानपद संस्था में नहीं, जनता के समूह में करता है, जो चारुदत्त का वध देखने को एकत्र हुए थे। शर्विलक अपने मित्र चारुदत्त को खोज रहा था, कि उसकी दृष्टि जनसमूह पर पड़ती है, और वह अनुमान करता है कि चारुदत्त का मृत्युदंड देखने के लिए ही भीड़ एकत्र हुई है[1]। मृच्छकटिक नाटक के किसी अंक में कहीं भी पौर जानपद संस्था का उल्लेख नहीं है।

जायसवाल जी के मतानुसार पौर जानपद संस्था का एक प्रधान कार्य संकट के समय अतिरिक्त कर लगाने की स्वीकृति देना था। महाभारत से एक उद्धरण देकर वे बताते हैं कि इसमें राजा द्वारा पौर जानपद से अतिरिक्त कर की याचना की गयी है। परंतु इस उद्धरण के अंतिम श्लोक में कहा गया है कि मौका पहचाननेवाला राजा इस प्रकार की मधुर, चतुर और आकर्षक बातें कहकर अपने दूतों को प्रजा में भेजे[2]। अतः, उपर्युक्त उद्धरण में पौर जानपद सभा में का राजा का भाषण नहीं वरन आवश्यकता पड़ने पर किस प्रकार चिकनी चुपड़ी बातों द्वारा प्रजा को फुसला कर अतिरिक्त कर देने पर राजी किया जाय इसका एक नमूना है।

यह धारणा भी ठीक नहीं है कि राज्य में चोरी डकैती द्वारा होने वाली हानि के लिए राजा से क्षति पूर्ति माँगने का पौरजानपद सभा को अधिकार

---

१ भवतु अत्र तेन भवितव्यं यत्राय जनपदसमवाय ।

मृच्छकटिक, दशम अंक, श्लोक संख्या ४७ के बाद।

२ इति वाचा मधुरया श्लक्ष्णया सोपचारया ।

स्वरश्मीनभ्यवसृजेद्योगमाधाय कालवित् ॥ म भा १२ ८७ ३४

था[1]। प्राचीन भारतीय राजनीति का यह सिद्धान्त था कि चोरी का माल बरामद न होने पर राज्य नागरिक की क्षति पूरी करे। याज्ञवल्क्य आदेश देते हैं कि राजा 'जानपद' (नागरिक) को 'चोरहृत धन' दे। यहाँ 'जानपद' का अर्थ लोकसभा नहीं, यह मनु स्मृति के इसी विषय के निर्देश से स्पष्ट हो जाता है, जिसमें यह कहा गया है कि चोरों द्वारा अपहृत धन पाने का अधिकार सब वर्णों के लोगों को है[2]। इससे स्पष्ट है कि मनुस्मृति में 'जानपद' का अर्थ किसी भी वर्ण का नागरिक है 'जानपद सभा' नहीं।

१० वें अध्याय में दिखाया जायगा कि नगर और ग्रामों में गैर सरकारी लोकसभा या पंचायतें होती थीं जिन्हें काफी अधिकार रहते थे। पर जायसवाल की यह धारणा गलत है कि जानपद (देहात) सभाओं से पृथक राजधानी की अपनी *'पौर सभा' थी। इसका कोई प्रमाण नहीं कि उत्तर वैदिक काल में जानपद* सभाएँ विद्यमान थीं। जायसवाल जी ने जितने प्रमाण दिये वे ऐतिहासिक स्वरूप के नहीं हैं, वे सब साहित्यिक ग्रंथों के उल्लेख मात्र हैं और इनसे पौर जानपद जैसी *किसी भी युक्त संस्था का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता जिसे राजा* को गद्दी से उतारने, युवराज नियुक्त करने, नये कर स्वीकार या अस्वीकार करने या देश के लिए औद्योगिक, व्यापारिक और आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने का अधिकार रहा हो। कहा जाता है कि ६०० ई० पू० से ६०० ई० तक इस प्रकार की संस्था काम कर रही थीं। यदि ऐसा है तो तत्कालीन किसी भी उत्कीर्ण लेख में इसका उल्लेख क्यों नहीं मिलता। मेगास्थनीस के विवरणों और अशोक के धर्मलेखों में मौर्य शासन का सविस्तर बयान है, पर ये दोनों ही पौर जानपद सभा का कोई उल्लेख नहीं करते[4]। न कौटिल्य

---

१ हिंदू पॉलिटी, भाग दो, पृ० ६८।

२ देयं चौरहृतं राज्ञा द्रव्यं जानपदाय तु। याज्ञ०, २ ३६

३ दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चोरैर्हृतं धनम्। मनु, ७ ४०

४ दिव्यावदान पृ० ४०७–८ में उल्लिखित तक्षशिला के पौर नगर निवासी हैं, नगर-सभा के सदस्य नहीं। राजा की अगवानी के लिए ये सड़कों की सफाई और मकानों की सजावट कर रहे हैं, यह काम साधारण नागरिकों का ही है, नगर की प्रतिनिधि संस्था के सदस्यों का नहीं। 'श्रुत्वा च तक्षशिलापौरा अर्धत्रिकाणि योजनानि मार्गशोभां नगरशोभां च कृत्वा पूर्णकुम्भैः प्रत्युद्गताः'।

के ग्रंथ शास्त्र में ऐसी किसी सभा का जिक्र है[1] । गुप्तों के उत्कीर्ण लेखों में अनेक शासन अधिकारियों का उल्लेख है, पर पौर-जानपद सभा का नाम भी नहीं लिया गया है । जानपदों की मोहरें नालन्दा में बहुतायत से मिली हैं पर वे विभिन्न ग्रामों की पंचायत की मोहरें हैं किसी केंद्रीय सभा की नहीं[2] । ९०० से १३०० ई० के बीच उत्तर और दक्षिण भारत में राज्य करनेवाले विभिन्न वंशों के राजाओं के सैकड़ों ताम्रपत्र मिले हैं । इन ताम्रपत्रों में जहां भूमिदान का उल्लेख है वहां युवराज से लेकर गाँवके मुखिया तक समस्त शासनसंस्थाओं और अधिकारियों से, जिनसे कुछ भी बाधा की आशंका थी, दान पानेवाले व्यक्ति की अधिकार रक्षा का अनुरोध किया गया है पर एक भी ताम्रपत्र में जायसवालजी की पौर जानपद सभा का उल्लेख नहीं है । यदि इस प्रकार की सभा उस समय काम कर रही थी और राज्य की आय-व्यय पर उसका नियन्त्रण था तो ताम्रपत्रों में इनका उल्लेख सबसे प्रथम होना चाहिये था । जब राज्य के अन्य सब अधिकारियों से दान में बाधा न देनेका अनुरोध किया जाता है तो पौर जानपद से यह अनुरोध करना तो और भी आवश्यक था, क्योंकि राज्य की आय-व्यय पर इसका नियन्त्रण बताया जाता है । हजारों ताम्रपत्रों में से जिनमें राज्य में तनिक भी अधिकार रखनेवाले एक एक अधिकारी के नाम गिनाये गये हैं,

---

1 जायसवाल जी की यह धारणा (भाग दो, पृ ८४) भी ठीक नहीं है कि अर्थशास्त्र में पौरसभा की उपसमितियों का उल्लेख है जिनके जिम्मे तीर्थों, सार्वजनिक भवनों और बाजार आदि की देखरेख का काम था । अर्थशास्त्र के उक्त स्थल में इस प्रकार का वर्णन है, राजा के चर (खुफिया) तीर्थों, सभा शालाओं और पूगों (बाजार) में 'जनसमवाय' (भीड़) में जायें और बहस छेड़कर राजा के बारे में उनके विचार जानने की चेष्टा करें । पर पौर सभा की उपसमितियों में, जिसके वे सदस्य भी न थे, कैसे जा सकते थे और बहस छेड़ सकते थे ? फिर समिति के वाद विवाद से ही सदस्यों के विचार मालूम हो सकते थे फिर चर भेजने की क्या जरूरत थी ? मूल इस प्रकार है—

सत्रिणो द्वन्द्विनस्तीर्थसभाशालासमवायेषु विवादं कुर्युः सर्वगुणसम्पन्नश्चायं राजा श्रूयते । न चास्य कश्चिद् गुणो दृश्यते यः पौरजानपदान् दण्डकराभ्यां पीडयति । ७ १२

२ पुरिकाग्रामजानपदस्य, वारकीयग्रामजानपदस्य, श्रीनालन्दाप्रतिबद्धमन पिकाग्रामजानपदस्य—मे० आ० स० इ०, न० ६६ पृ० ४२६ ।

एक में भी पौर जानपद सभा का उल्लेख न मिलना हमारी समझ में इस बातका पक्का प्रमाण है कि ईसवी प्रथम सहस्राब्दी में ऐसी कोई भी संस्था भारत में अस्तित्व में न थी। काश्मीर के जीवन और शासन व्यवस्था का सविस्तर वर्णन करनेवाली राजतरंगिणी में भी इस प्रकारकी किसी लोक संस्था का उल्लेख नहीं है।

जैसा कि दसवें और ग्यारहवें अध्याय में दिखाया जायगा, १२ वीं सदी के अंत तक भारत में ग्राम-पंचायतें और नगरों तथा पुरों की परिषदें विद्यमान रहीं और इन्हें शासन के काफी अधिकार भी थे। पर इस बातका कोई प्रमाण नहीं कि जायसवाल जी द्वारा प्रतिपादित प्रकार की कोई केंद्रीय सभा उत्तर बौद्ध काल में रही हो। इस संस्था के विलोप हो जानेके कारण भी ऊपर इस अध्याय में बता दिये गये हैं। शासन पर लोकमत का प्रभाव डालने की विधि कुछ और ही थी जो पांचवें अध्याय में बतायी जा चुकी है।

सरकार और विधि नियम (कानून) बनाने के अधिकार

इसी अध्याय में यह भी समझ लेना चाहिये कि प्राचीन भारत के राज्यों को विधि नियम बनानेके अधिकार कहां तक थे। आधुनिक कालमें ये अधिकार राज्य की केंद्रीय सभा को रहता है। देखना है कि प्राचीन भारत में जब सभा और समितियां वर्तमान थीं, तब उन्हें ये अधिकार थे या नहीं।

आजकल के लोगों को यह जानकर बड़ा आश्चर्य होगा कि प्राचीन भारत में राज्य या समिति न तो विधि नियम बनाती थी न उनको बनाने का अधिकार का दावा करता था। आधुनिक युगमें सर्वोच्च व्यवस्थापक सभा द्वारा बनाये गये विधि नियम सर्वमान्य हो रहे हैं और सनातन रूढिनियमों का क्षेत्र अधिकाधिक संकुचित करते जा रहे हैं। पर प्राचीन कालमें यह स्थिति न थी। विधिनियम या कानून धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकारके होते थे। धार्मिक विधिनियमों के आधार शास्त्र (श्रुति और स्मृति), लौकिक प्रथाएँ और पुराने रीतिरिवाज थे। सरकार या केंद्रीय समिति का इस विषय में कोई अधिकार न समझा जाता था। यदि सरकार ने परंपरागत विधिनियमों का बलात् बदलने की चेष्टा की होती तो उसका अधिक दिन टिकना असंभव हो जाता। परंपरागत रिवाज भी धार्मिक नियमों की ही भांति दिव्य समझे जाते थे। इनमें भी कालक्रम से परिवर्तन होता था। पर यह परिवर्तन व्यवस्थापक सभा द्वारा प्रकाश्य और मुखर रूपमें नहीं वरन् धीरे धीरे प्रथाओं के स्वयं परिवर्तित होनेसे चुपचाप अलक्ष्य गतिसे हो जाता था। व्यवस्थापक सभाके आदेश से हठात् परिवर्तन से समाज में घोर देवी आपत्तियों के विक्षोभ की आशंका थी।

अत वैदिक कालमें राज्य या समिति कोई भी विधिनियम बनाने का दावा न करती थी और स्मृति कालतक यही स्थिति रही।

प्राचीन यूनान के प्लेटो जैसे राज्यशास्त्री भी विधिनियम बनाना सरकार के कार्यक्षेत्र का अंग न समझते थे। उनका यह मत था कि विधिनियम परंपरागत अनुभव पर ही अधिष्ठित होने चाहिये, कोई भी व्यक्ति या व्यक्तिसमूह में वह योग्यता नहीं हो सकती है जो सामाजिक प्रथोंमें निहित या परंपरागत विधिनियमों में रहती है।

धर्मशास्त्रों में बहुत जोर देकर कहा गया है कि राजा का काम शास्त्र और प्रचलित प्रथाओं से अनुमोदित धर्मका पालन करना और कराना है,[1] स्वय या किसी राज्य संस्था द्वारा धर्म में परिवर्तन करने का उसे अधिकार नहीं है। धर्म और नीतिशास्त्र परमात्मा ने स्वय रचे हुए हैं और राजाका कार्य उनके निर्देशों को कार्यान्वित करना है, अपने अधिकार से उनमें कोई परिवर्तन वह नहीं कर सकता[2]।

परन्तु समय बीतने पर ज्यों ज्यों शासन का विकास होता गया और जीवन की पेचीदगी बढ़ने लगी, राज्य को विधि-नियम बनाने का अधिकार देनेकी आवश्यकता जान पड़ी। ऐसी अवस्थाएं उपस्थित होने लगीं जिनके लिए धर्म और नीतिशास्त्रों में कोई व्यवस्था न की गयी थी और राज्य तथा जनता दोनोके हितार्थ पुराने नियमों के सशोधन और नये नियमों की व्यवस्था की भी जरूरत जान पड़ी। मनुस्मृति ने राजाको शासन या आदेश जारी करने का अधिकार दिया[3], परन्तु वे शास्त्र और आचार के विरुद्ध न होने चाहिये[4]। याज्ञवल्क्य

---

१ देशजातिकुलधर्मां सर्वानेवैताननुप्रविश्य राजा चतुरो वर्णान् स्वधर्मे प्रतिष्ठा-
पयेत्। व ध सू १९ ७
जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ मनु, ८ ४१

२ यश्चापि धर्मं ह्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रय।
तमशङ्क करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥ म भा, १२ ५१ ११६

३ तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिप।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु त धर्मं न विचालयेत् ॥

४ मेधातिथि का इस पर टीका है—यत सर्वतेजोमय स राजा तस्माद्देशो-
दिष्टेषु वल्लभेषु मन्त्रिपुरोहितादिषु कार्यगत्या धर्मकार्यव्यवस्थां शास्त्राचारा
विरुद्धां व्यवस्येत्त न विचालयेत्।

भी कहते हैं कि न्यायालय को भी राजाके बनाये नियमों को मान कर कार्यान्वित करना चाहिये[१]।

परन्तु राज्यशास्त्र के ग्रंथ राजशासन को धर्मशास्त्रों से भी अधिक मान्य और प्रामाणिक मानते हैं[२]। बृहस्पति का भी यही मत है (२ २७)। नारद का कथन है कि राजप्रवर्तित नियमों का पालन न करनेवाला राजशासन की उपेक्षा के अपराध के लिए दंड पावे[३]। शुक्र कहते हैं कि प्रजाको सूचित करने के लिए राजशासन लिखकर चौमुहानी आदि सार्वजनिक स्थानोंपर लगाये जाय[४]।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि साधारणतः सरकार का काम धर्मशास्त्रों और लोकाचार द्वारा निर्दिष्ट व्यवस्था का परिपालन करना था पर बादमें तीसरी सदी ई पू के लगभग विधिनियम बनाने के कुछ अधिकार दिये गये। इस समय तक सभा और समिति विलुप्त हो चुकी थीं अत राजा अपने सचिवों से परामर्श पूर्वक इस अधिकार का उपयोग करते थे।

परन्तु राजशासन जारी करने का अधिकार उतना व्यापक नहीं था जितना आधुनिक व्यवस्थापक सभाओं के अधिकार व्यापक हैं। व्यवहार[५], दंड, और उत्तराधिकार के नियमादि स्मृतियों और लोकाचार द्वारा निर्दिष्ट थे और राजशासन का इनपर विशेष प्रभाव न पड़ता था। पर शासन और कर ग्रहण के क्षेत्र में राजा बहुत कुछ संशोधन परिवर्तन कर सकते थे। वे नये विभागों और पदों की सृष्टि कर सकते थे, नये कर लगा सकते थे और अशोक की भाँति अपनी नयी नीति निर्धारित कर सकते थे। इसके परिणाम स्वरूप राजा के अधिकार काफी विस्तृत हो गये और प्रजा के अधिकार घटते गये, क्योंकि जनता की कोई प्रतिनिधि सभा राजा के इन नये अधिकारों को नियंत्रित करने के लिए न थी।

---

१ निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत्।
सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः॥

२ धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः॥ अर्थशास्त्र ३ १

३ राज्ञा प्रवर्तितान्धर्मान्यो नरो नानुपालयेत्।
दण्ड्यः स पापो वध्यश्च लोपयन्राजशासनम्॥ १ १२

४ लिखित्वा शासनं राजा धारयेत् चतुष्पथे।
इति प्रबोधयन्नित्यं प्रजाः शासनडिण्डिमैः॥ १ ३१२

५ व्यवहार=दीवानी झगड़े, Civil law

अध्याय ८

मंत्रि मंडल

आधुनिक राज्य व्यवस्था में केंद्रीय शासन के विभाग में राजा या राष्ट्रपति, केंद्रीय व्यवस्थापक सभा, प्रजातंत्र, मन्त्रिमंडल (बहुधा केंद्रीय सभा द्वारा निर्वाचित), विभागों के अध्यक्ष और केंद्रीय शासन का कार्यालय का समावेश होता है। हम ने अभी तक इनमें से राजा, प्रजातंत्र और केंद्रीय व्यवस्थापक सभा के स्वरूप और कार्यों का निरूपण कर लिया है। अब हम मन्त्रिमंडल, विभागों के अध्यक्ष और केंद्रीय शासनकार्यालय पर विचार करके केंद्रीय शासन विषय का अध्ययन पूरा करेंगे।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने मन्त्रिमंडल को राज्य व्यवस्था का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग माना है। महाभारत में कहा गया है (५ ३७ ३८) कि राजा अपने मंत्रियों पर उतना ही निर्भर है जितना प्राणिमात्र पर्जन्य पर, ब्राह्मण वेदों पर और स्त्रियां अपने पतियों पर। अर्थशास्त्र का कथन है[1] कि जिस प्रकार एक चक्र (पहिये) से रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार बिना मंत्रियों की सहायता के अकेले राजा से राज्य नहीं चल सकता। मनु का कथन है कि सुकर काम भी एक आदमी को अकेले होने के वजह से दुष्कर हो जाता है फिर राज्य ऐसे महान् कार्य का बिना मंत्रियों की सहायता के चलाना कैसे संभव है[2]। शुक्र का कथन है कि योग्य से योग्य राजा भी सब बातें नहीं समझ सकता, पुरुष पुरुष में बुद्धि वैभव अलग अलग होता है, अतः राज्य की अभिवृद्धि चाहने वाला राजा

---

1 सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते ।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम् ॥ अर्थ १ ३ १ अध्याय ३

2 अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम् ॥ मनु ७, ५५

योग्य मन्त्रियों को चुने अन्यथा राज्य का पतन निश्चित है[1]। उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि हिंदू विधानशास्त्री मन्त्रिमंडल को राज्यका अविच्छेद्य अंग मानते थे।

अब हमें देखना है कि व्यवहार भी ऐसा ही था या नहीं। ऋग्वेद और अथर्ववेद में राजा के मन्त्रियों का कोई उल्लेख नहीं है, न उल्लेख का कोई प्रयोजन ही है। हाँ यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मण ग्रंथों में राज्य के कुछ उच्चाधिकारियों का उल्लेख है ये 'रत्नी' कहे जाते थे और संभवतः राजपरिषद् के सदस्य थे[2]। परन्तु भिन्न भिन्न ग्रंथों में इनके जो नाम दिये गये हैं उनमें अंतर है और इन सबके कार्यों का ठीक ठीक वर्णन करना भी बहुत कठिन है। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि रत्नियों की सूची में राजा के संबंधी, मन्त्री विभागों के अध्यक्ष और दरबारी गण सम्मिलित थे। पहली श्रेणी में राजा की पट्टरानी और प्रिय रानी भी थीं क्योंकि इनका नाम सभी संहिताओं में मिलता है। इससे यह लक्षित होता है कि वैदिक काल में रानी की हैसियत केवल राजा की पत्नी ही की नहीं थी वरन् शासनव्यवस्था में भी उसका एक स्थान था। युवराज भी राज परिषद में रहते होंगे यद्यपि रत्नियों की सूची में उनका नाम नहीं मिलता। इसका कारण संभवतः यह है कि राज्याभिषेक के समय ही रत्नियों का उल्लेख संहिताओं में आता है, और उस समय बहुत छोटा, और इसीलिये शासन कार्य में सहयोग करने में असमर्थ होने के कारण, युवराज का अंतर्भाव रत्नियों में न किया होगा।

पुरोहित का नाम सर्वत्र रत्नियों की सूचियों में मिलता है। उस युग के लोगों का विश्वास था कि जिस राजा के योग्य पुरोहित न हो उसका हविर्भाग देवता अंगीकार न करते थे। अतः जिस युग में यज्ञ द्वारा देवता का प्रसाद प्राप्त करने पर ही युद्धक्षेत्र में विजय प्राप्ति निर्भर मानी जाती थी उस युग में पुरोहित का नाम मन्त्रियों की सूची में पहले रखा जाना अनिवार्य ही था।

---

१ पुरुषे पुरुषे भिन्नं दृश्यते बुद्धिवैभवम्।
आप्तवाक्यैरनुभवैरागमैरनुमानतः ।
न हि तत्सकलं ज्ञातुं नरेणैकेन शक्यते।
अतः सहायान्वरयेद्राजा राज्याभिवृद्धये॥
विना प्रकृतिसम्मत्या राज्यनाशो भवेद् ध्रुवम्।
रोधश्च न भवेत्तस्माद्राज्यहेतुः सुमन्त्रिणः॥ शु० २ ८१

२ श० ब्रा०, १३ १ ४ में रत्नी को 'वीर' पदवी से संबोधित किया है।

रत्नियों की सूची में मिलने वाले विभागाध्यक्षों के नामों में सेनानी सूत, ग्रामणी संग्रहीता और भागदुघ के नाम हैं। सेनानी सेनापति था। सूत संभवत रथसेना का नायक था और सम्मान के लिए राजा के सारथी का पद वहन करता था। ग्रामणी गाँव के मुखियों में प्रधान होता होगा, जो रत्नी वर्ग की सदस्यता के लिए संभवत चुना जाता होगा। एक स्थल में उसे वैश्य कहा गया है संभवत वह इसी वर्ग का होता था। भागदुघ स्पष्ट ही कर वसूलने वाला या अर्थमंत्री था और संग्रहीता कोषाध्यक्ष था।

रत्नियों की सूची में उल्लिखित क्षत्ता, अक्षावाप और पालागल, दरबारी श्रेणी के जान पड़ते हैं। क्षत्ता संभवत राजा का परिचारक था[1]। अक्षावाप द्यूत क्रीड़ा में राजा का साथी और पालागल उसका अंतरंग मित्र था, बाद के युग के विदूषक की भाँति। कुछ लोगों का अनुमान है कि पालागल पड़ोसी राज्य के राजदूत को कहते थे पर यह ठीक नहीं जान पड़ता[2]। कुछ ग्रन्थों में गोविकर्तन या गोऽध्यक्ष, तक्षा और रथकार के नामों का भी रत्नियों की सूची में उल्लेख किया है[3]। वैदिक काल में गौएं ही धन समझी जाती थीं अत गोविकर्तन राजा के गोधन का अधिकारी रहा होगा। तक्षा का अर्थ बढ़ई है और रथकार रथ बनानेवाला था। आजकल के युद्ध में विमान का जो स्थान है वही वैदिक काल में रथ का था अत यह असंभव नहीं कि बढ़ई और रथकारों की श्रेणी के प्रमुख भी रत्नी वर्ग में शामिल किये गये हों।

अत वैदिक काल की रत्निपरिषद में पट्टरानी, युवराज, राजन्य आदि राजा के संबंधी, अक्षावाप, क्षत्ता आदि दरबारी और सेनानी सूत, संग्रहीता और रथकार आदि प्रमुख अधिकारी शामिल रहते थे।

रत्नी लोगों का पद बहुत ऊँचा समझा जाता था। राजसूय यज्ञ के अवसर पर राजा 'रत्नि बलि' प्रदान के लिए स्वयं रत्नियों के घर जाता था, वे उसके घर नहीं आते थे। वैदिक काल की समिति बहुत शक्तिशाली संस्था

---

1 बाद के साहित्य में इस शब्द का यही अर्थ है। परंतु डॉ घोषाल का मत है कि क्षत्ता भोजन बाँटने वाले को कहते थे। हिस्ट्री ऑफ हिंदू पब्लिक लाइफ, भाग १ पृ १०२ परंतु इस प्रकार का कोई विभाग वैदिक काल में था, इसमें संदेह है।

२ भाग थी. सू., १४ १० २६।

३ श प ब्रा., ५ ३ १ १; का स, १५ ४

युवराज और मालवा के प्रांताधिकारी अग्निमित्र की भी (१५० ई० पू०) मंत्रिपरिषद् थी। गुप्त राज्य में युवराज के मन्त्रियों को 'युवराजपदीय कुमारामात्य' कहते थे[1]। यादव नरेश पंचम भिल्लम (११८० १२१० ई०) के युवराज के यहां भी मन्त्रिमंडल था। यादव राज रामचंद्र के दक्षिण प्रदेश के शासक टिक्कम देवरस भी मन्त्रि परिषद् की सहायता से शासन करता था[2]। युवराज और प्रांताधिकारी सामंत राजाओं के समकक्ष होते थे और सम्राट् की भांति उनके लिए भी मन्त्रि परिषद् का होना जरूरी समझा जाता था।

अब हमें देखना है कि मन्त्रिमंडल में कितने सदस्य होते थे। मनु का मत है कि मन्त्रियों की संख्या ७ या ८ होनी चाहिये[3]। महाभारत ८ के पक्ष में है[4]। अर्थशास्त्र इस विषय में विभिन्न मतों का उल्लेख करता है जिससे पता चलता है कि मानव सम्प्रदाय वाले १२ बार्हस्पत्य पंथवाले १६ और औशनस पंथवाले २० मन्त्रियों के पक्ष में थे[5]। शुक्रनीति १० मन्त्रियों की राय देती है[6]। नीतिवाक्यामृत के अनुसार मंत्रिसंख्या ३, ५ या ७ से अधिक न होनी चाहिये।

यह अंतर इसलिए है कि मन्त्रियों की संख्या निर्दिष्ट करते समय विभिन्न आचार्यों की दृष्टि विभिन्न राज्यों पर थी। इसीलिए मनु[7] और कौटिल्य[8] इस बात में एकमत है कि हरेक राज्य की आवश्यकतानुसार उसके मन्त्रियों की संख्या निश्चित की जाय। यदि राज्य छोटा है और उसका कार्य क्षेत्र भी सीमित है तो ४–५ मन्त्रियों से ही काम चल जायगा, जैसा कि शिलाहार राज्य में था[9]। जातक काल में जब कि राज्य का कार्य क्षेत्र व्यापक न होता था साधारणतः पाँच मन्त्री होते थे[10]। परंतु बड़े बड़े साम्राज्यों में मन्त्रियों की संख्या अधिक होती थी। परराष्ट्र विभाग में दो भिन्न भिन्न विषयों के लिए कई मन्त्री भी होते थे। शिलाहार राज्य में एक प्रधान परराष्ट्रमन्त्री के

१ अ रि, ११०१ ४, पृ १०७
२ सौ इ इ, भाग ३, सं ११७ से १०८
३ सचिवान्सप्त चाष्टौ वा कुर्वीत सुपरीक्षितान्। ७ ५४
४ अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत्॥ १२ ८५
५ भाग एक, अध्याय १५।
६ २ ७०।
७ मनु ७ ६१।
८ यथासामर्थ्यमिति कौटिल्य। १ १५
९ इ एँ जिल्द पांच, पृ २७८ जिल्द ९ पृ ३५
१० जातक सं ५२८

अतिरिक्त कर्णाटक के परराष्ट्र सबध की व्यवस्था के लिए एक पृथक् मत्री भी रहता था[१]। यदि शिलाहार जैसे छोटे राज्य में परराष्ट्र विभाग में दो मत्री थे, तो मौर्य, गुप्त, और राष्ट्रकूट जैसे विशाल साम्राज्यों में तो अनेक रहे होंगे। परन्तु मन्त्रिमडल की सख्या सर्व सम्मत परपरा के अनुसार प्राय आठ ही रहती थी। और आवश्यकता पड़ने पर शुक्र[२] के मतानुसार उपमत्री नियुक्त किये जाते रहे होंगे।

ऐसा प्रतीत होता है कि ७ या ८ मन्त्रियों के मन्त्रिमण्डल के अतिरिक्त आज कल की प्रिवी कौंसिल की भांति एक बड़ी परामर्शदात्री सस्था भी होती थी जिसके सदस्य 'अमात्य' कहे जाते थे[३]। महाभारत में उल्लिखित ३६ अमात्यों की परिषद् इसी प्रकार की सस्था थी। अर्थशास्त्र से भी ज्ञात होता है कि अमात्य विभागों के अध्यक्ष जैसे उच्चपदस्थ अधिकारी होने पर भी मन्त्रियों से पद में नीचे थे इसीलिए सख्या में भी अधिक थे[४]। उनका वेतन भी मन्त्रियों से कम था। परन्तु गंभीर स्थिति उपस्थित होने पर सलाह के लिए वे भी मन्त्रियों के साथ ही आमन्त्रित किये जाते थे। बाद में सातवाहन और पल्लव राज्य में प्रादेशिक शासकों और विभागों के अध्यक्षों को अमात्य कहने लगे, मंत्रिपरिषद् या किसी परामर्शदात्री परिषद् से उनका कोई सबध न रह गया था[५]।

मन्त्रियों की कार्य क्षेत्र में शासन का पूरा क्षेत्र आ जाता था। उनका कार्य नयी नीति का निर्धारण करना, उसे सफलता पूर्वक कार्यान्वित करना, इसमें उठनेवाली कठिनाइयों को दूर करना, राज्य के आय-व्यय के सबध में नीति निर्धारण और उनका निरीक्षण करना, राजकुमारों की शिक्षा दीक्षा का समुचित प्रबध करना, उनके राज्याभिषेक में भाग लेना और परराष्ट्र नीति का

---

१ इ ए., ५ २०७

२ २ १०१ ११०

३ १२, ८५, ७८

४ मन्त्रियों का सालाना वेतन ४८००० पण था, मगर अमात्यों का केवल १२००० ही पण था।

५ गोवर्धन जिलाधिकारी अमात्य विष्णुपालित का उल्लेख नासिक शिलालेख न ३-४ में आया है। ए इ, ७, ए इ १, ५ में पल्लवों के अमात्यों का उल्लेख मिलता है।

सञ्चालन, करके पड़ोसी स्वतन्त्र राजाओं के और साम्राज्यान्तर्गत सामंतों के नीतिपर विचार करता था[१]।

यह स्वाभाविक ही था कि मन्त्रिगण काम बांट ले और एक एक विभाग का जिम्मा ले लें। पर हमारे प्राचीन आचार्यों ने विभागों के विभाजन पर कुछ विचार नहीं प्रकट किये हैं। ८ वी सदी ईसवी के आचार्य शुक्र से ही हमें विभागों का कुछ परिचय मिलता है। उनके मतानुसार मन्त्रिपरिषद् में निम्न लिखित १० मन्त्री होने चाहिये[२]। १—पुरोहित २—प्रतिनिधि, ३—प्रधान, ४—सचिव, ५—मन्त्री, ६—प्राड्विवाक, ७—पंडित, ८—सुमन्त्र, ९—अमात्य, और १०—दूत। वे यह भी कहते हैं कि कुछ लोगों के मत से पुरोहित और दूत की गणना मन्त्रियों में नहीं की जाती।

यद्यपि पूर्व आचार्यों ने विभागों का वर्णन नहीं किया है फिर भी हम मान सकते हैं कि विभागों का विभाजन शुक्राचार्य द्वारा वर्णित ढंग पर ही होता था, क्योंकि उत्कीर्ण लेखों में इन मन्त्रियों के उल्लेख इसी या इसके पर्यायवाचक नामों से मिलते हैं। अब हम इन मन्त्रियों के कार्यों पर विचार करेंगे।

पुरोहित का वैदिक काल के रत्नियों में भी प्रमुख स्थान था और वह शताब्दियों तक उसका स्थान मन्त्रिपरिषद् में कायम रहा। वह राजा का गुरु था। उसका काम शत्रु के अनिष्टकारक अनुष्ठानों का प्रतीकार करना और अर्थशास्त्र में वर्णित पुरोहित कर्म द्वारा राष्ट्र का अभ्युदय करना था[३]। वह राजसेना के हाथी और घोड़ों को मन्त्रपूत करता था[४], और वैदिक काल में राजा के साथ युद्ध क्षेत्र में जाकर अपने मन्त्रों और स्तुतियों द्वारा देवताओं को

---

१ मन्त्रो मन्त्रफलावाप्तिः कर्मानुष्ठानमायव्ययकर्म कुमाररक्षणमभिषेकश्च कुमाराणामायत्तममात्येषु। अर्थशास्त्र, ८.७.१६। जातक सं० १२० से ज्ञात होता है कि अक्सर मन्त्रिगण ही इस बात का निर्णय करते थे कि युवराज को राज्याधिकार कब दिया जाय।

२ २७०.७२

३ पुरोहितं षडङ्गे वेदे दैवे निमित्ते अभिविनीतमापदां दैवमानुषीणामथर्वभिरुपायैश्च प्रतिकारं कुर्वीत। तमाचार्यं शिष्य पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनमिवानुवर्तेत। अर्थ, १.९

४ सुसीमजातक।

प्रसन्न करके विजय श्री प्राप्त करने का प्रयत्न करता था[1]। वह धर्म, शास्त्र व विशेषतः नीतिशास्त्र में निष्णात होता था। जब राजा किसी दीर्घकालीन यज्ञ की दीक्षा ले लेता था तब पुरोहित ही उसकी ओर से शासन चलाता था[2]। रामायण में वर्णन है कि राजकुमारों की अनुपस्थिति से सिंहासन खाली रहने पर राजगुरु वशिष्ठ ही आवश्यक समय तक राज्य का सञ्चालन करने लगे। मंत्रियों में केवल पुरोहित ही ऐसा था जिसके पद ग्रहण के समय एक वैदिक विधि विहित था। उसका नाम बृहस्पतिसव था और वह वैदिक काल में रूढ़ था।

वैदिक कर्मों के पूर्ण प्रचार के युग में पुरोहित का प्रभाव बहुत रहा होगा। औपनिषदिक, बौद्ध और जैन दर्शन के विकास के फलस्वरूप यज्ञोंका प्रचार कम होने पर पुरोहित का प्रभाव भी अवश्य घटा होगा। फिर भी जातकों के समय में भी वह काफी प्रभावकारक था, उसे जातक कथाओं में अत्थधम्मक मंत्री अर्थात् धर्माधिकार प्राप्त मंत्री का नाम दिया गया है। परन्तु बाद में उसका प्रभाव अवश्य ही कम हो गया। गुप्तकाल के बाद के लेखों में उसका उल्लेख मंत्रियों से अलग किया गया है[3] जिससे प्रकट होता है कि वह मंत्रिमंडल का सदस्य न रह गया था। अस्तु, शुक्रनीति में उसका मंत्रिपरिषद् में सम्मिलित किया जाना सम्भवतः पुरानी परंपरा का द्योतक है, न कि तत्कालीन प्रथा का। साथ ही शुक्रनीति (२, ७२) यह भी स्वीकार करती है कि अन्य लोगों के मतानुसार मंत्रिमंडल में पुरोहित को स्थान नहीं है। अस्तु, लगभग २०० ई० से पुरोहित की गणना मंत्रियों में न होती थी, फिर भी राजा पर उसका नैतिक प्रभाव काफी था। आदर्श पुरोहित की झिड़की या राजा को सत्पथ पर ला देने के लिए काफी समझी जाती थी[4]।

---

१ दस राजाओं की लड़ाई में विश्वामित्र बराबर राजा सुदास के साथ थे। उनके मंत्रों से प्रसन्न होकर ही विपाश और शतुद्रु नदियों का जल उतर गया और सुदास की सेना सुगमता से पार उतर सकी।

२—ऐत ब्रा, ८, २-१२, (तै) १ २, पी सो पृ०, १८ २

३—राजराज्ञीयुवराजमंत्रिपुरोहितप्रतीहारसेनापति । गाहड़वालों लेख। शिलाहार वंश के लेखों में भी वह मंत्री और अमात्यों से पृथक रखा जाता है। एपि इण्डिका, जिल्द ३ पृ० २४।

४ परकोपभीरुपा राजापि धर्मनीतिरतो भवेत् । ...

शुक्र की मंत्री सूची में दूसरा स्थान प्रतिनिधि का है। इसका काम राजा की अनुपस्थिति में उसके नाम से कार्य करना था। वयस्क होने पर संभवतः युवराज को ही यह पद मिलता था। जातकों में उल्लिखित 'उपराजा' शुक्र द्वारा वर्णित प्रतिनिधि के ही समान था। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि प्रतिनिधि की गणना मंत्रिपरिषद् में न होती थी। क्योंकि उत्कीर्ण लेखों में इसका उल्लेख नहीं मिलता, और मनु भी प्रतिनिधि को नहीं प्रधान मंत्री को ही राजा का स्थान ग्रहण करने को कहते हैं[1]।

प्रधान या प्रधान मंत्री, मन्त्रिपरिषद् का सबसे महत्वपूर्ण सदस्य था। शुक्र के मत में वह 'सर्व दर्शी[2]' पूरी शासन व्यवस्था पर आँख रखने वाला, होता था। उत्कीर्ण लेखों में भी अनेक प्रधान मन्त्रियों के नाम मिलते हैं। छठवीं सदी के एक कदंब वंश के लेख में 'सर्वस्य अनुज्ञाता' उपाधि से सम्बोधित जियंत[3], गुजरात की राष्ट्रकूट शाखा के राजा दन्तिवर्मन् (८८० ई) का महामात्य कृष्णभट्ट[4], ११ वीं सदी के एक यादव लेख में वर्णित 'महा प्रधान' प्रभाकर[5], चंदेल राजा कृष्णवर्मन् (१०९० ई) का 'मंत्रीन्द्र' वत्स राज,[6] चाहमान राजा विशालदेव (११६० ई) का 'महामंत्री' सल्लक्षणपाल[7], और अनेक परमार और प्रायः सभी चौलुक्य लेखों में वर्णित 'महामात्य' — ये सब अधिकारी प्रधानमंत्री ही थे इसमें बिलकुल संदेह नहीं। इनका पद बड़ा ही ऊँचा था। उत्कीर्ण लेखों में सामंतों की मुकुट मणियों की प्रभा से महामात्य के चरणों के नखों के प्रकाशित होने का वर्णन किया गया है। आधुनिक काल की भाँति प्राचीन भारत में भी प्रधानमंत्री के जिम्मे शासन का एक विभाग रहता था, शिलाहार राजा अनंतदेव (१०८१ ई) का प्रधान मंत्री प्रधान कोषाध्यक्ष भी था[8]।

---

१ ७ १४१।
२ सर्वदर्शी प्रधानस्तु।
३ इंड ऍटि ६ २४।
४ एपि इंडि ६, २८७।
५ एपि इंडि ३ २१५।
६ इंडि ऍटि, १८ २३६।
७ इंडि ऍटि १९ २१८।
८ वही १२ १२७।

प्रधान के बाद युद्ध मंत्री का स्थान है। शुक्र ने उसे सचिव का नाम दिया है परन्तु यह नाम साधारणतः उसके लिए प्रयुक्त न होता था। मौर्य राज्य में उसे सेनापति कहा जाता था, गुप्त राज्य में 'महाबलाधिकृत'[१] कश्मीर में 'कम्पन'[२] और यादव राज्य में 'महाप्रचण्डदण्डनायक'। नीतिवाक्यामृत में सेनापति को मंत्री परिषद् में स्थान नहीं दिया गया है[३] पर साधारणतः उसकी गणना मंत्रियों में ही की जाती थी। युद्ध मंत्री का युद्धकौशल शस्त्रसंचालन और सैन्यसंगठन में निष्णात होना आवश्यक था। उसका काम राज्य के सब दुर्गों में यथोचित सेना रखना और सेना के सब विभागों की व्यवस्था करना था, ताकि उनकी युद्धशक्ति बराबर बनी रहे[४]।

इसके बाद परराष्ट्र मंत्री का स्थान है। शुक्र ने इसे 'मंत्री' का नाम दिया है पर उत्कीर्ण लेखों में इसे अधिक सार्थक 'महासंधिविग्रहक'[५] नाम से संबोधित किया गया है। प्राचीन भारत में छोटे मोटे राज्यों का बाहुल्य था। इनमें से कुछ स्वतंत्र थे और कुछ किसी बड़े राज्य के करद थे। पर सभी साम्राज्य पद के आकांक्षी होते थे। इसलिए परराष्ट्र मंत्रि का कार्य कठिन और भारी होता था। प्राय हर राज्य का अलग अलग खाता होता था। शिलाहार जैसे छोटे राज्य में भी प्रधान परराष्ट्र मंत्री के अतिरिक्त कर्णाटक सम्बन्धी समस्याओं के लिए एक मंत्री अलग था[६] जिसे कर्णाटक संधिविग्राहिक कहते थे। मौर्य, गुप्त, राष्ट्रकूट और गुर्जरप्रतिहार जैसे बड़े बड़े साम्राज्यों में तो एक परराष्ट्र मंत्री के नीचे अनेक सचिव रहे होंगे।

परराष्ट्र मंत्री के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद की चतुर्मुखी नीति में पटुता अत्यावश्यक थी[७]। बहुत से लेखों से पता चलता है कि उसके जिम्मे ब्राह्मणों, मंदिरों और मठों के लिए भूमिदान की व्यवस्था करना और ताम्रपट्ट तैयार करने का भी काम था। परराष्ट्र मंत्री को यह काम सौंपना कुछ विलक्षण सा जान पड़ता है। पर स्मरण रखना चाहिए कि दानपत्रों में दान देनेवाले राजा की वंशावली और उसके की वीरता और विजयों का बखान रहता था और यह कार्य परराष्ट्र मंत्री ही अच्छी तरह कर सकता था। मिताक्षरा में किसी

---

१ एपि इण्डि, १०, ७१। २ राजतरंगिणी, सर्ग ७ ३६४।
३ अध्याय १०, १०१२। ४ शुक्रनीति, २ ४१।
५ इस पदवी का अर्थ लड़ाई और संधि कराने वाला बड़ा अधिकारी है।
६ इण्डि ऐण्टि, ५ २७१। ७ शुक्र, २ ९५।

अर्थात आचार्य के मत का हवाला दिया गया है कि 'सन्धिविग्रहकारी' ही दान पत्र का लेखक हो[1]।

'प्राड्विवाक' के जिम्मे न्याय विभाग था और वह प्रधान न्यायाधीश होता था। स्मृति और लोकाचार के पूरा ज्ञान के अतिरिक्त इसे दोनों पक्षों द्वारा पेश किये गये प्रमाणों और साक्ष्यों की ठीक ठीक परख सकने की योग्यता भी होनी जरूरी थी। राजा की अनुपस्थिति में अंतिम निर्णय देने का अधिकार इसी को होता था। उत्कीर्ण लेखों में इसका उल्लेख बहुत ही कम मिलता है[2]।

'पंडित' के हाथ में धर्म और सदाचार सबधी विषय रहते थे। इसका काम राज्य की धार्मिक नीति निर्धारित करना था। धर्मशास्त्रों में पारगत होने के साथ ही यह लोकाचार पर भी सूक्ष्म दृष्टि रखता था और देखता था कि कौन से धार्मिक विचार और आचार समाज में प्रचलित और मान्य है और कौन से लोक-काल विरुद्ध होकर अनुपयोगी हो गये हैं। इन सब बातों का उदारता पूर्वक यथासाध्य विचार करके यह राज्य की धार्मिक नीति का स्वरूप निश्चित करता था। हम बता चुके है राज्य धर्म का सरक्षक माना जाता था। पर इसका अर्थ यह भी न था कि एकदम पुराने पड़ गये ग्रथों में भी जो कुछ भी लिखा हो उसे आँख मूँद कर कार्यान्वित किया जाता था। मंत्री पंडित का यह काम था कि जो धार्मिक निर्देश पुराने और अनुपयोगी हो गये हों उनका पता लगा कर उन्हें प्रोत्साहन न दे और उनका पालन न करे। यह राज्य को यह भी सलाह देता था कि धर्म और सस्कृति के अनुकूल पुरानी व्यवस्था में क्या सशोधन किये जायँ[3]। 'अशोक के 'धर्ममहामात्य', सातवाहनों के 'श्रमणमहामात्र',[4] गुप्त राज्य के 'विनयस्थितिस्थापक',[5]।

---

१ सन्धिविग्रहकारी तु भवेद्यस्तस्य लेखक । याज्ञ १ ३१९–२० ।

२ प्रथम अमोघवर्ष के सञ्जन दानपत्र का लेखक 'प्राड्विवाक' था ।
एपि इंडि, १८, २५२

३ वर्तमानाश्च प्राचीना धर्माः के लोकसंश्रिता ।
शास्त्रेषु के समुद्दिष्टा विरुध्यन्ते च केऽधुना ॥
लोकशास्त्रविरुद्धा के पण्डितस्तान् विचिन्त्य च ।
नृपं संबोधयेत्तैश्च परत्रेह सुखप्रदैः ॥ शुक्र २, ९० १००

४ एपि इंडि ८ ९३ ।

५ क स रि, १९०३–४, १०९ शुक्र २ १००

राष्ट्रकूटों के 'धर्मांकुश'[1] और चेदि राज्य के 'धर्मप्रधान' सब इसी श्रेणी के अधिकारी थे। इसी विभाग के अंतर्गत मठ, मंदिर, पाठशाला और विद्यालयों को दान देने का कार्य भी रहा होगा।

शुक्र की सूची में अगला स्थान कोषाध्यक्ष का है जिसे 'सुमन्त्र' का नाम दिया गया है। पर इससे अच्छा शब्द वैदिक काल का 'संग्रहीता' या कौटिल्य का 'समाहर्ता' है। उत्कीर्ण लेखों में इसे अधिकतर 'भाण्डागारिक' (कोष और भाण्डार का अधिकारी) कहा गया है। इस शब्द से इस पद के कर्तव्य का ठीक-ठीक ज्ञान होता है। साल भर में राजभाण्डार में कितना आया और गया और अंत में क्या बचा इसका पता रखना इसका काम था[2]। राज्य को शुल्क या कर अधिकतर अनाज और पदार्थों में मिलता था। अतः भाण्डागारिक का काम बड़े झंझट का था। पुराने अनाज को बेचना ताकि वह सड़ न जाय और नया अनाज खरीद कर भाण्डार में रखना भी इसका काम था।

कोषाध्यक्ष का पद बड़े महत्त्व का था। १०९४ ई० में शिलाहार राजा अनन्त देव के केवल ५ मन्त्री थे, फिर भी कोषाध्यक्ष उनमें से एक था। महाभारत (१२ १२० ३५) कामन्दक नीतिसार (३१, ३२) और नीतिवाक्यामृत (२१, ५) में कहा गया है कि कोष राज्य की जड़ है और इसकी देखरेख यत्नपूर्वक होनी चाहिये। गाहड़वाल ताम्रपत्रों में 'कोषाध्यक्ष' का नाम बराबर मिलता है। अन्य लेखों में यदि इसका नाम न हो तो संयोग वश ही।

अब माल मन्त्री का नंबर आता है। शुक्र की सूचीमें इसे 'अमात्य' का नाम दिया गया है। इसका काम राज्य भरके, नगरों ग्रामों और जंगलों तथा उनसे होने वाली आयका ठीक ठीक ब्योरा रखना था। इसके अतिरिक्त कृषि योग्य और परती भूमि तथा खानों की अनुमानित आयका भी ब्योरा इसके पास रहता था[3]। उत्कीर्ण लेखों में इसका उल्लेख बहुत कम हुआ है[4]।

---

१ इंडि एंटि १८ २३०।

२ इयच्च संचितं द्रव्यं वत्सरेऽस्मिंस्तृणादिकम्।
व्ययीभूतमियच्चैव शेषं स्थावरजंगमम्॥
इयदस्तीति वै राज्ञो सुमन्त्रो विनिवेदयेत्॥ शुक्र, २ १०२

३ शुक्र, २, १०३ २।

४ ग्यारहवीं शताब्दी के एक यादव लेखमें इसका उल्लेख मिलता है, एपि, १, पृ० २२५। चालुक्य लेखों में उल्लिखित 'महामात्य' प्रधान मन्त्रीका बोधक है मालमन्त्री का नहीं।

यह खेदका विषय है कि राज्य शास्त्र के ग्रन्थों या अर्कीर्ण लेखों से 'मन्त्रि परिषद्' की कार्य प्रणाली का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं प्राप्त होता। साधारणतः मन्त्रि परिषद् की बैठक राजा की अध्यक्षता में होती थी। कहा भी गया है कि मंत्रियों की राय अपनी राय से भिन्न होने पर राजा कोप न करें[१]। मनु की सलाह है (८ ५७) कि राजा मंत्रियों से सामूहिक और अलग अलग दोनों प्रकार से मंत्रणा करे। सम्भव है कि अन्य मंत्रियों के सामने कोई मंत्री अपनी स्पष्ट राय देने में संकोच करे, इस लिए अलग-अलग मंत्रणा करने की भी राय दी गयी है। शुक्र यह शंका करते हैं कि राजा की उपस्थिति से मंत्री बहुधा सच्ची और राजा को बुरी लगने वाली राय प्रकट करने में हिचक सकते हैं इस लिए वे यह राय देते हैं कि मंत्री अपना अपना मत सप्रमाण लिखकर राजा के पास भेज दें[२]। कौटिल्य उपस्थित विषयों से सबद्ध ३-४ मंत्रियों से एक साथ मंत्रणा करने के पक्ष में हैं[३]। राजतरंगिणी से पता चलता है कि कश्मीर में ये सभी प्रथाएँ प्रचलित थीं[४]।

फिर भी हम मान सकते हैं कि साधारणतः मन्त्रिपरिषद् एक होकर कार्य करती थी और संयुक्त रूप से राजा को मंत्रणा देती थी। सम्यक् विचार के बाद मन्त्रिपरिषद् एकमत होकर जो शास्त्र सम्मत राय देती थी वह 'उत्तम मंत्र' समझा जाता था और उसका बहुत महत्व होता था[५]। कौटिल्य का कथन है कि गंभीर स्थितियों में भी राजा को साधारणतः मन्त्रिपरिषद् के बहुमत की राय माननी चाहिये, यद्यपि उचित समझने पर उसे इस राय से अलग जाने का भी पूरा अधिकार था।[६]

---

१ मंत्रकाले न कोपयेत्। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र, २ ४३।

२ राजाग्रतोऽमात्यगणाः स्युमूका इव मंत्रिणः।
॥ राजानुमता यथा नृपतिः स्वाभिप्रायम् ॥
पृथक्पृथक् मतं तेषां लेखयित्वा ससाधनम्।
विमृश्योत्तममतेनैव यत्कुर्यात्तद्बहुसंमतम् ॥ २ ३६६ ४।

३ भाग १, अध्याय १५।

४ राजा हर्ष अपने सब मंत्रियों से एक साथ मंत्रणा करते वर्णित किये गये हैं (अध्याय ७, १०४२ और १४१२) राजा जयसिंह थोड़े से मंत्रियों से ही मंत्रणा करते थे (८, १०८२ ३)

५ ऐकमत्यमुपागम्य शास्त्रदृष्टेन चक्षुषा।
मंत्रिणो यत्र निरतास्तमाहुर्मंत्रमुत्तमम् ॥ रामायण ६ १२

६ तत्र यद्भूयिष्ठा कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात्। अर्थशास्त्र, भाग १, अ ६

अशोक के स्तम्भशासन के तीसरे और छठें लेखों से मन्त्रिपरिषद् की कार्य-प्रणाली के विषय में और ज्ञान प्राप्त होता है। तीसरे लेख में कहा गया है कि 'मंत्रिपरिषद्' के निश्चय लेखबद्ध करके स्थानीय कर्मचारियों द्वारा प्रजा को समझाये जायँ। छठें लेख से पता चलता है कि सम्राट् के मौलिक आदेशों और आवश्यक विषयों पर शीघ्रता में किये गये विभागाध्यक्षों (अमात्यों) के निर्णयों पर 'मन्त्रि परिषद्' पुनर्विचार कर सकती थी। मन्त्रिपरिषद् सम्राट् के आदेशों पर केवल सही नहीं कर देती थी वरन् अवसर उसमें संशोधन करती थी और कभी-कभी राजा को अपना विचार बदलने की सलाह भी देती थी। अशोक का आदेश था कि जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो या जब परिषद् में मतभेद हो, तब मुझे सूचना दी जाय अवश्य ही अन्तिम निर्णय सम्राट् का ही होता था, फिर भी मन्त्रि परिषद् के अधिकारों की व्यापकता और वास्तविकता इसी से सिद्ध हो जाती है कि उसके कहने से राजा अपने आदेशों पर पुनर्विचार करने को बाध्य होते थे।

शुंगों के समय में राजा के समान युवराज की भी मन्त्रि-परिषद् होती थी। युवराज अग्निमित्र की भी प्रांतीय राजधानी में मन्त्रि-परिषद् थी जो प्रांतीय शासन में उनकी सहायता करती थी। युवराज की अनुपस्थिति में भी मन्त्रि परिषद् की बैठक होती थी और उसके निर्णय स्वीकृति के लिए बाद में युवराज के पास भेज दिये जाते थे।[1]

पश्चिम भारत के शक राजाओं के समय में भी मन्त्रि-परिषद् कायम थी। रुद्रदामा के शिलालेख से पता चलता है कि गिरिनार बाँध ऐसी बड़ी आर्थिक योजनाओं पर मन्त्रि परिषद् से पहले राय ली जाती थी। खेद है कि हमें उत्तर भारत में गुप्त काल या उसके बाद मन्त्रि-परिषद् के कार्यों के विषय में कुछ जानकारी नहीं प्राप्त होती, यद्यपि हम देख चुके हैं कि वह इन राज्यों की अंगभूत संस्था थी। अस्तु यह मान लेना अनुचित न होगा कि मौर्य, शुंग, और शक राज्यों की भाँति गुप्त साम्राज्य में भी 'मन्त्रि-परिषद्' एक संस्था की भाँति काम करती रही। ११वीं शताब्दी के चोल राज्य से जो कुछ ज्ञान होता है उससे इस धारणा की पुष्टि होती है। इस वंश के लेखों से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत के चोल राज्य में भी मंत्रि-परिषद् उसी भाँति काम कर रही थी जिस प्रकार वह १२०० वर्ष पूर्व अशोक के राज्य में करती थी। अशोक की ही भाँति चोल राजाओं के मौलिक आदेशों पर भी इसे पुनर्विचार

1 मालविकाग्निमित्र, पंचम अंक।

करने का अधिकार था।[1] इसकी सहमति के बाद ही राजकीय आदेश सरकारी पुस्तकों में लिपिबद्ध किये जाते थे।

मन्त्रिपरिषद् के दैनन्दिन कार्य का विवरण शुक्रनीति से ही कुछ प्राप्त होता है[2]। यद्यपि इसका रचनाकाल बहुत बाद में है फिर भी हम मान सकते हैं कि इसका विवरण पहले के समय का भी परिचायक है। शुक्र एक मन्त्री को दो 'दर्शक' या सहायक (सेक्रेटरी) देने की सिफारिश करते हैं, पर काम अधिक होने पर 'दर्शकों' की संख्या बढ़ाई भी जा सकती है, उधर यदि विभाग बहुत छोटा हो तो 'दर्शक' के बिना भी काम चलाया जा सकता है। अपनी योग्यता प्रदर्शित करने पर 'दर्शक' बहुधा मन्त्रिपद प्राप्त कर लेता था। शुक्र मन्त्रियों को एक विभाग से दूसरे विभाग में बदलने की भी सलाह देते हैं। इससे योग्य मन्त्री को अधिक महत्त्व के विभागों में जाने का अवसर मिलता था। इस प्रकार के परिवर्तन का प्रमाण पृथ्वीषेण के बारे में मिलता है, जो गुप्तकाल में साधारण मन्त्री के पद से उठकर अंत में सेनापति और युद्ध मन्त्री के पद पर पहुँच गये थे[3]।

योग्य और महत्त्वाकांक्षी मन्त्री अक्सर एक से अधिक विभागों को सँभालते थे, यथा कश्मीर नरेश जयापीड के राज्य में सुग्गी न्याय और युद्ध दोनों विभागों के मंत्री थे। थोड़े ही समय बाद भल्कार प्रधान न्यायाधीश और प्रधान सेनापति पद पर नियुक्त किये गये[4]। पर विरले ही व्यक्तियों को ऐसे पद एक साथ दिये जाते थे, साधारणतः एक मन्त्री को एक ही विभाग मिलता था। आजकल भी कभी कभी एक मन्त्री के जिम्मे एक से अधिक विभाग दिये जाते हैं।

पर किसी विषय में कोई निश्चय होता था तो उस विभाग का मन्त्री उसे

---

१ सी० इ० इ० २ सं०, २१, पृ० क०, १०, कोरार सं० १११।

२ एकस्मिन्नधिकारे तु पुरुषाणां त्रयं सदा।
नियुञ्जीत प्राज्ञतमं मुख्यमेकं तु तेषु वै॥
द्वौ दर्शकौ तु तत्कार्ये हायनैस्तान्निवर्तयेत्।
त्रिभिर्वा पञ्चभिर्वापि सप्तभिर्दशभिश्च वा॥
अधिकारबलं दृष्ट्वा योजयेद्दर्शकान् बहून्।
अधिकारिणमेकं वा योजयेद्दर्शकैर्विना॥ शुक्र, अध्याय २, १०६–११५

३ एपि इण्डि, १०, ७१

४ राजतरंगिणी, ८, ११८२४, २२२५।

लिपिबद्ध करता था और अन्त में यह लिखता था कि इस निश्चय पर उसकी पूर्ण स्वीकृति है। इसके बाद वह लिपि मुहरबन्द करके राजा के पास मंजूरी के लिए भेजी जाती थी। राजा स्वीकृति के लिए उस पर स्वयं हस्ताक्षर करता था या युवराज को अपनी ओर से हस्ताक्षर करने के लिए कह देता था[1]। इसके बाद वह आदेश प्रकाशित किया जाता था या सम्बन्धित विभाग या अधिकारियों के पास कार्यान्वित करने के लिए भेज दिया जाता था।

अब हमें यह देखना है कि मन्त्रिपरिषद् के लिए क्या योग्यता अपेक्षित थी। अर्थशास्त्र तथा अन्य ग्रन्थों से पता चलता है कि इस विषय में एकमत नहीं था। कुछ शास्त्रज्ञ योग्यता को महत्व देते थे कुछ राजभक्ति को। कुछ की राय थी कि मन्त्रियों की नियुक्ति राजा के सहपाठियों से होनी चाहिये। औरों का मत था कि विशिष्ट स्वामिभक्त और जाँचे हुए परिवारों से ही मन्त्री लिये जाने चाहिये। कौटिल्य इन सब मतों को उपयोगी मानते थे और ऐसे व्यक्ति को चुनने की सलाह देते हैं जिनमें उपयुक्त अधिकांश गुणों का योग हो। उनके अनुसार आदर्श मन्त्री देश का ही निवासी, ऊँचे कुल का, प्रतिष्ठित, कलाकुशल, दूरदर्शी, प्राज्ञ, मेधावी, निर्भीक, वाग्मी, चतुर, तीव्रमति, उत्साही, मनस्वी, धीर, शुद्ध चरित्र, मृदु, स्नेही, अटल स्वामिभक्त, बल, पराक्रम और स्वास्थ्य से युक्त, अस्थिर चित्तता और दीर्घसूत्रता से मुक्त और द्वेष तथा शत्रुता उत्पादक दुर्गुणों से रहित होता है[2]। अन्य ग्रन्थकारों का भी यही आदर्श है[3]। अवश्य ही इन सब गुणों का एक व्यक्ति में उपस्थित होना असम्भवप्राय ही है। परन्तु, इनकी गिनती कराने का तात्पर्य यही था कि मन्त्री का चुनाव करते समय उपर्युक्त आदर्श ध्यान में रखा जाय।

अब हमें देखना है कि वास्तव में मन्त्रीगण इस आदर्श के कितने निकट तक पहुँच पाते थे। यदि राजा अयोग्य, दुष्ट प्रकृति और अस्थिर चित्त होता था

---

१ मन्त्री च प्राड्विवाकश्च पण्डितो दूतसंज्ञकः ।
　अविरुद्धं मेतदिदं लिखेयुः प्रथमं त्विमे ॥
　स्वमुद्राचिह्नितं च लेख्यान्ते कुर्युरेव हि ।
　अङ्गीकृतमिति लिखेन्मुद्रयेच्च ततो नृपः ॥
　　　　　　　　　　　　शुक्र, २,३६२,३७

२ अर्थ., भाग १, अध्याय ५ ।

३ म भा द्वादश पर्व, अध्याय ८१–५ । काम नीतिसार ४ २५–३१ । और शुक्रनीति २ ५२ ६४ ।

करने का अधिकार था।[1] इसकी सहमति के बाद ही राजकीय आदेश सरकारी पुस्तकों में लिपिबद्ध किये जाते थे।

मन्त्रिपरिषद् के दैनंदिन कार्य का विवरण शुक्रनीति से ही कुछ प्राप्त होता है[2]। यद्यपि इसका रचनाकाल बहुत बाद में है फिर भी हम मान सकते हैं कि इसका विवरण पहले के समय का भी परिचायक है। शुक्र एक मन्त्री को दो 'दर्शक' या सहायक (सेक्रेटरी) देने की सिफारिश करते हैं, पर काम अधिक होने पर 'दर्शकों' की संख्या बढ़ाई भी जा सकती है, उधर यदि विभाग बहुत छोटा हो तो 'दर्शक' के बिना भी काम चलाया जा सकता है। अपनी योग्यता प्रदर्शित करने पर 'दर्शक' बहुधा मन्त्रिपद प्राप्त कर लेता था। शुक्र मन्त्रियों को एक विभाग से दूसरे विभाग में बदलने की भी सलाह देते हैं। इससे योग्य मन्त्री को अधिक महत्त्व के विभागों में जाने का अवसर मिलता था। इस प्रकार के परिवर्तन का प्रमाण पृथ्वीषेण के बारे में मिलता है, जो गुप्तकाल में साधारण मन्त्री के पद से उठकर अंत में सेनापति और युद्ध मन्त्री के पद पर पहुँच गये थे[3]।

योग्य और महत्त्वाकांक्षी मन्त्री अक्सर एक से अधिक विभागों को सँभालते थे, यथा कश्मीर नरेश जयापीड के राज्य में मित्रशर्मा न्याय और युद्ध दोनों विभागों के मन्त्री थे। थोड़े ही समय बाद भल्कार प्रधान न्यायाधीश और प्रधान सेनापति पद पर नियुक्त किये गये[4]। पर विरले ही व्यक्तियों को ऐसे पद एक साथ दिये जाते थे, साधारणतः एक मन्त्री का एक ही विभाग मिलता था। आजकल भी कभी कभी एक मन्त्री के जिम्मे एक से अधिक विभाग दिये जाते हैं।

जब किसी विषय में कोई निश्चय होता था तो उस विभाग का मन्त्री उसे

---

१ ए० इ० इ० २ सं०, ११, पृ० ६०, १०, कोरार सं० १११।

२ एकस्मिन्नधिकारे तु पुरुषाणां त्रयं सदा।
नियुञ्जीत प्राज्ञतमं मुख्यमेकं तु तेषु वै॥
द्वौ दर्शकौ तु तत्कार्ये हायनैस्तान्निवर्तयेत्।
त्रिभिर्वा पञ्चभिर्वापि सप्तभिर्दशभिश्च वा॥
अधिकारबलं दृष्ट्वा योजयेद्दर्शकान्बहून्।
अधिकारिणमेकं वा योजयेद्दर्शकैर्विना॥ शुक्र, अध्याय २, १०६–११५

३ एपि इंडि, १०, ७१

४ राजतरंगिणी, ८, ११८२४, २९२५।

लिपिबद्ध करता था और अंत में यह लिखता था कि इस निश्चय पर उसकी पूर्ण स्वीकृति है। इसके बाद वह लिपि मुहरबद्ध करके राजा के पास मंजूरी के लिए भेजी जाती थी। राजा स्वीकृति के लिए उस पर स्वयं हस्ताक्षर करता था या युवराज को अपनी ओर से हस्ताक्षर करने के लिए कह देता था[1]। इसके बाद वह आदेश प्रकाशित किया जाता था या सम्बन्धित विभाग या अधिकारियों के पास कार्यान्वित करने के लिए भेज दिया जाता था।

अब हमें यह देखना है कि मंत्रिपरिषद् के लिए क्या योग्यता अपेक्षित थी। अर्थशास्त्र तथा अन्य ग्रंथों से पता चलता है कि इस विषय में एकमत नहीं था। कुछ शास्त्रज्ञ योग्यता को महत्व देते थे कुछ राजभक्ति को। कुछ की राय थी कि मंत्रियों की नियुक्ति राजा के सहपाठियों से होनी चाहिये। औरों का मत था कि विशिष्ट स्वामिभक्त और ऊँचे कुल परिवारों से ही मंत्री लिये जाने चाहिये। कौटिल्य इन सब मतों को उपयोगी मानते थे और ऐसे व्यक्तियों को चुनने की सलाह देते हैं जिनमें उपर्युक्त अधिकांश गुणों का योग हो। उनके अनुसार आदर्श मंत्री देश का ही निवासी, ऊँचे कुल का, प्रतिष्ठित, कलाकुशल, दूरदर्शी, प्राज्ञ, मेधावी, निर्भीक, वाग्मी, चतुर, शीघ्रमति, उत्साही, मनस्वी, धीर, दृढ़ चरित्र, मृदु, स्नेही, अटल स्वामिभक्त, बल, पराक्रम और स्वास्थ्य से युक्त, अस्थिर चित्तता और दीर्घ सूत्रता से मुक्त और द्वेष तथा शत्रुता उत्पादक दुर्गुणों से रहित होता है[2]। अन्य ग्रंथकारों का भी यही आदर्श है[3]। अवश्य ही इन सब गुणों का एक व्यक्ति में उपस्थित होना असम्भवप्राय ही है। अस्तु, इनकी गिनती कराने का तात्पर्य यही था कि मंत्री का चुनाव करते समय उपर्युक्त आदर्श ध्यान में रखा जाय।

अब हमें देखना है कि वास्तव में मंत्रीगण इस आदर्श के कितने निकट तक पहुँच पाते थे। यदि राजा अयोग्य, दुष्ट प्रकृति और अस्थिर चित्त होता या

---

१ मन्त्री च प्राड्विवाकश्च पण्डितो दूतसंज्ञकः ।
स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं लिखेयुः प्रथमं त्विमे ॥
स्वमुद्राचिह्नितं च लेख्यान्ते कुर्युरेव हि ।
अङ्गीकृतमिति लिखेन्मुद्रयेच्च ततो नृपः ॥

शुक्र, २,३६२,६७

२ अर्थ, भाग १, अध्याय ५।

३ म भा शान्ति पर्व, अध्याय ८१–५। काम नीतिसार ४ २५–३१। और शुक्रनीति २ ५२ ६४।

तो उसके चुने हुए मन्त्री भी निकम्मे खुशामदी ही होते थे। यथा कश्मीर के राजा उन्मत्तावंति ने गानेवालों को और चक्रवर्मन ने अपनी नयी प्रेमिका के रिश्तेदार डोमों को अपना मन्त्री बनाया था। मौर्यवंश के राजा बृहस्पतिमित्र, शुंगवंश के देवभूमि, राष्ट्रकूट चतुर्थ गोविंद तथा इसी प्रकार के अन्य दुर्वृत्त और निकम्मे शासकों का भी यही हाल रहा होगा। पर इतिहास को कलंकित करनेवाले ऐसे राजा अधिक न थे। पुरातत्व और साहित्य की सामग्री का अध्ययन करने से यही प्रकट होता है कि योग्य और शास्त्रज्ञ मन्त्रियों की प्राप्ति के लिए बड़ी चेष्टा की जाती थी। द्वितीय चन्द्रगुप्त का मन्त्री शाब नीतिज्ञ और कवि बतलाया गया है[1]। राष्ट्रकूट तृतीय कृष्ण का मन्त्री नारायण राजविद्या का पारंगत कहा गया है[2]। यादव राजा कृष्ण के मन्त्री नागरस के विषय में कहा गया है कि राजनीति शास्त्रों के गहन अध्ययन से उसका बुद्धिकौशल बहुत बढ़ा चढ़ा था[3]। अतः यह मानना गलत न होगा कि प्रायः अच्छी शासन व्यवस्था में वे ही व्यक्ति मन्त्री पद पर नियुक्त किये जाते थे जो राजनीति शास्त्र के पांडित्य और शासन के व्यावहारिक ज्ञान के लिए प्रख्यात होते थे।

स्मृतिकारों के मतानुसार यथासंभव मन्त्रियों के पुत्र या वंश के अन्य लोगों को मन्त्रियों की नियुक्ति के समय प्रधानता दी जाती थी। गुप्त राज्य के मन्त्री शाब और पृथ्वीषेण के वंश में मन्त्रिपद कई पीढ़ियों से चला आता था[4]। परिव्राजक राज्य में ४८२ ई० में सूर्यदत्त नामक व्यक्ति मन्त्रिपद पर था, २८ वर्ष बाद उसका पुत्र विभुदत्त भी उस पद पर वर्तमान था[5]। उच्छकल्प वंश के शासन में सन ४९३ ई० में गल्लु परराष्ट्र मन्त्री था, और सन ५१२ ई० में उसका भाई मनोरथ उसी पद पर प्रतिष्ठित हुआ[5]।

चन्देल राज्य में एक ही वंश की २ पीढ़ियों ने, जिसमें प्रभास, उसके पुत्र शिवनाग, उसके पुत्र महीपाल, उसके पुत्र अनंत और उसके पुत्र गदाधर थे, चन्देल वंश की सात पीढ़ियों की सेवा की, जिसमें धंग, उसके पुत्र गंड, उसके

---

१ अन्वयप्राप्तसाचिव्यो व्यापृतसन्धिविग्रहः। अर्थवाचनीतिज्ञः कविः पाटलिपुत्रकः। का॰ इ॰ इ॰ ३, ३५

२ पारगो राजविद्यानां कविमुख्य प्रियंवद। ए॰ इ॰, ४, ६०

३ अनेकराजनीतिशास्त्रोक्तविवेकपरिचितबुद्धिकौशलः। इ॰ ए॰, १२ १२६

४ शाब का विशेषण है 'अन्वयप्राप्तसाचिव्य'। पृथ्वीषेण, प्रथम कुमार गुप्त का मन्त्री था और उसका पिता शिखरस्वामी द्वितीय चंद्रगुप्त का मन्त्री था। ए. इंडिका, १०, पृ॰ ७१।

५ का॰ इ॰ इ॰, ३, पृ १०४, १०८ ६ वही, पृ १२८

पुत्र विद्याधर, उसके पुत्र विजयपाल, उसके पुत्र देववर्मन्, उसके भाई कीर्तिवर्मन्, उसके दो पुत्र सल्लक्षणवर्मन् और पृथ्वीवर्मन् और सल्लक्षणवर्मन् का पुत्र जयवर्मन् ये ७ राजा थे[1]। इसी वंश में राजा मदनवर्मन् का मंत्री गाहड़ था, और मदनवर्मन् के पौत्र परमर्दि देव के मंत्री क्रमशः गाहड़ के पुत्र और पौत्र सल्लक्षण और पुरुषोत्तम हुए[2]। इससे पता चलता है कि मंत्री की नियुक्ति में वंशपरंपरा का ध्यान रखने का स्मृतियों का आदेश यथासंभव व्यवहार में लाया जाता था।

कभी कभी राजवंश के सदस्य भी मंत्री बनाये जाते थे। यथा कश्मीर के राजा हर्ष ने एक पूर्ववर्ती राजा के दो पुत्रों को अपने मन्त्रियों के पद पर नियुक्त किया[3], और चाहमान राजा अल्हणदेव ने अपने पुत्र सल्लक्षणपाल को ही अपना प्रधान मंत्री बनाया[4]। पर राजवंश के दूरवर्ती सदस्यों को भी मंत्री बनाने में यह खतरा भी था कि वे सिंहासन पर ही कब्जा करने का षड्यंत्र न करने लगें, अतः यह प्रथा बहुत प्रचलित न थी।

स्मृति और नीतिकार मंत्री में सैनिक योग्यता होना आवश्यक नहीं मानते[5]। पर पुरातत्व के लेखों से पता चलता है कि साधारणतः मंत्री सैनिक नेता भी हुआ करते थे। समुद्रगुप्त का सांधिविग्रहिक हरिषेण 'महाबलाधिकृत' या महासेनापति भी था। इक्ष्वाकु और वाकाटक राजाओं के प्राणाधिपति सेनापति भी होते थे, और यही बात संभवतः मन्त्रियों के संबंध में भी थी। गंगवंशी राजा मारसिंह के मंत्री चामुण्डराय ने गोनूर की लड़ाई जीती थी[6]। सन् १०२४ ई. में उत्तर चालुक्य वंशी राजा का मंत्री, महाप्रचण्डदण्डनायक अर्थात् उच्च सैनिक अधिकारी भी था। कलचुरि वंशी राजा विज्जलदेव के सर्व मंत्री दण्डनायक या सेनापति भी थे[7]। आश्चर्य की बात तो यह है कि हेमाद्रि जैसा पण्डित भी, जिसने व्रत और धार्मिक अनुष्ठानों पर इतना अधिक लिखा है, न केवल युद्धकलाओं की शिक्षा के सिद्धांत और व्यवहार का ही ज्ञाता था वरन उसने स्वयं झांडी (छिंदवाड़ा) जिले के एक विद्रोही सरदार का दमन भी किया

---

१ एपि इंडिका, भाग १ पृ. १९७। २ वही, पृ० २०८-२११।
३ राजतर ८.८७४। ४ इंडि एंटि भाग १२ पृ २१८।
५ कौटिल्य, कामन्दक और सोमदेव केवल यों ही कह देते हैं कि मंत्री वीर भी होना चाहिये पर सैनिक योग्यता पर कोई विशेष जोर नहीं देते।
६ एपि इंडिका, भाग ५ पृ. १०२।
७ इंडि एंटि, भाग १४ पृ २५।

था[1]। यादव राजा कृष्ण का प्रधान मंत्री नागरस जितना बड़ा विद्वान् था उतना ही प्रसिद्ध योद्धा भी था[2]।

स्मृतियाँ मन्त्रियों के चुनाव में ब्राह्मण को प्रधानता देती हैं। व्यवहार में इस पर कहाँ तक अमल किया जाता था यह ज्ञात नहीं। उत्कीर्ण लेखों में उल्लिखित मन्त्रियों की जाति प्राय नहीं दी गयी है। पर अधिक संभावना है कि मन्त्रियों में सभी जातियों और वर्णों के सदस्य होते थे। महाभारत के अनुसार राजकीय परिषद में ब्राह्मण केवल ४ होते थे जब कि क्षत्रियों की संख्या ८, वैश्यों की २१ और शूद्रों की ३ होती थी[3]। शुक्र का कथन है कि जाति और कुल विवाह के समय ही पूछना चाहिये, मन्त्रियों का चुनाव करते समय नहीं[4]। सोमदेव का मत है कि तीनो द्विज वर्णों से मन्त्रियों को लेना चाहिये[5]। शुक्र को तो सेनाधिप का पद शूद्र को भी देने में आपत्ति नहीं है यदि वह उसके योग्य और विश्वास पात्र हो[6]। प्राचीन भारत के अधिकांश राजा अब्राह्मण थे और संभवत उनके मन्त्री भी अधिकांश अब्राह्मण होते थे, खास कर इस लिए कि उनमें सैनिक योग्यता भी अपेक्षित थी।

मन्त्रियों की नियुक्ति राजा करते थे। प्राचीन भारत में ऐसी कोई केंद्रिय प्रतिनिधी सभा न थी जिसके प्रति मन्त्री जिम्मेदार होते। अत प्रत्यक्षरूप से भी मन्त्री राजा के प्रति जिम्मेदार थे और अप्रत्यक्ष रूप से ही जनमत के

---

१ जर्नल रा ए सो भाग ५ पृ १८३।

२ इंडि एंटि, भाग १४ पृ ७०।

३ चतुरो ब्राह्मणान्वैद्यान्प्रगल्भान्स्नातकाञ् शुचीन्।
क्षत्रियान् दश चाष्टौ च बलिनः शस्त्रपाणिनः॥
वैश्यान्वित्तेन सम्पन्नानेकविंशतिसंख्यया।
त्रींश्च शूद्रान्विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके॥ १२ ८५ ७-८

४ नैव जातिर्न च कुलं केवलं लक्षयेदपि।
कर्मशीलगुणाः पूज्यास्तथा जातिकुलेन च॥
न जात्या न कुलेनैव श्रेष्ठत्वं प्रतिपद्यते।
विवाहे भोजने नित्यं कुलजातिविवेचनम्॥ शुक्र, २ ५४ ५

५ पृ ५५।

६ स्वधर्मनिरता नित्यं स्वामिभक्ता रिपुद्विषः।
शूद्रा वा क्षत्रिया वैश्या म्लेच्छाः सङ्करसम्भवाः।
सेनाधिपाः सैनिकाश्च कार्या राज्ञा जयार्थिना॥ शुक्र २ १३६।

प्रति। अत मन्त्रियों का प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर ही निर्भर लोक प्रतिनिधि संस्था के समर्थन के वैधानिक बल का यिम्बिसार ऐसे शक्तिशाली और स्वेच्छाधीन राजा ठीक मन्त्रियों को निकाल सकते थे, अयोग्यता के कारण नीचे पद पर उतार सकते थे और अच्छी राय देने पर पदवृद्धि भी कर सकते थे[१]। ऐसे राजाओं के मन्त्रियों की स्थिति बड़ी कठिन होती थी। रावण की भांति वह अपने मन्त्रियों से सदा अपनी हां में हां मिलाने की आशा करते थे और उनके प्रतिकूल हितकी बात कहने पर भी मन्त्री को अपने पद से हाथ धोने के लिए तैयार रहना पड़ता था[२]। कभी कभी तो अप्रिय राय देने के कारण उन्हें निर्वासन और सम्पत्ति हरण का भी दंड भोगना पड़ता था[३]। परंतु इस चित्रका दूसरा पहलू यह भी है जब राजा के दुर्बल होने पर मन्त्री सिंहासन पर कब्जा करने की ताक में रहते थे। राजा और मन्त्री में बराबर तनातनी और परस्पर अविश्वास रहता था और मन्त्री राजा के सर्वनाश का षड्यन्त्र रचा करते थे[४]। सावित्री के पति सत्यवान् के पिता का राज्य मन्त्रियों के षड्यन्त्र से ही गया था और ऐतिहासिक युगमें मौर्य और शुंग वंश के अंतिम राजाओं का भी यही हाल हुआ।

परंतु ऊपरि निर्दिष्ट दोनों प्रकार की भी स्थिति असाधारण थी। साधारणत राजा अपने मन्त्रियों का बहुत सम्मान करते थे और मन्त्री भी स्वामिभक्त होते थे तथा अपने को प्रजा के हितों का संरक्षक समझते थे। मन्त्री राज्य के स्तंभ माने जाते थे[५] और राजा साधारणत उनकी राय पर ही चलते थे, यद्यपि सब बात

---

१ चुल्लवग्ग ८ १

२ संपृष्टेन तु वक्तव्य सचिवेन विपश्चिता।
वाक्यमप्रतिकूल तु मृदुपूर्वं हित शुभम् ॥
सावमर्द तु यद्वाक्य मारीच हितमुच्यते।
नाभिनन्दति तद्राजा मानार्हो मानवर्जितम् ॥
एतत् कममवश्य मे बलादपि करिष्यसि ॥ रामायण, कांड ३
अध्याय ४० ९ १०, २१

३ राजतरंगिणी २ ९८, ६ ३४२ १

४ सदैवापद्गतो राजा भोग्यो भवति मन्त्रिणाम्,
अत एव हि वाञ्छन्ति मंत्रिण सापद नृपम्। पंचतंत्र पृ २६

५—अतःसारैरकुटिलैरच्छिद्रैः सुपरीक्षितैः।
मन्त्रिभिर्धार्यते राज्य सुस्तम्भैरिव मंदिरम् ॥ पंचतंत्र पृ ६६

की पूरी जिम्मेदारी राजा पर ही होती थी[१]। मंत्री का सबसे बड़ा और पहला कर्तव्य यही था कि राजा को कुमार्ग पर जाने से रोके और उस पर नियन्त्रण रखे[२]। कामन्दक का कथन है कि वे ही मंत्री राजा के सुहृद हैं जो उसे उत्पथ जाने से रोकते हैं[३]। मंत्री वही है जो एकमात्र राज्य-कार्य भार की ही चिंता करे, राजा के मन को ही करने के फेर में न रहे और राजा भी जिसका आदर करे'[४]। राज्यव्यवस्था में मन्त्रियों का स्थान इतने महत्त्व का था कि कुछ आचार्यों के मतानुसार किसी भी राज्य के लिए इससे बड़ा संकट कोई न हो सकता था कि उसके मंत्री नादान निकल या शत्रु से मिल जाय[५]।

मंत्रियों की शक्ति और प्रतिष्ठा बहुत कुछ उनके व्यक्तित्व पर ही निर्भर थी। हमारे विधानशास्त्रियों ने कहा है कि जब राजा शक्तिशाली होते थे तब अधिकार उन्हीं में केंद्रित रहता था और शासन 'राजायत्त तंत्र' कहा जाता था और जब राजा दुर्बल और मंत्री शक्तिशाली होते थे तब अधिकार मन्त्रियों में केंद्रित रहते थे और शासन 'सचिवायत्त तंत्र' कहा जाता था। साधारण स्थिति में अधिकार दोनों में विभाजित रहते थे और शासन 'उभयायत्त'[६] दोनों पर समान रूप से टिका हुआ समझा जाता था।

इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि साधारणतः राजा मन्त्रियों का बहुत मान करते थे और उनकी राय पर चलते थे। राष्ट्रकूट राजा तृतीय कृष्ण (९४९) का सांधिविग्रहिक मंत्री नारायण उसका 'दक्षिण हस्त' कहा गया है[७]। पथरी के नृपति परबल (८६१ ई०) अपने मंत्री को 'शिरसा वंदनीय'

१—तद्यदमूर्धन्या कार्यसिद्धिकर वा मृदु तत्कुर्यात्।
अर्थशास्त्र, भाग १ अध्या १५

२—ये पुनरपायस्थानेभ्यो वारयेयुः। वही, भाग १ अध्याय ३।

३—नृपस्य त एव सुहृदस्त एव गुरवो मताः।
य एनमुत्पथगतं वारयन्त्यनिवारितम्॥ ४ ४१

४—सा मन्त्रिणः च यद्राज्यकार्यभारैकचिंतनम्।
चित्तानुवर्तनं यत्तदुपजीवकलक्षणम्॥ कथासरित्सागर, १८ ४६।

५—भारद्वाज भी इसी मत के थे। अर्थ, भाग ८, अध्याय १।

६—मुद्राराक्षस तृतीय अंक। कथासरित्सागर १, २८२।

७—तस्य च प्रतिहस्तोऽभूत् प्रियो दक्षिणहस्तवत्।
एपि इंडिका, भाग ४, पृ ६०

मानता था।[१] यादव नरेश कृष्ण के लेख में उसके प्रधान मंत्री की उपमा उसकी जिह्वा और दक्षिण कर से की गयी है[२]। इसी वंशके एक अन्य लेखमें राष्ट्रकी पुष्टि, प्रजाजन की तुष्टि, धर्मकी वृद्धि और सकल अर्थों की सिद्धि सब कुछ मंत्रियों की कार्यकुशलता और कर्तव्यभावना पर निर्भर बतायी गयी है।[३]

हम देख चुके हैं कि राजायत्त शासनमें मंत्री बिल्कुल राजा के हाथ में रहते थे पर जब मंत्री प्रभावशाली होते थे और मिलकर काम करते थे तो राजा का कुछ न चलता था। परंपरा से यह बात सुनी जाती है कि चंद्रगुप्त मौर्य अपने मंत्री कौटिल्य के वश में थे। अशोक के मंत्रियों ने सफलता पूर्वक उसके अंधाधुंध दान प्रवृत्ति का विरोध किया था और इस कारण एक अवसर पर अशोक केवल आधा आंवला मात्र ही संघ को दे सके थे[४]। इस ऐतिहासिक दान की स्मृति सुरक्षित करने के लिए उस पर एक स्तूप बनाया गया जिसे युआन च्वांग ने ७वीं सदी में देखा था। युआन च्वांग यह भी बताते हैं कि श्रावस्ती के राजा विक्रमादित्य प्रतिदिन ५ लाख मुद्राएं दान देना चाहते थे पर मंत्रियोंने यह कहकर इसका विरोध किया कि इससे शीघ्र ही खजाना खाली हो जायगा और नये कर लगाने पड़ेंगे। राजा के दानकी प्रशंसा होगी मगर मंत्रियों को प्रजा की गाली सुननी पड़ेगी[५]।

पादञ्जलि जातक (सं० २४७) में कथा है कि मंत्रियोंने पादञ्जलि को इसलिए युवराज न बनने दिया कि वह बुद्धिहीन था। यह तो केवल कथा है पर राजतरंगिणी मंत्रियों के महान् प्रभाव के ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करती है। राजा अजयपीड मम्म और अन्य मंत्रियोंके निर्णय से ही राज्यच्युत किया गया (४, ७०७)। मंत्रियोंने ही राजपदके सब उम्मेदवारों में शूर को सबसे योग्य निश्चय करके उसे राजगद्दी दी (४, ७१५)। राजा कलश अपनी मृत्युशय्या से अपने पुत्र हर्ष को युवराज बनाना चाहता था पर मंत्रियों

१—परबलनृपतेमूर्ध्नि यः। वही, भाग ६, पृ० २२४

२—यो जिह्वा पृथिवीशस्य यो राज्ञो दक्षिणः करः। इ० ऐं०, ४, ७०

३—राष्ट्रस्य पुष्टिः स्वजनस्य तुष्टिर्धर्मस्य वृद्धिः सकलार्थसिद्धिः।
　नदति येन प्रसरति हृष्ट्य श्रीपगदेव सति सप्रधाने॥

इ० ऐं०, ८, ९,

४ मृत्ये ■ भूमिपतिरेष हताधिकारः
　दान प्रवृत्ति किलामलकार्धमेतत् ॥ दिव्यावदान पृ० ४२७

५ वॅटर्स, भाग १ पृ० २११

के दृढ़ विरोध के कारण उसकी अंतिम इच्छा सफल न हो सकी (७, ७०२)। अनेक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि राजाके निस्संतान मरजाने पर मन्त्री ही उत्तराधिकारीका निर्णय करते थे। सिंहल के राजा विजय की मृत्यु पर उसके मन्त्रियों ने एक वर्ष तक राज्य सम्भाला, और उसके भतीजे के भारत से लौटने पर उसे शासन सूत्र सौंपा[१]। हर्ष को कन्नौज का राज्य मौखरि राज्य के मन्त्रियों ने ही प्रदान किया।

फिर भी साधारण स्थिति में मंत्रियों की मन्त्रणा पर अंतिम निर्णय करने का काम राजा का ही था[२]। पर वह साधारणतः मन्त्रियों की सलाह का सहारा लेता था। राजा और मंत्रियों में सौहार्द्र रहता था। राजा अपने मन्त्रियों को बहुत मानते थे और अपने हृदय के समान समझ कर उनपर विश्वास करते थे[३]। वे उन्हें अपने दाहिने हाथके समान मानते थे और उनकी आज्ञाको अपनी आज्ञा समझते थे[४]। कल्हण ने वर्णन किया है कि राजा जयसिंह अपने रुग्ण मन्त्रीके अंतिम क्षण तक उसकी शैय्या के पास बैठे रहे (८, ३३२९)। यह उदाहरण अपवादात्मक मानने का कोई कारण नहीं है।

बहुधा ललितादित्य ऐसे शक्तिशाली राजा भी अपने मंत्रियों को इस बात की स्वतन्त्रता दे देते थे कि यदि उनकी कोई आज्ञा अनुचित जान पड़े या ऐसे समय दी गयी हो जब वे पूरे तरह होश में न हों तो मन्त्री उसका पालन न करें, और ऐसा करने पर अपने मन्त्रियों को धन्यवाद देने से भी वे न चूकते थे[५]। मन्त्री भी बराबर राजा और प्रजा दोनों के हित का ध्यान रखते थे। राजा जयापीड के बंदी हो जानेपर उसके एक मन्त्रीने अपने प्राण दे दिये ताकि उसके फूले हुए शवके सहारे राजा नदी पारकर शत्रुओं के पंजेसे मुक्ति पा सकें[६]। दक्षिण के इतिहास में इसके बहुत से उदाहरण मिलते हैं जब मन्त्रियों ने राजाकी मृत्यु के समय प्राण दे देनेकी प्रतिज्ञा की और अवसर आनेपर उसका पालन भी

१ महावंश अध्याय ...
२ एतेऽपि मन्त्रे ... श्रीः स्वयं भूयो विचारयेत्।
राजा धर्मेण सत्यज्ञो ... या स्वार्थं न पीडयेत् ॥ कामन्दक ११-६०।
३ विश्वासे हृदयोपमम्। ... र्वा ॅ र्ां ए सो, १२ ९
४ यो नित्य पृथिवीशस्य यो राजा दक्षिण कर। इ. ए. १४ ७०
५ कार्यं न जातु सद्भावयं यत्पीयेन मयाच्यते।
सा युक्तकारिणोऽमात्या मद्वचनमिति सोऽब्रवीत् ॥ राजतरंगिणी, ४,३२०।
६ राजतरंगिणी ४, ४७५ ई-पू. क., ५, वेलूर न० १२।

किया। होयसल राजा द्वितीय बल्लाल के मंत्रीने यह प्रतिज्ञा की थी और राजाकी मृत्यु के बाद उसकी रानी के साथ मंत्रीने भी एक ऊँचे स्तंभ पर से कूदकर अपने प्राण दे दिये[1]। कर्नाटक के इतिहास में ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं[2]।

इसमें तो संदेह नहीं कि गुणग्राही और कर्तृत्वशाली राजा और भक्तिमान् और कुशल मंत्री इनका संयोग बारबार नहीं होता था[3]। परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि नृप-मंत्रियों का स्पृहणीय सहकार्य इतना अपवादात्मक भी नहीं था जितना आजकल के लोग मानते हैं। अनेक प्रकार के प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि मंत्रिमंडल का राज्यकारभार पर प्रायः अच्छा असर पड़ता था और वैधानिक तौर से जनता के प्रति उत्तरदायी न होने पर भी मंत्रिमंडल अपनी शक्तिभर प्रजा के हितसाधन का प्रयत्न करता था।

—o—

र्य हो
न्द करता, या हम

---

१ ए. क., ५, बेलूर नं० १२।

२ ए. क., २ श्रवणबेलगोल, सं ५, ७७, ६, कादुर सं. १४६, १०, कोलार सं १८६ मुळबागल सं ७७-७८

३ कृतज्ञः सौविभाग्यमाप्तः सततः स्वयमेवोन्नितः।
अभागुरोप्य संयोग सुकृतैर्यदि दृश्यते॥
परस्परमनुत्पन्नमन्युकालुष्यदूषणौ।
न दृष्टौ न श्रुतौ कान्यौ तादृशौ राजमन्त्रिणौ॥ राजत., ५ ४९१ ९

अध्याय ९

केन्द्रीय शासन-कार्यालय और शासन विभाग

पिछले अध्यायों में हमने शासन व्यवस्था के प्रधान-केंद्र राजा और मंत्रि परिषद् के अधिकारों और कार्यों की विवेचना की है। पर जिस प्रकार ज्ञान केंद्र को मस्तिष्क के आदेशों को पूरा करने के लिए शरीर के विविध अंगों और इंद्रियों की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार सपरिषद् राजा के लिए भी केंद्रीय शासनकार्यालय तथा अनेक कार्याध्यक्षों की आवश्यकता है। इस अध्याय में हम केंद्रीय सरकार के शासनालय तथा विभिन्न विभागों की व्यवस्था की समीक्षा करेंगे। यहाँ भी हमें याद रखना चाहिए कि हमारे पास सामग्री बहुत थोड़ी है और हमें विभिन्न प्रांतों और कालों के विविध राजवंशों के शासन के बिखरे तथ्यों को जोड़ जाड़कर एक रूपरेखा बनानी है। ...

वैदिक काल में लेखन कला का या तो आविष्कार न हुआ था या ... अधिक उपयोग न किया जाता था। इसीलिए इस युग में शासनकार्यालय के विकास की आशा नहीं की जा सकती। शासन आदेश राजा या समिति द्वारा मौखिक रूप से दिये जाते थे और गाँवों में संदेश-वाहकों द्वारा घोषित किये जाते थे। राज्य छोटे होते थे इसलिए इस प्रणाली में कोई असुविधा भी न होती थी और ... उपाय भी ... । ... जिस प्रकार विकास हुआ ... लेखन कला का प्रचार बढ़ता ...

उत्तर वैदि...

... इसका इतिहा...

शासनकार्यालय अवश्य विद्यमान रहा होगा। पर इसका स्वरूप जानने के कोई साधन नहीं है[1]।

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मौर्य काल में शासनकार्यालय का पूरा विकास और संघटन हो चुका था। विविध विभागों के बड़े अधिकारी 'लेखक' कहे जाते थे। ये 'लेखक' साधारण 'क्लर्क' न थे। क्योंकि कौटिल्य का कथन है कि 'लेखक' का पद 'अमात्य' के बराबर होना चाहिये[2], जिसका पद और वेतन केवल मंत्री से ही नीचा होता था। सातवाहनों के शासन काल में भी 'लेखकों' का यही पद बना था। उनके वेतनों का अनुमान इसी से हो सकता है कि उनके द्वारा बौद्ध भिक्षुओं के लिए बहुमूल्य गुफाएँ निर्माण कराने के उल्लेख बहुत मिलते हैं[3]।

शासन की उत्तमता बहुत कुछ सचिवालय के कर्मचारियों की कार्यपटुता और केंद्रीय शासन के आदेशों को ठीक ठीक लेखबद्ध करने की योग्यता पर निर्भर करती थी। कौटिल्य कहते हैं कि 'शासन' (सरकारी आदेश) ही सरकार है'[4]। शुक्र का कथन है कि "राजसत्ता राजा के शरीर में नहीं उसके हस्ताक्षरित और मुद्रांकित शासन में रहती है"। यह दिखाया जा चुका है कि आजकल की भाँति प्राचीन काल में भी बहुधा मंत्रिपद अनुभवी और ऊँचे पदाधिकारी या अमात्यों को ही प्रदान किया जाता था। इसलिए अमात्यों के चुनाव में बड़ी सावधानी बरती जाती थी। मंत्रियों की भाँति उनमें भी ऊँचे दर्जे की शिक्षा, कार्यपटुता और स्वामिभक्ति की अपेक्षा की जाती थी। सबसे बड़ी आवश्यकता लेखनपटुता की थी, क्योंकि उनका मुख्य कार्य राजा या मंत्री के मौखिक आदेशों को शीघ्रातिशीघ्र ठीक-ठीक लेखबद्ध करना था। ये पहले के लेखों को भी देख लेते थे ताकि पहले के आदेशों या सिद्धांतों का नये आदेश से विरोध न हो। इसके पश्चात् ये नये आदेश की शब्दयोजना करते थे जो संगति, पूर्णता, चारुता, गंभीरता और

---

१ स्मरण रखना चाहिये कि शासनकार्यालय का विकास प्राचीन रोम में भी हेड्रियन के समय (२री सदी ईसवी) में ही हो पाया था, जब कि भारत में यह कम से कम ३री सदी ईसवी पूर्व तक तो अवश्य हो गया था।

२ अर्थशास्त्र भाग २, अध्याय १०।

३ एपि इंडि., ७ नासिक गुफालेख सं १९,२७

४ शासने शासनमित्याचक्षते। भाग २ अ १०

स्पष्टता आदि गुणों से युक्त होती थी। शब्दाडम्बर बचाते हुए, प्रभावशाली शैली में सरकारी आदेश की आवश्यकता समझाते हुए, समयक्रम से या महत्व के क्रम से तथ्यों को रखते हुए लेख लिखा जाता था[1]। लेख तैयार होने पर विभाग के अध्यक्ष या मंत्री को दिखाया जाता था और तत्पश्चात् राजा की स्वीकृति और हस्ताक्षर के लिए पेश किया जाता था। हस्ताक्षर के बाद, मुहर लगाकर आदेश संबंधित कर्मचारियों के पास उपयुक्त कारवाई के लिए भेज दिया जाता था।

यूनानी इतिहासकारों ने सार्वजनिक कर्मचारियों (कौंसिलर और असेसर) की जिस सातवीं जाति का वर्णन किया है संभवत उसका तात्पर्य सचिवालय के उच्च कर्मचारियों से ही था। इस जाति के ही लोग उक्त सरकारी पदों पर थे और सार्वजनिक शासन कार्य में प्रमुख भाग लेते थे। यह जाति संख्या में अधिक न थी पर अपने बुद्धिबल और न्यायप्रियता के लिए प्रख्यात थी। यूनानी लेखकों ने यह भी लिखा है कि प्रांतीय शासकों और उच्चाधिकारियों, कोष और कृषि विभाग के अध्यक्षों और सेना के विभिन्न विभागों के नायकों को भी इसी जाति में से चुना जाता था। इससे स्पष्ट है कि केंद्रीय शासनालय के उक्त अधिकारी ही इन पदों पर नियुक्त किये जाते थे।

दुर्भाग्यवश शुंग, सातवाहन और गुप्त काल में केंद्रीय शासनालय की कार्य प्रणाली के विषय में हमें कुछ जानकारी नहीं है। परंतु यह अनुमान किया जा सकता है कि इस समय भी पूर्ववत् कार्य होता रहा होगा क्योंकि मध्ययुग तक कश्मीर में भी, जहाँ शासनकार्य में अंधाधुंधी बीच बीच बहुत हुआ करती थी केंद्रीय शासनालय शासन-व्यवस्था का नियमित अंग था। राजतरंगिणी में केंद्रीय शासनालय के कर्मचारियों द्वारा राजाज्ञाओं के लेख बद्ध किये जाने के उल्लेख हैं। १२ वीं सदी में चाहमान[2] और चौलुक्य[3] शासन में सचिवालय 'श्री करण' कहा जाता था।

अन्य विषयों की भाँति इस विषय में भी सबसे अधिक जानकारी चोल राज्य के लेखों से प्राप्त होती है। जब राजा किसी विषय पर आज्ञा देते थे तो उससे संबंधित सब अधिकारी उस समय उपस्थित रहते थे। एक लेखक उस मूल लेखके अनुसार लिखता था और अन्य दो तीन व्यक्ति उसे मूलसे मिलाकर

१—अर्थ शास्त्र—भाग २, अध्याय १०।

२—एपि इंडि २ पृ १०९।

३—एपि इंडि १ पृ ६४

उसपर सही करते थे। तत्पश्चात् विभागों की प्रमाण पुस्तकों में दर्ज करने के बाद यह आज्ञा लिपि में कर्मचारियों को भेज दी जाती थी[1]।

केंद्रीय शासनालय में लेखोंको सुरक्षित रखने की भी व्यवस्था थी। साधारण आदेश अधिक दिन न रखे जाते थे परन्तु भूमिदान और व्यवहार आदिके ताम्रपट्ट भविष्य के छानबीन के लिए सुरक्षित रखे जाते थे। कभी कभी दान पानेवाले व्यक्ति अपने गांवों को परस्पर बदलना चाहते थे ऐसे अवसर पर पट्टों में भी परिवर्तन करना पड़ता था[2]। भूमिदान की लिखापढ़ी केंद्रीय शासनालय में यथा समय शीघ्रता से की जाती थी और विलंब होनेपर अधिकारियों से जवाब तलब होता था[3]। केंद्रीय शासनालय के लेखोंमें संपत्ति के क्रय विक्रय या हस्तांतर दर्ज कराने के लिए शुल्क देना पड़ता था। कश्मीर के राजा यशस्कर ने शासनालय में दिये गये बहुत अधिक शुल्क से शंकित होकर एक मामले में जालसाजीको पकड़ा था[4]।

गाहडवाल[5] और चालुक्य[6] राज्य में सरकारी लेखोंके प्रधान निरीक्षक को अक्षपटलिक या महाक्षपटलिक कहा जाता था। कभी कभी यह ताम्रपत्र भी लिखता था[7]।

केंद्रीय सरकार और शासनालय का एक प्रमुख कार्य प्रांतीय, प्रादेशिक और स्थानीय शासन का निरीक्षण और नियंत्रण होता है। अब हमें यह देखना चाहिये कि प्राचीन भारत में इसकी क्या व्यवस्था थी।

कई ग्रंथकारों ने राजा और अन्य अधिकारियों को निरीक्षण के लिए दौरा करने की सलाह दी है। मनु का कथन है कि राजकर्मचारी स्वभावतः

१—सी इ प रि, १९१९ सं० १८५

२—परमार राज्य में एक ऐसी घटना का पता एपि इंडिका, २, पृ १८२ से लगता है।

३—देखो राजतरंगिणी, ५. ३९७–८ सौ इ इ, भाग ३ पृ १४२ में एक उदाहरण मिलता है जहां मूल आज्ञा के पश्चात् बारह सालके बाद ताम्रपट्ट बनाया गया था। शायद तत्कालीन अशांति से यह विलंब हुआ था इसलिए यह उदाहरण अपवादात्मक समझना चाहिये।

४—राजतरंगिणी ६, ३८

५—एपि इंडि, १४ पृ १९३

६—इं ऐं, ६ पृ ११७

७—इं ऐं, ११ पृ ७१

अत्याचारी और घूसखोर होते हैं अत राजा का कर्तव्य है कि राज्य में भ्रमण करके प्रजा के दुःख-दर्द का ज्ञान प्राप्त करे[1]। शुक्र का कथन है कि प्रजा के दुःखों और राजा के प्रति उनकी भावनाओं का परिचय प्राप्त करने के लिए स्वयं राजा या अन्य उच्चाधिकारी वार्षिक दौरे का कार्यक्रम बनावें[2]। इन सलाहों पर राजा चलते भी थे क्योंकि दौरे के समय राजा के द्वारा की गयी अनेक घोषणाएँ या दिये गये दानपत्र प्राप्त हुए हैं।

प्रांतों की स्थिति से अवगत कराने के लिए केंद्रीय सरकार के अपने चर या वृत्त लेखक रहते थे[3]। ये लोग स्थानीय अधिकारियों से स्वतंत्र अपना कार्य करते थे। इनके द्वारा प्रांतीय कर्मचारियों के विरुद्ध विवरण मिलने पर कर्मचारियों को राजधानी बुलाकर उनसे जवाब तलब किया जाता था।

बहुत से राज्यों में विशेष निरीक्षक नियुक्त करने की प्रथा थी। कर्णाटक में कलचुरि शासन में इस प्रकार के २ अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। इन्हें 'करणम्' कहते थे। इन्हें केंद्रीय शासन की २ ज्ञानेंद्रियाँ कहा गया है। उनका काम यह देखना था कि सार्वजनिक धन का दुरुपयोग न हो, न्याय की व्यवस्था ठीक हो और राजद्रोहियों और उपद्रवियों को तुरत दंड मिले[4]।

चोल राज्य में स्थानीय संस्थाओं और देवालयों का हिसाब किताब जाँचने के लिए प्रतिवर्ष केंद्रीय शासनालय से विशेष कर्मचारी भेजे जाते थे। प्रतिहार राज्य के एक लेख से ज्ञात होता है कि राजा के आदेश पर कुछ विषयों की जाँच के लिए ऐसा एक अधिकारी उज्जयिनी गया था[5]। अन्य राज्यों में भी कलचुरि, प्रतिहार और चोल शासन के अनुसार ही प्रथा रही होगी।

स्थानीय कर्मचारियों को केंद्रीय शासन की आज्ञाओं की सूचना देने के लिए केंद्रीय कार्यालय के द्वारा विशेष संवाददाता भेजे जाते थे। यह काम जिम्मेदारी का था और उच्चपदस्थ अधिकारियों को ही सौंपा जाता था। दक्षिण के वाकाटक लेखों में राजसंदेशवाहकों को 'कुलपुत्र' (ऊँचे घराने के) कहा गया है[6]। पल्लव लेखों में इन्हें 'महाप्रधान (मंत्री) के संदेशवाहक'

१ मनु ७, १२१-४, देखिये अर्थशास्त्र २, अध्याय ३।

२ १, १७४-५

३ याज्ञ, १, ३३८-९। अर्थशास्त्र १, अध्याय ११-१२।

४—ए क, भाग ७ शिकारपुर ॥ १०२ और १२३

५—एपि इंडि, १४ पृ १८२-८

६—एपि इंडि, २२ पृ १६७

बताया गया है[1]। आसाम से प्राप्त एक लेखमें इस श्रेणी का अधिकारी बड़े गर्व से कहता है कि मैं सैकड़ों राजशासनों का वहन कर चुका हूँ[2]।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि केंद्रीय सरकार और कार्यालय किस प्रकार प्रान्तीय और स्थानीय शासन के निरीक्षण और नियन्त्रण की व्यवस्था करते थे।

अब हमें विभिन्न विभागों, उनके अधिकारियों और कार्यों पर विचार करना है। विभागों के प्रधान अधिकारियों को मौर्य काल में अध्यक्ष और शुक्र शासन में कर्मसचिव कहते थे। आश्चर्य की बात है कि स्मृतियों में इनका उल्लेख बड़े ही अस्पष्ट रूप में किया गया है[3]। हाँ अर्थशास्त्र में इस विषय का विस्तृत विवरण है और इसकी पुष्टि उत्कीर्ण लेखों से भी होती है।

आधुनिक शासन व्यवस्था में विभागाध्यक्ष और विभाग-मन्त्री पृथक् होते हैं। इसका कारण यह है कि आधुनिक मन्त्री प्राय: जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिष्ठित नेता होते हैं। पर प्राचीन कालमें यह स्थिति न थी, और अधिकांश देशोंमें विभाग का अध्यक्ष ही मन्त्री होता था। प्राचीन भारत में अक्सर मन्त्री सेनापति का भी पद प्राप्त कर लेते थे। प्रथम कुमारगुप्त के राज्य में पृथ्वीषेण साधारण मन्त्री के पद से उन्नति करके सेनापति के पदपर पहुंचे थे[4]। साधारणतः न्यायमन्त्री और प्रधान न्यायाधीश, तथा युद्धमन्त्री और प्रधान सेनापति एक ही व्यक्ति हुआ करता था।

प्रारम्भिक काल में और छोटे राज्यों में विभागों की संख्या बहुत अधिक न थी। विष्णुस्मृति में, खान, चुंगी, नौका (ferry) और हाथी, केवल इन्हीं चार विभागों का उल्लेख है[5]। प्रागैतिहासिक कश्मीर राज्य में केवल ७ विभाग थे, अशोक के पुत्र जलौक ने इनकी संख्या बढ़ाकर १८ कर दी थी। लगभग नवम शताब्दी बाद ललितादित्य ने इनकी संख्या २३ कर दी[6]। रामायण और महाभारत में १८ विभागों या 'तीर्थों' का ही उल्लेख बराबर किया गया है,[7] पर

१—इ ए., ५ पृ १५५

२—एपि इंडि ११ पृ. १०७

३—मनु, ७-८१, याज्ञ १-३२२।

४ एपि इंडिका, १० पृ ७१।

५ ३, १६।

६ राज १-११८-२०, ४-१४१ और आगे।

७ रामायण २, १००, २६। महा भा ४, ५, ३८

इनके नाम नहीं दिये गये हैं। टीकाकारों ने ये नाम दिये हैं मगर उनकी टीकाएँ ग्रंथ रचना के सैकड़ों वर्ष बाद लिखे जाने के कारण उनके विधान संपूर्णतया विश्वसनीय न होंगे। अर्थशास्त्र में भी विभागों की इस परंपरागत संख्या का उल्लेख है[1], पर इसमें ५–६ अधिक विभाग भी जोड़े गये हैं। शुक्र के अनुसार विभागों की संख्या २० जान पड़ती है[2]।

उत्कीर्ण लेखोंसे कुछ और विभागों का पता चलता है जिनका उल्लेख स्मृति या नीतिकारों ने नहीं किया है। अब इन विभागों को आधुनिक वर्गीकरण के क्रमसे नीचे दिया जायगा।

भारतवर्ष में अधिकतर नृपतंत्र ही प्रचलित था इसलिये राजमहल विभाग का उल्लेख सबसे पहले करना अनुचित न होगा। महल और उसका अहाता एक विश्वासपात्र अधिकारी के जिम्मे रहता था जिसे बंगाल में 'भाव अधिक' कहा जाता था[3]। शुक्रनीति में उसके पदका नाम 'सौधगेहाधिप' कहा गया है[4]। राजमहल और शिविर में आवागमन का नियंत्रण 'द्वारपाल' नामक अधिकारी बड़ी सतर्कता से करता था। इस काम के लिए 'मुद्राधिप' नामक अधिकारी से अनुमति पत्र लेने की आवश्यकता पड़ती थी। राजा के सम्मुख दूतों और मिलनेवालों को पेश करने का काम 'प्रतीहार' या 'महाप्रतीहार' का था। राजा का एक अंगरक्षक[5] दल होता था जिसे कहीं कहीं 'शिरोरक्षक[6]' भी कहा गया है। इस दलका नायक चालुक्य कालमें 'अंगनिगूहक' कहा जाता था[7]। महल का संपूर्ण अंतर्गत प्रबंध 'अमात्य' के जिम्मे होता था। राजाके खजाने, पाकशाला वस्त्रालय और चिड़िया और जानवरखाना[8] (menagerie) के प्रबंधक इसी के अधीन होते थे। पाकशाला का प्रबंध बड़ी जिम्मेदारी का काम था, पाकाधिप को बराबर सतर्क रहना पड़ता था कि कहीं कोई विषप्रयोग द्वारा राजाके प्राणहरण की कुचेष्टा न करे।

---

१ १, अध्याय ८।
२ २, ११७।
३ मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल (बंगाल का इतिहास) भाग १, पृ० २८४।
४ अध्याय २, ११६।
५ मजुमदार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भा १, पृ० २८२।
६ वही पृ० २८२।
७ भावनगर लेख, पृ० १५८।
८ शुक्र २–११७ १२०।

आजकल की भाँति उस समय भी राजा के लिए राजवैद्य होता था। गहड़वाल लेखों में इसका उल्लेख है[1]। शुक्रनीति में इसे सम्भवतः 'आरामाधिप' कहा गया है[2]। सन् ६०० ई० के बाद जब फलज्योतिष का प्रचार बढ़ा तब राजसभा में राजज्योतिषी भी रखे जाने लगे, और युद्ध यात्रा के पूर्व इनकी सलाह ली जाती थी। गहड़वाल, यादव, चाहमान और चालुक्य[3] लेखों में इनका उल्लेख मिलता है। बहुत प्राचीन काल से ही सभा में 'राजकवि' होते आते थे। संस्कृत के अधिकांश प्रख्यात कवि किसी न किसी राजसभा से सम्बद्ध थे। इसके अतिरिक्त राजा या सरकार द्वारा बहुत से पण्डितों को कुछ न कुछ सहायता मिलती थी।

अन्तःपुर का प्रबन्ध 'कञ्चुकिन्' के जिम्मे रहता था। वह अवस्था में वृद्ध और राजा का परम विश्वासपात्र होता था।

सेना विभाग निःसन्देह सबसे महत्वपूर्ण विभाग था। अक्सर राजकी आयका ५० प्रतिशत सेना पर खर्च कर दिया जाता था[4]। इस विभाग के अध्यक्ष के 'सेनापति', 'महासेनापति', महाबलाधिकृत[5] या महाप्रचण्डदण्डनायक[6] आदि विभिन्न नाम विभिन्न राज्यों और काल में थे। इसके अधीन 'महाव्यूहपति' नामक अधिकारी काम करता था जो आजकल के (चीफ ऑफ दि जेनरल स्टाफ) के दफ्तर के प्रधान की भाँति का अधिकारी था[7]। सेना की पदातिदल, अश्वदल, गजदल और रथदल ऐसी चार शाखाएँ होती थीं। इनके प्रधान अधिकारी क्रमशः पदाध्यक्ष, अश्वपति (महाश्वपति और महाश्ववरपति भी), हस्त्यध्यक्ष (गुप्तकाल में 'महापीलुपति') और रथाधिपति[8] कहे जाते थे। 'अश्वपति' और 'रथाधिपति' के मातहत

---

१ इ ऍं, १८, पृ १०।   २ १-११६।

३ इंडि ऍंटि १८ पृ १० और १६, पृ २१८। एपि इंडिका, १-पृ ३१२।

४ शुक्र १, ३१६-७ देखिये, आगे, अध्याय १२।

५ मध्य हिंदुस्थान के परिव्राजक राज्य में ५ वीं सदी में, देखिये, कॉ इ इ, ३, पृ १०८

६ दक्षिण में यादव राज्य में, इंडि ऍंटि १२ पृ १२०।

७ हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भा १ पृ २८८

८ अपरार्क, भाग २, शुक्रनीति, १ ११०-२०; ज ए स बि, १६०३-४, पृ १०० और आगे [illegible] गाहड़वालों के राज्य में भी करीब करीब ये सब सेनाधिकारी होते थे।

अश्वशालाधिकारी भी होते थे जिन्हें चाहमान काल में राजस्थान में 'साहणीय' कहा जाता था[1]। गुप्तकालीन लेखों में अनेकबार उल्लिखित 'दण्डनायक' आजकल के 'कर्नल' की कोटि के होते थे और विभिन्न प्रदेशों में तैनात सेना की टुकड़ियों के नायक होते थे[2]। आजकल जिस भाँति 'कामिसरियट' का प्रबन्ध करनेवाले 'क्वार्टर मास्टर जेनरल' होते हैं उसी भाँति प्राचीन भारत में भी सेना के लिए सामग्री जुटाने के लिए एक अधिकारी होता था और गुप्त काल में इस विभाग को 'रणभाण्डागाराधिकरण' यह अन्वर्थक नाम दिया गया था[3]। इसके मातहत कई अफसर होते थे, जिनमें 'आयुधागाराध्यक्ष' भी था जो सेना के अस्त्रों की देख भाल करता था। सेना के लिए हाथी एकत्र करनेवाला अधिकारी भी इसीके अधीन काम करता था। राष्ट्रीय रक्षा व्यवस्था में दुर्गों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था। प्रत्येक दुर्ग 'कोटपाल' या 'दुर्गाध्यक्ष' नामक अधिकारी के जिम्मे रहता था। दुर्गों की व्यवस्था के निरीक्षण के लिए सम्भवतः राज्य की ओर से एक विशेष अधिकारी भी रहता था। सीमान्त और उस ओर के मार्ग और दर्रों की रक्षा 'द्वारपाल' करता था, जो अपने क्षेत्र के 'दुर्गपाल' से निकट सम्पर्क रखता था। बहुधा दोनों पद एक ही व्यक्ति को दिये जाते थे, तथा प्रतिहार साम्राज्य में ग्वालियर दुर्ग का कोटपाल ही सीमांत का रक्षक 'मर्यादाधुर्य' भी था[4]।

१६ वीं सदी में भारत की सेना प्रदेश के अनुसार संघटित की जाती और रखी जाती थी जैसे बंबई की सेना, मद्रास की सेना और उत्तर की सेना। रेल लाइन चालू होनेके पहले इस प्रकार की व्यवस्था आवश्यक थी। प्राचीन भारत के बड़े बड़े राज्यों में भी ऐसी ही व्यवस्था थी। प्रतिहार साम्राज्य में राष्ट्रकूटोंपर ध्यान रखने के लिए एक दक्षिणी सेना थी, पालों को रोकने के लिए पूर्वी सेना और मुसलमानों का प्रतिरोध करने के लिए पश्चिमी सेना थी। राष्ट्रकूट राज्य में भी यही व्यवस्था थी[5]। मौर्य और गुप्त साम्राज्य में भी इसी प्रकार की व्यवस्था रही होगी यद्यपि इस समय में हमें कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिले हैं।

---

१ ए इंडि, ११ पृ [illegible]
२ आ स रि, १९११-२ पृ ५२
३ आ स रि, १९०३-४ पृ १०७ और आगे।
४ एपि इंडि, १ पृ १५४-६०
५ —राष्ट्रकूटों का इतिहास (राष्ट्रकूटाज् ऍड देयर टाइम्स) (पृ २४७-८)

एक राष्ट्रकूट लेखमें एक सैनिक अधिकारी के घोड़ों की शिक्षाके अद्भुत कौशल का बखान किया गया है[१]। यह स्पष्ट है कि सेना की विभिन्न शाखाओं को सामरिक शिक्षा देनेके लिए विशेष विभाग था। 'मौल' अर्थात आनुवंशिक सेना को शिक्षा देनेकी विशेष आवश्यकता न थी और यही सेनाकी सर्वोत्तम शाखा भी होती थी। युद्ध करना ही इनका वंशगत कार्य था और इन्हें गाव या जागीर के रूप में वृत्ति मिलती थी।

सेनामें घायलों को उठानेवालों का भी दल रहता था। सेनाके चिकित्सक और शुश्रूषक भी होते थे जो विविध औजारों, औषधों, मरहमों और पट्टियों से भलीभांति लैस रहते थे। चिकित्सक दलका उल्लेख उत्कीर्ण लेखोंमें बहुत ही कम मिलता है पर अर्थशास्त्र में[२] इसका वर्णन है और कश्मीर की सेना में भी यह विद्यमान था[३]। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में सेना के पशुचिकित्सकों का भी उल्लेख है।

चिकित्सक दल की भांति खनक और परिखारकों का (sappers and miners) दल भी आवश्यक था। कौटिल्य ने इसी प्रकार के एक विभाग का उल्लेख किया है (भा १० अध्याय ४) जिसका कार्य शिविरों, सड़कों, सेतुओं और कूपों का निर्माण और मरम्मत करना था। इसके भी अपने अध्यक्ष और अन्य अधिकारी रहे होंगे।

भारत के अधिकांश राज्य समुद्र से दूर थे और उन्हें केवल स्थलगामी युद्ध से ही काम पड़ता था। इसलिए नौसेना का उल्लेख स्मृतियों और उत्कीर्ण लेखोंमें बहुत ही कम मिलता है। पर मौर्य राज्य में नौसेना थी जिसके प्रबन्ध के लिए एक अलग समिति थी। कालिदास ने[४] बंगाल के वंगों के नौसाधित का उल्लेख किया है। पाल राजाओं के पास भी प्रबल नौसेना थी[५]। तामिल राज्य में बहुत प्राचीनकाल से ही नौसेना रहती थी जो पूर्व पश्चिमके देशों के साथ होने वाले समुद्री व्यापार की रक्षा के लिए पर्याप्त थी। ११ वीं सदी में चोल राजाओं ने अपने प्रबल नौसेनाकी सहायता से कई द्वीपों पर कब्जा किया था। पश्चिमी भारत के शिलाहार राज्य की भी नौसेना थी। पर नौसेना के संघटन और व्यवस्था के सबंध में हमें कुछ भी जानकारी नहीं मिलती।

---

१ वही पृ २८२

२ भाग, १० अध्याय ३, देखिये स भा १२ १५, ११।

३ राज ८, ७८१। ४ रघुवंश ४ ३६।

५ मजुमदार, बंगाल का इतिहास (हिस्ट्री ऑफ बंगाल)। भा १ पृ, २८६।

परराष्ट्र विषय एक अलग मंत्री के जिम्मे था जिसे लेखों में 'महासंधिविग्रहिक' और स्मृतियों में 'दूत' कहा गया है। साधारणतः इसे बहुत से सामंत और स्वतंत्र राज्यों से संबंध रखना पड़ता था अतः इसके मातहत कई अधिकारी होते थे। परराष्ट्र विभागमें गुप्तचरों की भी टुकड़ी होती थी जो छद्म वेश में घूम घूम कर भेद लगाया करते थे और अपने अध्यक्ष को सब हाल बताया करते थे। इसी विभाग के अंतर्गत 'महामुद्राध्यक्ष' का भी विभाग था जो राज्य में प्रवेश के लिए विदेशियों को अनुमति पत्र देता था और इसके अधिकारी पाटलिपुत्र आदि प्रमुख नगरों में रहने वाले विदेशियों की गतिविधि पर नजर रखते थे।

माल विभाग भी एक मंत्री के जिम्मे था और इसके मातहत भी बहुत से अध्यक्ष थे। सरकारी खेतों की व्यवस्था 'सीताध्यक्ष' के जिम्मे थी, जिसका काम इसमें मजदूरों और पट्टेदारों और इजारेदारों द्वारा खेती कराना था[1]। राज्य के जंगल भी एक अधिकारी के सिपुर्द थे, इसे पल्लव लेखों में 'आरण्याधिकृत'[2] और स्मृतियों में 'आरण्याध्यक्ष' कहा गया है, इसका काम जंगलों से होने वाली आयको बढ़ाना था। गोध्यक्ष[3], जिसके जिम्मे राजकीय गौएं भैंसें और हाथियों के झुंड रहते थे, आरण्याध्यक्ष से मिलकर कार्य करते थे, क्योंकि इन पशुओं के चरने के लिए जंगल में ही भूमि सुरक्षित की जाती थी। प्रागैतिहासिक कालमें तो पशुधन ही राज्य का प्रमुख धन था, ऐतिहासिक काल में भी इसकी एकदम उपेक्षा न की जाती थी। १२वीं सदी तक परमार और गाहड़वाल लेखोंमें 'गोकुलिक' का उल्लेख मिलता है[4]। परती या ऊसर भूमि के लिए भी एक अधिकारी 'विवीताध्यक्ष'[5] रहता था। इसका काम इस प्रकार की भूमि को सुधारना और बेचना तथा अवांछनीय लोगों का उसपर रहने से और अपना षड्यंत्र यहां चलाने से रोकना था। भूमि संबंधी कागज पत्रों को रखने का काम 'महाक्षपटलिक' का था, जो खेतों और उनकी सीमाओं का ठीक ठीक विवरण रखता था, और राज्यकर विभाग के मातहत काम करता था। इस अधिकारी के नीचे काम करनेवाले कई अधिकारी थे, ये बिहार में

---

१ अर्थशास्त्र २, अध्याय २४।
२ एपि इंडिका १ पृ ७।
३ वही ,, पृ २९।
४ एपि इंडिका, १९ पृ ७२, १४ पृ १९३।
५ अर्थशास्त्र २ अध्याय ३४।

१]

'सीमाकर्मेश्वर'[1] बंगाल में 'प्रमातृ'[2] और आसाम में 'सीमाप्रदाता'[3] कहे जाते थे। भूमिकर ही राज्य की आयका मुख्य साधन था, इसे वसूल करनेवाले कर्मचारी कहीं 'षडभागिक'[4] और कहीं 'औद्रंगिक'[5] कहे जाते थे। यह कर वास्तविक उपज के अंश रूप में अर्थात् अन्न या सामग्री रूप में लिया जाता था इसलिए इसकी वसूली की देखरेख के लिए कर्मचारियों की एक पूरी सेना की आवश्यकता पड़ती थी। गुजरात में इन्हें 'ध्रुव'[6] कहा जाता था। कुछ कर नकद मुद्राओं में लिया जाता था, इसे एकत्र करनेवाले कर्मचारी बंगाल में 'हिरण्यसामुदायिक' कहे जाते थे।

जहाँ माल विभाग का कार्य समाप्त होता था वहीं कोष विभाग का कार्य आरम्भ होता था। प्राचीन भारत में इस विभाग का कार्य बड़े झंझट का था। इसका काम केवल हिसाब किताब करना और चाँदी सोने को सुरक्षित रखना नहीं था। राज्य को कर के रूप में अन्न, ईंधन, तेल आदि सामग्रियाँ मिलती थीं। इन्हें ठीक से रखना पड़ता था और पुरानी सामग्री बेचकर नयी रखनी पड़ती थी। इस विभाग का प्रधान 'कोषाध्यक्ष'[7] कहा जाता था और इसके मातहत अनेक अधिकारी काम करते थे। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी अन्न की खत्तियों का निरीक्षक कोष्ठागाराध्यक्ष[8] था।

प्राचीन भारत में सभी राज्य अपना कोष भरा पूरा रखने में विश्वास रखते थे, इसीलिए प्रतिवर्ष आयका एक बड़ा अंश स्थायी कोष या सुरक्षित मद में डाल दिया जाता था। फलतः राज्य-कोष में सोना, चाँदी और रत्नों की बड़ी राशि संचित रहती थी।

आय व्यय विभाग (फायनान्स) के अधिकारियों का उल्लेख स्मृतियों या उत्कीर्ण लेखों में बहुत कम मिलता है। महाभारत के टीकाकार ने इन्हें

1 ऍ० इ० भाग ३ पृ २१६
2 बंगाल का इतिहास पृ २८६। (३) एपि इंडि ९ पृ १००।
4 " " " पृ २०८।
5 बंगाल का इतिहास पृ २८४। ६ ऍ० इ० इ०, भाग २, पृ १६८।
7 शुक्रनीति में इसे वित्ताधिप कहा गया है (२-११८)।
8 अर्थशास्त्र, २ अध्याय ५। शुक्रनीति में (२-११७, १२०) इसे धान्याध्यक्ष और लेखों में 'भांडागाराधिकृत' कहा गया है (एपि इंडिका, १९, पृ १०७)।

'व्ययाधिकारी' या 'कृत्याकृत्येषु अर्थनियोजक'[१] कह कर निर्दिष्ट किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आय व्यय विभाग का कार्य राजा, प्रधान मंत्री और दानाधिपति मिलकर करते थे। परंतु चालुक्य राज्य में इसके लिए एक अलग अधिकारी 'व्ययकरण महामात्य' होता था[२]।

प्राचीन भारत के राज्य उद्योग और व्यवसाय के क्षेत्र में भी बड़े सक्रिय रहते थे, इस विषय की देखरेख करनेवाले विभाग में बहुत से कर्मचारी रहते थे। देश का सबसे बड़ा उद्योग वस्त्र उत्पादन था और राज्य के अपने वस्त्र बुनने के कारखाने थे जिनका उद्देश्य गरीबों की मदद और राज्य की आय बढ़ाना दोनों था। इस विभाग द्वारा दीन दुर्बल लोगों के घर रुई भेजी जाती थी और उनसे निश्चित पारिश्रमिक देकर सूत कतवाया जाता था[३]। इनके अतिरिक्त और भी मजदूर कारखानों में अवश्य काम करते थे। इस विभाग के अधिकारी अर्थशास्त्र में सूत्राध्यक्ष और शुक्रनीति में (२ ११०) वस्त्राध्यक्ष कहे गये हैं। सुराध्यक्ष के निरीक्षण में सरकार के मदिरा बनाने के भी कारखाने थे[४]। निश्चित शुल्क देने पर नागरिकों को भी सुरा बनाने की अनुमति थी। इस विभाग के अधिकारी सुरापान या विक्रय का समय निर्धारित करते थे और इसकी देखरेख रखते थे कि सुरालयों में बेईमानी या दंगा न होने पावे। गणिकाध्यक्षों द्वारा सरकार वेश्यावृत्ति का भी नियन्त्रण करने की चेष्टा करती थी[५]। वेश्याओं को अपने यहाँ आने जाने वाले लोगों के बारे में पूरा ब्योरा देना पड़ता था, जिससे पुलिस विभाग को अपराधों की जाँच में भी सहायता मिलती थी। वेश्याओं से गुप्तचरों का कार्य भी लिया जाता था और उन्हें इस कार्य के लिए अन्य राज्यों में भी भेजा जाता था। बहुधा सामंत गण प्रभुराज्य की गणिकाओं को अपनी सभाओं में स्थान देने पर बाध्य होते थे। बड़े नगरों में सरकार के कसाई खाने भी होते थे जहाँ शुल्क देकर जानवर कटाये जा सकते थे। गाय, बैल और बछड़ों के वध का पूर्ण निषेध था। इस संबंध की व्यवस्था सूनाध्यक्ष के हाथ में रहती थी। उनका काम राजकीय वनों में अन्य लोगों को आखेट से रोकना भी था[६]।

---

१ १, ९, ३८
२ ज बॉ ब्रॉ रॉ ए सो २९–१२२
३ अर्थशास्त्र २ अध्याय २३
४ वही २–अध्याय २५
५ एपि इण्डिका ५ पृ १०३। ६ अर्थशास्त्र २ अध्याय २६

राज्य की सब खानोंपर सरकार का ही स्वामित्व होता था। इसके लिए भी एक विभाग था जिसमें भूस्तरशास्त्रज्ञ (geologists) रखे जाते थे जो खान आदि का पता लगाया करते थे। सरकार कुछ खानों को स्वयं खुदवाती थी और कुछ का अधिकार व्यवसाइयों को दे देती थी, जिन्हे खान से निकलने वाले पदार्थ का एक निश्चित अंश सरकार को देना पड़ता था[1]। बारहवीं सदी में गहड़वाल राज्य में भी यह विभाग विद्यमान था[2]।

कभी कभी सोने चांदी का सामान बनाने के लिए स्वर्णकारों को सरकार से अनुमति पत्र लेने की आवश्यकता पड़ती थी। सरकारी मुद्रा बनाने ठेका भी स्वर्णकारों को दिया जाता था। इस विभाग का प्रधान 'सुवर्णाध्यक्ष' कहा जाता था[3]।

वाणिज्य विभाग में भी बहुत से कर्मचारी रहते थे। प्रथमतः बाजार राजकर्मचारियों के निरीक्षण में रहते थे जिन्हें अर्थशास्त्र में पण्याध्यक्ष[4], बंगाल में हट्टपति, और काठियावाड़ में शौल्किक कहा जाता था। इनका काम राज्य की सामग्री को लाभ पर बेचने की व्यवस्था करना और स्थानीय जनता के उपयोग की सामग्री का बाहर से आयात और उचित दाम पर विक्रय का प्रबंध करना और स्थानीय उत्पादित सामग्री को मुनाफे पर बाहर निर्यात करने की व्यवस्था करना था। ये लोग वस्तुओं का मूल्य भी निर्धारित करते थे और अनुचित संचय और मुनाफा खोरीको रोकते थे।

इस विभाग द्वारा चुंगी वसूल करने के लिए शुल्काध्यक्ष भी नियुक्त किये जाते थे[5]। इनका दफ्तर नगर के फाटकों पर रहता था, जहां नगर में विक्रयार्थ आनेवाली सब वस्तुओं पर चुंगी निर्धारित की जाती थी। कभी कभी इसी स्थान पर विक्रय भी होता था। शुल्काध्यक्ष को चुंगी को धोखा देनेवाले व्यापारियों को दण्ड देनेका पूरा अधिकार दिया जाता था। माप और तौलको देख-रेख के लिए भी अधिकारी नियुक्त थे। ये तौलमें काम आनेवाले बटखरों की परीक्षा करके उनपर मुहर या छाप लगा देते थे[6]। सम्भवतः छोटे नगरों

१ अर्थशास्त्र २ अध्याय १२। २ एपि इण्डिका १४ पृ १९३

३ अर्थशास्त्र २—अध्याय १३। बंगाल का इतिहास, पृ २८२। एपि इंडि १२ पृ २३९। ४ अर्थ० २—अध्याय १६।

५ वही २—अध्याय २१। पाल और परमार लेखों में इन्हें 'शौल्किक' कहा गया है। एपि इंडि १२ पृ ७१।

६ वही २—अध्याय १।

में बाजार चुंगी और मापतौल आदि का निरीक्षण एक ही व्यक्ति करता रहा हो। ग्रामों में ये कार्य संभवतः मुखिया करता था।

अब हमें न्याय विभाग की व्यवस्था पर विचार करना है। राजा ही सर्वोच्च न्यायाधिकारी था और अपने सामने उपस्थित किये गये अभियोग या अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सब प्रकार के मुकदमों का विचार करने की उससे आशा की जाती थी। राजा यथासंभव स्वयं न्यायदान करता था पर कार्याधिक्य होने पर 'प्राड्विवाक' या प्रधान न्यायाधीश उसका कार्य सँभालते थे। सरकार की नीति न्याय व्यवस्था के विकेंद्रीकरण की थी और ग्राम तथा नगर पंचायतों को सब स्थानीय व्यवहार (दीवानी मुकदमे) का विचार और निर्णय करने का भार सौंपा जाता था। कोई भी अर्थी प्रारंभ में सीधे सरकारी न्यायालय में अभियोग उपस्थित न करने पाता था। इससे सरकारी न्यायालयों का काम बहुत हलका हो जाता था। इसीलिए उत्कीर्ण लेखों में सरकारी न्यायालय का उल्लेख यदा कदा ही मिलता है। पर बड़े बड़े नगरों और पुरों में सरकारी न्यायालय रहते थे और नारद[1] तथा बृहस्पति दोनों इनका उल्लेख करते हैं। गुप्तकाल में इन्हें 'धर्मासनाधिकरण'[2] कहा जाता था और ये केवल बड़े बड़े नगरों में ही स्थित होते थे। न्यायाधीश 'धर्माध्यक्ष' या 'न्यायकारणिक'[3] कहे जाते थे। चंदेल लेखों में 'धर्मलेखी'[4] का उल्लेख हुआ है पर यह ठीक पता नहीं कि ये न्यायाधीश थे या अभियोग लिखनेवाले वकील।

प्रधान न्यायाधीश को स्मृतियों का पूरा ज्ञान होना आवश्यक था अतः कभी कभी धर्मशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता होने के कारण पुरोहित ही इस पद पर प्रतिष्ठित कर दिये जाते थे। सन् १००२ में चंदेल राजा धंग के शासन में ऐसा ही किया गया था[5]। छोटे मोटे फौजदारी के मामले स्थानीय पंचायतों में ही निपटाये जाते थे पर बड़े मुकदमे सरकारी न्यायालय में ही निर्णीत होते थे। फौजदारी अदालत के न्यायाधीश संभवतः 'दंडाध्यक्ष' कहे जाते थे। एक बात

---

१ २१-२१।

२ ज स रि, ११९३-४, पृ १०७ और आगे।

३ [illegible]

४ [illegible] १९०, ० ४०-४१।

५ एपि इंडि, १ पृ १४० और आगे।

आश्चर्य की है कि स्मृतियों और लेखों में करग्रह के अधिकारियों का उल्लेख अत्यन्त दुर्लभ है। इसका कारण सम्भवतः यह था कि कारावास की सजा बहुत ही कम दी जाती थी। साधारणतः जुर्माने ही किये जाते थे। जुर्माना वसूल करनेवाले कर्मचारियों को राजाओं के लेखों में 'दशापराधिक' नाम दिया गया है[1]।

पुलिस विभाग के कर्मचारियों का उल्लेख उत्कीर्ण लेखों में 'चौरोद्धरणिक' (चोर पकड़नेवाले) और 'दण्डपाशिक' (चोरों को पकड़ने का फंदा धारण करनेवाले) नामों से किया गया है। पाल, परमार और प्रतीहार लेखों में यही नाम मिलता है[2]। इस विभाग के उच्च अधिकारियों का उल्लेख उत्कीर्ण लेखों में नहीं मिलता, सम्भवतः इनका काम राज्य के विभिन्न भागों में तैनात सैनिक अधिकारी करते थे। हमें यह न भूलना चाहिये कि उस समय चोरियाँ बहुत कम होती थीं। केवल साहसिक व्यक्ति ही डकैती या पशु और सम्पत्ति अपहरण करने का दुःसाहस करते थे और इनका दमन सेना की सहायता से ही हो सकता था। ग्राम का मुखिया ही गाँव का प्रधान पुलिस अधिकारी होता था और ग्रामीण स्वयंसेवक सैनिक दल उसीके अधीन रहता था। स्थानीय अधिकारियों के डकैतों के दमन में असमर्थ होने पर राजकीय दण्ड पाशिक और सैनिक अधिकारी भेजे जाते थे। ग्राम और नगरवासियों को इनके भोजन और निवास की व्यवस्था करनी पड़ती थी। 'अग्रहार' भोगने वाले इस भार से मुक्त होते थे। अज्ञात यात्रा चोर द्वारा अपहृत धन की हानि सरकार को ही भरनी पड़ती थी। मगर वह इस जिम्मेदारी को दूसरे पर लादने की भी कोशिश करती थी—यदि ग्रामवासी यह न सिद्ध कर पाते थे कि चोर ग्राम से निकल गये तो सरकार उन्हें हरजाना देने को बाध्य करती थी। यदि यह सिद्ध हो जाता था कि चोर किसी दूसरे ग्राम में छिपे हैं तो उस ग्राम का हरजाना देना पड़ता था। यदि चोर उजाड़ या वन्य प्रान्त में शरण लेते थे तो विवीताध्यक्ष और अरण्याध्यक्ष को उन्हें पकड़ना या हरजाना देना पड़ता था।

धर्म विभाग या धार्मिक विषय पुरोहित और 'पण्डितों'[3] के अधीन थे। प्राचीन भारत में राज्य धर्म और नीति का संरक्षक था और इस विषय की

---

१ हिस्टरी ऑफ बंगाल, (बंगाल का इतिहास), भा १ पृ २८५।

२ वही पृ २८५। एपि इंडिका १४ पृ ०१, वही, ३ पृ ६। कहीं कहीं ये दण्डोद्धरणिक भी कहे जाते थे।

३ यह एक मन्त्री का नाम है।

सारी कारवाई पुरोहित और पंडितों के निर्देशानुसार ही की जाती थी। यदि कोई सामाजिक धार्मिक प्रथा या रीति पुरानी पड़ जाती थी तो उसके पालन पर जोर नहीं दिया जाता था। यदि नये सुधार जरूरी समझे जाते थे तो विद्वान् ब्राह्मणों से नयी स्मृतियाँ, भाष्य या प्रबंध तैयार कराये जाते थे जिनमें नये नये सुधारों का प्रतिपादन किया जाता था और इस प्रकार धीरे धीरे नयी रीतियाँ जारी की जाती थीं।

इस विभाग के अधिकारी मौर्यकालमें 'धर्म महामात्र' सातवाहनकाल में 'श्रमण महामात्र', गुप्त शासन में 'विनयस्थितिस्थापक' और राष्ट्रकूट कालमें 'धर्मांकुश' कहे जाते थे। इनका काम सब धर्मों को समान रूपसे प्रोत्साहन देना था, सरकार की ओरसे सहायता देते समय हिंदू, बौद्ध, जैन आदिका भेद भाव प्रायः न रखा जाता था। धार्मिक कार्य के लिए राजकीय सहायता देने का कार्य जिस अधिकारी के जिम्मे था शुक्रनीति में उसे 'दानपति' का नाम दिया गया है। दान विद्वान् ब्राह्मणों बौद्ध विहारों और मठों तथा मंदिरों को दिया जाता था जिसका उपयोग वे विद्यालय, चिकित्सालय और अनाथालय आदि चलाने में भी करते थे। अतः धार्मिक कार्यके लिए जो दान दिया जाता था उसका बहुत बड़ा भाग वास्तव में शिक्षा, चिकित्सा और गरीबों की सहायतार्थ ही होता था। सन् ४०० ई० से मठ मंदिर और विद्वान् ब्राह्मणों को दान किये गये गाँवों का संख्या काफी बढ़ गयी थी क्योंकि इनकी व्यवस्था के लिए विशेष अधिकारी नियुक्त होने लगे थे, जिन्हें गुप्त और पाल कालीन लेखों में 'अग्रहारिक' कहा गया है[1]। इनका काम यह देखना था कि दान पानेवालों को दान भोगने में कोई बाधा नहीं होती यदि राजनीतिक उथल पुथल के कारण दान पानेवाले अपने अधिकार से वंचित हो गये हों तो उन्हें पुनः कब्जा दिलाया जाता था[2]। दानके समय अक्सर कुछ शर्त भी लगायी जाती थीं। कहीं कहीं यह शर्त लगायी जाती थी कि दानका उपयोग तभी तक हो जब तक पानेवाले के उत्तराधिकारी विद्वान् और सदाचारी हों। अग्रहारिक अधिकारी इन शर्तों को कार्यान्वित करने की ओर ध्यान रखता था। कभी कभी ब्राह्मण आदि

---

१ कॉ इ इ, भाग ३ पृ ५२, बंगाल का इतिहास पृ १२४। अग्रहारिक का अर्थ दान लेनेवाला नहीं है क्योंकि बिहार शिलालेख में (कॉ इ ३ ५१) पर इन्हें अधिकारियों की सूची में पाया है।

२ प्रतीहार राज्य में ऐसा एक घटना हुई था। एपि इंडि १९ पृ १६-१७। चाहमान के कालके लिए देखिये, एपि इंडि ११ पृ ३०८।

दानपत्र भी बना लेते थे, अग्रहारिक का काम इनका पता लगाना और दण्ड देना था[१]। दक्षिण भारत के चोल राज्य में यह देखने के लिए विशेष अधिकारी भेजे जाते थे कि देवोत्तर संपत्ति का उचित उपयोग हो रहा है या नहीं।

अस्तु, हमने विभिन्न विभागों और उनके कार्यों की समीक्षा कर ली। यह कहना ठीक न होगा कि ये सब विभाग छोटे-छोटे सामंत राज्यों में भी थे। पर प्राप्त प्रमाणों से प्रकट होता है कि औसत दर्जे के राज्यों में उपर्युक्त अधिकाश विभाग थे। अर्थशास्त्र के विवरणों की पुष्टि बहुत हद तक उत्कीर्ण लेखों से होती है।

अंत में हम इन विभागों के अधिकारियों की भर्ती के तरीके पर दृष्टिपात करेंगे। वाणिज्य, खान आदि बहुत से विभागों के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ती थी और स्मृतियों में इस बात पर जोर दिया है कि उपयुक्त योग्यतावाले ही व्यक्ति पूरी जांच के बाद इन पदों पर नियुक्त किये जायँ[२]। शुक्र ने तो यहाँ तक कहा है कि होनहार नवयुवकों को वृत्ति देकर इन पदों के उपयुक्त विशेष शिक्षा दी जाय[३]। साधारण पदों के लिए ऊंचे कुल और प्रभावशाली रिश्तेदारी की आजकल की भाँति उस समय भी पूछ रही होगी, पर बाद में उन्नति कर्मचारी की योग्यता और परिश्रम पर ही निर्भर थी।

यह नहीं कहा जा सकता कि आजकल के अखिल भारतीय, प्रांतीय और मातहत आदि भेदों की भाँति उस समय के सरकारी कर्मचारियों में भी ऊँची नीची श्रेणियाँ होती थीं या नहीं। संभव है कि आजकल के आइ सी एस् की भाँति मौर्यकाल के 'महामात्र' और गुप्तकाल के 'कुमारामात्य' रहे हों, इस श्रेणी के कर्मचारी ही उस समय जिले या प्रादेशिक अधिकारी होते थे और कभी कभी केंद्रीय शासनालय में उच्च पदों तथा कभी मंत्रिपद पर भी पहुँच जाते थे। इस श्रेणी के सदस्य साधारणतः उच्च कुल के और कभी कभी पुराने राजवंशों के सदस्य होते थे। मंत्रिपद की भाँति ये पद भी बहुधा वंशानुगत या आनुवंशिक हो जाया करते थे।

---

१ गहड़वाल काल के इस प्रकार के जाली दानपत्र के लिए देखिये ज ए सो ब, ६ पृ ५४७–८।

२ यो यद्वस्तु विजानाति स तत्र विनियोजयेत्। कामंदक ५, ७६।

३ सर्वविद्याकलाभ्यासे शिक्षयेद्भृतिपोषितान्।
समाप्तविद्य न् दृष्ट्वा तत्कार्ये स नियोजयेत्॥ १–३१७।

प्रांतीय (Provincial) और मातहत अधिकारी समभवत स्थानीय व्यक्ति बनाये जाते थे। यातायात की सुविधा न होने के कारण समवत इनका तबादला भी बार बार न होता था। इन अधिकारियों को नकद वेतन के बजाय प्राय सरकारी जमीन और स्थानीय चुगी की आय का कुछ भाग दिया जाता था, जिससे उनका पद स्वाभाविक ही वंशानुगत बन जाता था।

दसवाँ अध्याय

प्रांतीय, प्रादेशिक, जिला और नगर शासन व्यवस्था

प्रांतीय, प्रादेशिक और जिला शासन व्यवस्था का अध्ययन करने के पूर्व प्राचीन काल के राज्यों के प्रादेशिक विभाजन की व्यवस्था समझ लेना आवश्यक है। इस विषय में सबसे पहली बात यह स्मरण रखनी चाहिये कि सर्वत्र एक ही व्यवस्था न थी। आजकल की भाँति प्राचीन भारत में भी कुछ जिले छोटे थे और कुछ बड़े। इसका कारण जनसंख्या और उत्पादन शक्ति की विभिन्नता और राजनीतिक परिस्थितियाँ दोनों थी। यदि कोई छोटा सामंत राज्य साम्राज्य में मिलाया जाता था तो एक छोटा जिला बन जाता था। दूसरी ओर नये नये प्रदेश हस्तगत करते करते सीमांत के जिले विस्तृत भी होते जाते थे। कभी कभी किसी प्रदेश का महत्व बढ़ने पर आसपास के अनेक गाँव उसमें शामिल हो जाते थे, यथा महाराष्ट्र के कर्हाटक विषय (जिला) में सन ७६८ ई० में चार हजार गाँव थे, पर १०५४ ई० में इनकी संख्या बढ़ कर दस हजार हो गयी थी।

पल्लव, वाकाटक, गहड़वाल आदि छोटे राज्यों में प्रादेशिक विभागों की बहुलता न होती थी। ये राज्य केवल जिलोंमें विभाजित रहते थे, जिसे राष्ट्र या विषय कहा जाता था[1]। पर मौर्य साम्राज्य जैसे बड़े राज्य का प्रादेशिक विभाजन प्राय आधुनिक कालके भारत के समान ही था। मौर्य साम्राज्य भी अनेक प्रांतों में विभाजित था जो विस्तार में आधुनिक भारतीय प्रांतों के बराबर थे। प्रांत प्रदेश में विभाजित थे, जिनके शासक आजकल के डिवीजनल कमिश्नर की भांति प्रादेशिक व्यक्तियों, पर शासन करते थे। प्रदेश जिलों या विषयों में, और विषय भुक्तियों पेठों या पाठकों में विभाजित थे। ये भी १० से लेकर ४० ग्रामों तक के समूहों में बाँटे जाते थे।

प्राचीन भारत का इतिहास कई सदियों तक चला जाता है अत: प्रादेशिक विभागों के नामों में विभिन्नता होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। यथा मध्य

---

१ यथा एपि इंडिका २७ पृ २५०, १५ पृ ७५७, और २ पृ ३०४।

प्रांत और दक्षिण में भुक्तियां आधुनिक ताल्लुका या तहसीलों से भी छोटी होती थीं, पर उत्तर भारत में गुप्त और प्रतीहार शासन में यही भुक्तियां आधुनिक कमिश्नरियों के बराबर होती थीं। यथा राष्ट्रकूट राज्य में[१] महाराष्ट्र में प्रतिष्ठानक भुक्ति में केवल १२ और कोप्पारक-भुक्ति में ५० ग्राम थे, जब कि गुप्त साम्राज्य के बंगाल की पुण्ड्रवर्धन भुक्ति में आधुनिक दीनाजपुर, बोगरा और राजशाही के जिले और बिहार की मगध भुक्ति में गया और पाटलिपुत्र जिले सम्मिलित थे[२]। प्रतीहार राज्य की श्रावस्ती भुक्ति में वर्तमान युक्तप्रांत के कई जिले शामिल थे। राष्ट्र का अर्थ साहित्य में प्रायः राज्य होता है पर राष्ट्रकूट शासन[३] में यह एक कमिश्नरी का बोधक था। पर दक्षिण में पल्लव, कदम्ब और शालङ्कायन राज्यों में राष्ट्र का अर्थ तहसील या अधिक से अधिक जिला था[४]। इन नामों का प्रयोग भी निश्चित अर्थ में न होता था। जैसे एक राष्ट्रकूट लेख में नासिक को एक बार विषय का नाम दिया गया और केवल २९ वर्ष बादके दूसरे लेखमें इसी को देश[५] कहा गया। अतः केवल नाम से ही विस्तार का निश्चित अनुमान करना ठीक नहीं।

प्रांतीय शासन

आजकल के अर्थ में प्रांतीय शासन-व्यवस्था केवल बड़े राज्यों में ही पायी जाती थी। मौर्य साम्राज्य कई प्रांतों में विभाजित था। इनमें से पाँच उत्तरापथ, अवंतिराष्ट्र दक्षिणापथ, कलिंग और प्राच्य तथा इनकी राजधानी तक्षशिला, उज्जयिनी सुवर्णगिरि, तोसली और पाटलिपुत्र के नाम हमें विदित हैं। संभव है कि उत्तरापथ और दक्षिणापथ स्वयं कई प्रांतों में विभाजित रहे हों। शुंग राज्य के प्रारंभ में मालवा का पद एक प्रांत के बराबर था। कण्व राज्य संभवतः इतना बड़ा न था कि उसे प्रांतों में विभाजन की आवश्यकता पड़े। सातवाहन साम्राज्य पूरे दक्षिण में फैला हुआ था पर इसके प्रांतीय शासन व्यवस्था के बारे में हमें कुछ ज्ञात नहीं। कनिष्क साम्राज्य में बनारस, मथुरा, और उज्जयिनी के महाक्षत्रप अवश्य ही प्रांतीय शासक का पद रखते

१ राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ १२७, तथा एपि इंडिका २२, पृ २१२
२ एपि इंडि, १५ पृ ११३ से आगे।
३ राष्ट्रकूटों का इति पृ १३१।
४ एपि इंडि १२ पृ ११७, १६ पृ २६१; इंडि ऐंटि, ५ प १५४।
५ राष्ट्रकूटों का इतिहास पृ १३७।

थे। गुप्त साम्राज्य में काठियावाड़, मालवा और गुजरात के प्रदेश प्रांतों का पद रखते थे। राष्ट्रकूट राज्य के मूल प्रदेश तो प्रांतों में नहीं विभाजित थे, पर बाद में जीते हुए गुजरात, बनवासी और गंगवाड़ी प्रदेशों में प्रांतीय शासक नियुक्त किये गये थे। प्रतीहार राज्य की भुक्तियाँ प्रांत नहीं कमिश्नरियाँ थीं। पाल, परमार, चालुक्य, चंदेल, गहड़वाल और चोल राज्य अपेक्षाकृत छोटे थे। इनमें से कुछ बड़े जैसे, चोल राज्य में दो प्रकार के विभाग थे, मंडल जो आजकल के दो तीन जिलों के बराबर थे और दूसरे नाडु, जो प्रायः आधुनिक दो तहसीलों के बराबर थे। छोटे राज्य जिले और तहसीलों में ही विभाजित थे।

प्रांतीय शासक बड़े ऊँचे पद के अधिकारी होते थे। बहुधा राजवंश के कुमार ही इन पदों पर प्रतिष्ठित किये जाते थे। यथा, मौर्य साम्राज्य में बिन्दुसार, अशोक और कुणाल सब प्रांतीय शासकों के पद पर कार्य कर चुके थे। शुंग शासन में युवराज अग्निमित्र मालवा प्रांत के प्रांताधिकारी थे। गुप्तकाल में सन् ४३५ ई० में इसी मालवा प्रांत में गुप्त राजकुमार घटोत्कच गुप्त प्रांतीय शासक पद पर स्थित था। चालुक्य और राष्ट्रकूट शासन में गुजरात प्रांत में राजवंश के कुमार ही शासक बनाकर भेजे गये और बाद में इन्होंने इस प्रांत में प्रायः स्वतंत्र राज्य स्थापित किये। सन ७६० ई० में राष्ट्रकूट राज्य के गंग वाड़ी प्रांत में सम्राट् का ज्येष्ठ पुत्र शासक पद पर नियुक्त था। राजकुमारों के न रहने पर प्रांतीय शासक का पद राज्य के सबसे ऊँचे और अनुभवी अधिकारियों को दिया जाता था जो बहुधा प्रख्यात सेनानायक भी होते थे। यथा शक राज्य में 'दक्षिण' प्रांत के शासक नहपान और चष्टन कुशल सेना ... थे, इसी प्रकार राष्ट्रकूट सम्राट् प्रथम अमोघवर्ष का बनवासी प्रांत का शासक बंकेय भी था। सैनिक योग्यता मंत्रिपद के ही लिए नहीं वरन् प्रांतीय शासक पद के लिए भी महत्वपूर्ण समझी जाती थी। प्रांतीय शासकों के अधिकार विस्तृत और उच्च थे। उनका काम अपने प्रांत में पूर्ण शांति बनाये रखना तथा साम्राज्य को सीमावर्ती राज्यों के आक्रमणों से सुरक्षित रखना था। इसलिए सैन्य संचालन की योग्यता उनके लिए अनिवार्य थी।

बहुधा राजकुमार होने के नाते प्रांतीय शासकों के भी अपने मंत्री और राजसभा रहती थी। तक्षशिला की जनता प्रांतीय मंत्रियों के अत्याचारों से ही पीड़ित होकर विद्रोह किया था[1]। मालवा के शुंग शासक अग्निमित्र का अपना

1 दिव्यावदान पृ ४०७।

मन्त्रिमंडल था[१]। इसी प्रकार राष्ट्रकूट और यादव राज्य के प्रांतीय शासकों के भी थे। इन शासकों को महासामंत का पद प्रदान किया गया था, जो करद राजा के समकक्ष था[२]। ये शासक साम्राज्य की साधारण नीति का ही अवलंबन करते थे जिसका निर्देश समय समय पर विशेष संवाद-वाहकों अथवा राजाद्वारा किया जाता था। फिर भी यातायात की कठिनाई के कारण इन्हें पर्याप्त शासनस्वतंत्रता रहती थी। कभी कभी ये अपने ही मत से संधि विग्रह भी किया करते थे जैसा अग्निमित्र ने विदर्भ राज्य से किया था[३]। कुछ अंश तक यह स्वाभाविक था और केंद्रीय सरकार को इसमें आपत्ति भी न होती थी, कारण इनका उद्देश्य साम्राज्य का विस्तार ही था। प्रांतों की अलग सेना भी रहती थी और बहुधा अन्य प्रांतों में विद्रोहादि होने पर केंद्रीय सरकार इन्हें उक्त स्थानों पर जाने की आज्ञा देती थी। यथा उत्तरी राजस्थान में यौधेयों के विद्रोह का दमन करने के लिए कुषाण सम्राट् ने अपने दक्षिण प्रांत के महाक्षत्रप रुद्रदामन् को भेजा था, और गुजरात के विद्रोह का अकेले दमन करने में असमर्थ होकर राष्ट्रकूट सम्राट् प्रथम अमोघवर्ष ने बनवासी के शासक बंकेय को बुलाया था।

प्रांत की अंतर्व्यवस्था और शासनव्यवस्था में प्रांतीय शासक का कितना हाथ था, इसका हमें ठीक ज्ञान नहीं। अवश्य ही केंद्रीय शासन के निर्देशानुसार वे इसका निरीक्षण और नियन्त्रण करते रहे होंगे। प्रादेशिक शासक (डिविजनल कमिश्नर) इन्हीं के अधीन काम करते रहे होंगे। परंतु गुप्त शासन में प्रादेशिक अधिकारी सीधे सम्राट् से संबंध रखते थे। यथा, पुण्ड्रवर्धन भुक्ति के शासक की नियुक्ति स्वयं प्रथम कुमारगुप्त ने की थी और वह सीधे उनके आदेशानुसार कार्य करता था[४]। परंतु यह निश्चित नहीं है कि सम्राट् और उसके बीच में कोई प्रांतीय शासक था या नहीं, अर्थात् पुण्ड्रवर्धन भुक्ति किसी प्रांत का अंग थी या सीधे केंद्रीय शासन से संबद्ध थी।

शांतिरक्षा और शासनव्यवस्था के साथ साथ प्रांतीय शासक का प्रमुख कार्य सिंचाई के लिए बाँध और नहर तथा अन्य सार्वजनिक हित के काम (Public works) करके प्रांत की समृद्धि बढ़ाना और सुशासन द्वारा

१ मालविकाग्निमित्र, पंचम अंक।
२ सी इ इ, ४ पृ ११० और ३८०।
३ मालविकाग्निमित्र, प्रथम अंक।
४ एपि. इंडि. १५ पृ. १३०, १३३।

जनता में राजनिष्ठा उत्पन्न करके साम्राज्य का आधार सुदृढ़ करना भी था। पिछले अध्याय में केंद्रीय शासन या सरकार के जिन विविध विभागों का उल्लेख किया गया है वे सब प्रांतीय सरकार या शासन में भी अवश्य विद्यमान रहे होंगे।

भूमिकर तथा अन्य राज्यकर पहले प्रांतीय राजधानी में एकत्र किये जाते होंगे और प्रांतीय शासन का खर्च बाद करने के पश्चात् शेष केंद्रीय सरकार को भेज दिया जाता था।

प्रादेशिक सरकार

प्रांत के बाद का प्रादेशिक विभाग आज कल की कमिश्नरी के बराबर होता था जिसमें दो तीन जिले शामिल रहते थे। गुप्त शासनमें इसे भुक्ति, प्रतीहार काल में राष्ट्र और चोल तथा चालुक्य शासन में मंडल कहा जाता था। कभी कभी इसके लिए देश शब्द का भी प्रयोग किया जाता था। लाखों आदमियों पर शासन करनेवाले मौर्य्य शासन के रज्जुक अवश्य ही आधुनिक कमिश्नरों के समकक्ष थे, पर उनके द्वारा शासित प्रदेश का नाम विदित नहीं है।

अशोक की नीति विकेंद्रीकरण की थी और उनके शासन में रज्जुकों को व्यापक अधिकार दिये गये थे। साम्राज्य की साधारणनीति के अनुसार उन्हें दीवानी, फौजदारी और माल आदि विभागों में पूरे अधिकार प्राप्त थे। वे आवश्यकतानुसार पुरस्कार और दंड दे सकते थे[1]। पर राष्ट्रकूट राज्य में प्रादेशिक शासक के अधिकार सीमित हो गये थे, प्रथम अमोघवर्ष के कृपापात्र बंकेय को भी एक जैन देवालय को एक गांव प्रदान करने के लिए सम्राट् की अनुमति की आवश्यकता पड़ी थी[2]। प्रतीहार काल में भुक्ति के अधिकारियों के अधिकारों का ज्ञान प्राप्त करने के साधन हमारे पास नहीं।

प्रादेशिक शासक का अपने मातहत कर्मचारियों पर पूरा नियन्त्रण था। राजद्रोह या अराजकता करने पर इन्हें वह तुरंत कैद करता था और योग्य दंड दिलाने के लिए राजधानी को भेजता था। जिले के कर्मचारियों के पास छोटी सैनिक टुकड़ियाँ भी रहती थीं अतः इनके विरुद्ध कारवाई करने का अर्थ छोटा मोटा सैनिक अभियान करना ही था। इसीलिए मातहत कर्मचारियों तथा उक्त प्रदेश के सामंतों के नियंत्रण के लिए प्रादेशिक शासक को पर्याप्त

१ स्तम्भ लेख स ४।

२ राष्ट्रकूटों का इतिहास पृ १२७।

सैन्य पर भी रखना पड़ता था[१]। युद्ध या बड़े अभियान के समय इसका अधिकांश भाग केंद्रीय सरकार की सहायता के लिए भेज दिया जाता था।

प्रादेशिक शासक या रज्जुक ही माल विभाग के भी अध्यक्ष होते थे। दानपत्रों में जिन अधिकारियों से दान की रक्षा का अनुरोध किया जाता था उनमें इसका भी नाम रहता था। मौर्य शासन में इन्हें जो रज्जुक नाम दिया गया था, इससे भी इनका भूमि की पैमाइश या नाप जोख से संबंध प्रकट होता है। गाँवों की पैमाइश और भूमिकर का निर्धारण या नहर आदि के सूख जाने पर अन्य कारणों से उसके संशोधन का कार्य इन्हीं के पर्यवेक्षण में होता था।

सम्राट् अशोक ने अपने रज्जुकों को दंड-समता के लिए जो आदेश दिया था[२] उससे विदित होता है कि इन्हें वायदान का भी अधिकार था। संभवतः अपने प्रदेश के ये सर्वोच्च न्यायाधिकारी होते थे।

विभिन्न काल और शासन में विषयपति के मातहत कर्मचारियों की नियुक्ति के अधिकार भी कम या अधिक होते थे। मौर्य काल में अधिकार अधिक थे। गुप्त शासन में इन्हें कभी कभी जिले के कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार रहता था[३] पर कभी कभी यह कार्य स्वयं सम्राट् भी करते पाये जाते हैं। राष्ट्रकूट राज्य में तो जिले के कर्मचारी ही नहीं तहसीलदार तक की नियुक्ति भी सम्राट ही करते थे[४]।

हम देख चुके हैं कि ऐतिहासिक युग में केंद्रीय सरकार की राजधानी में कोई केंद्रीय समिति या लोकसभा न होती थी। आगे १९ वें अध्याय में दिखाया जायगा कि प्राचीन युग में ग्राम पंचायतें बराबर कार्य करती रहीं और इन्हें काफी अधिकार भी प्राप्त थे। यह कहना बड़ा कठिन है कि भुक्तियों या कमिश्नरियों के केंद्र में भी इस प्रकार की पंचायतें थीं या नहीं। ग्राम पंचायत के सदस्यों की पदवी महत्तर थी। दानपत्रों में उल्लिखित अधिकारियों में 'राष्ट्रमहत्तर' का भी नाम है[५], कभी कभी इनके अधिकारियों का भी उल्लेख किया गया है[६]।

---

१ राष्ट्रकूटों का इतिहास पृ १७४–५।

२ स्तम लेख सं ४। ३ एपि इंडि १५ पृ १३०।

४ राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ १७६।

५ एपि इंडि २० पृ १३६ (खानदेश में राष्ट्रकूटों के शासन में)

६ „ „ १९ पृ १३० (मालवा में कलचुरि शासन में)

फिर भी निश्चय नहीं कि भुक्तिपति या राष्ट्रपति को परामर्श या सहायता देने के लिए राष्ट्रमहत्तरों की कोई नियमित परिषद होती थी या नहीं। इनका उल्लेख केवल दो दानपत्रों में मिलता है अतः इनके बल पर कोई धारणा नहीं कायम की जा सकती। संभव है कि राष्ट्रमहत्तर किसी लोक सभा के सदस्य न होकर प्रदेश के प्रमुख नागरिक ही रहे हों। पर बिना अधिक प्रमाण मिले इस संबंध में कोई निश्चय नहीं किया जा सकता।

जिले का शासन

प्राचीन काल के विषय साधारणतः आजकल के जिलों के बराबर होते थे, इनमें एक हजार से दो हजार ग्राम तक रहते थे। इसवी सन् की प्रारंभिक सदियों में काठियावाड़ में इसे आहरणी[1] तथा मध्यप्रांत, आंध्र और तामिल देश में राष्ट्र कहते थे। विषय का शासक मौर्य काल में विषयपति या विषयाध्यक्ष कहा जाता था, इसका उल्लेख अशोक के लेखों में रज्जुक के बाद ही हुआ है और उसकी भाँति इसे भी दौरे पर जाने को कहा गया है। स्मृतियों में उल्लिखित सहस्राधिपः[2] अर्थात् सहस्र ग्रामों का शासक भी सम्भवतः यही अधिकारी है। तामिल देश का नाडू जिले से कुछ छोटा होता था पर इसके शासक का पद और अधिकार सम्भवतः विषयपति के ही बराबर थे।

आधुनिक कलेक्टर की भाँति विषयपति का काम जिले में शांति सुव्यवस्था रखना और मालगुजारी तथा अन्य करों की वसूली कराना था। इनके मातहत बहुत से कर्मचारी रहते थे। बहुसंख्यक दानपत्रों में जिन युक्त आयुक्त, नियुक्त और व्यापृत[3] नामधारी कर्मचारियों से दान में बाधा न डालने का अनुरोध किया गया है, वे सब सम्भवतः मालविभाग के ही मातहत कर्मचारी थे। मौर्य काल में इनमें से कुछ गोप[4] और गुप्त युग के बाद के गुजरात में ध्रुव नाम से संबोधित किये जाते थे[5]।

शांति और सुव्यवस्था स्थापनार्थ विषयपति के अधीन छोटा सैन्य दल भी रहता था। दण्डनायक, जिनका नाम लेखों और मुद्राओं में बहुत आया है,

---

१ एपि इण्डि १६ पृ १८, २६ पृ २६१, इण्डि ऐंटि. ५ पृ १५५।
२ मनु ७ ११९ विष्णु ३, ७-१०।
३ का इ इ ३ पृ १६२, इण्डि ऐंटि ११ पृ १५।
४ अर्थशास्त्र, भाग २, अध्याय २६।
५ एपि इ ६, ३ पृ १०५।

संभवतः जिलों में स्थित इन टुकड़ियों के नायक होते थे। दण्डपाशिक और चौरोद्धरणिक आदि पुलिस अधिकारी भी संभवतः विषयपतियों के अधीन काम करते थे। वाणिज्य, उद्योग, जंगल आदि अन्य विभागों के जिले के कर्मचारी विषयपति के अनुशासन में थे या नहीं इसका पता नहीं। विषयपतियों को न्याय का अधिकार था या नहीं यह भी विदित नहीं। संभव है कि ये जिले की अदालतों के अध्यक्ष रहे हों।

कम से कम गुप्त काल में तो अवश्य ही जिलों के शासन में जनता का काफी हाथ रहता था। प्रथम (मुख्य) महाजन, प्रथम व्यवसायी, प्रथम शिल्पकार और प्रथम कायस्थ या लेखक उस परिषद् के प्रमुख सदस्य थे जो ५ वीं सदी ई॰ में बंगाल के 'कोटिवर्ष' के विषयपति को शासनकार्य में सहायता देती थी। परंतु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि जिले के शासन में धनपतियों की ही प्रधानता रहती थी। ये तो केवल परिषद्के प्रमुख सदस्य थे, इनके अतिरिक्त और भी बहुत से सदस्य इसमें थे। फरीदपुर ताम्रपत्र[1] से विदित होता है कि परिषद् में २० सदस्य थे इनमें से कुछ कुलस्वामी और शुभदेव जैसे ब्राह्मण थे और कुछ घोषचन्द्र और गुणचंद्र आदि क्षत्रिय वैश्य आदि अन्य जातियों के थे। यह परिषद् केवल जिले के केंद्र के ही शासन में योग देती थी अथवा जिले के अंतर्गत सभी इलाकों के शासन में इसका ठीक पता नहीं। संभवतः पूरा जिला इसके कार्य क्षेत्र में था।

दुर्भाग्य वश हमें यह विदित नहीं कि जिले की परिषद् के सदस्यों का चुनाव या नियुक्ति किस प्रकार होती थी। व्यापारी, महाजन या लेखक वर्ग के सदस्य तो जैसा उनके नाम प्रथम श्रेष्ठिन्, प्रथम कायस्थ आदि से विदित है उनके व्यवसाय संघ या निगम के अध्यक्ष ही होते थे। शेष सदस्य भी अवश्य ही अपने अपने वर्गों या पेशों के प्रमुख वयोवृद्ध, उदात्तचरित और लोकप्रिय व्यक्ति होते रहे होंगे, जिनका जिलासभा में अन्तर्भाव करना उचित समझती थी। संभवतः इस परिषद् में नगरवालों का ही प्राधान्य रहता था यद्यपि दो चार सदस्य देहाती क्षेत्रों के भी रहते होंगे।

गुप्तकाल के पूर्व या बाद के लेखों से जिला पंचायत का विशेष विवरण नहीं मिलता। पर आंध्रदेश के ६ ठी शताब्दी के विष्णुकुण्डी लेख[2] और ९ वीं सदी के एक गुजरात के राष्ट्रकूट लेख में[3] विषयमहत्तर या जिला पंचायत के

---

१ इं ऐं १९१२ पृ १९५ से।
२ ज बि उ रि सो, भाग ६, पृ १७। ३ एपि इं, ३ पृ ५२।

सदस्यों का उल्लेख किया गया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि गुप्तकालीन कोटिवर्ष विषय परिषद् की भांति बाद में भी जिला पंचायतें कार्य कर रहीं थीं।

गुप्त कालमें जिले का शासन बड़ा सुसंघटित था। पुस्तपाल की अध्यक्षता में इसके लेख-पत्र कार्यालय में सुरक्षित रहते थे, इनमें जिलेकी सब भूमि-खेत, परती और ऊसर तथा मकान की जमीन का पूरा और ठीक विवरण दर्ज रहता था। ऊसर भूमिके, जिसका स्वामी राज्य होता था, क्रय विक्रय में भी जिला पंचायत की सहमति जरूरी थी। कुछ भूमिदानपत्रों पर जिलेके शासन की मुद्राएं भी अंकित पायी गयी हैं[१]। नालदा में प्राप्त राजगृह और गया विषयों की मुद्राओं से ज्ञात होता है कि जिले से बाहर के व्यक्तियों से जो पत्र व्यवहार होता था, उसपर जिलेकी सरकारी मुहर लगती थी[२]। सब काम नियमित ढंग पर किया जाता था। यहां तक कि धार्मिक कार्य में दान देने के लिए भूमि खरीदने की आवश्यकता पड़ने पर स्वयं विषयपति को भी जिला पंचायत के सामने उपस्थित होकर उसकी अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी[३]।

तहसील शासन

जिला या विषय और ग्राम के बीच में भी कुछ शासन विभाग रहते थे जिनका स्वरूप और आकार समय के अनुसार बदलता रहता था। मनुका[४] मत है कि शासनसुविधा के लिए १० गांवों का एक वृन्द या गुट (छोटा शासन विभाग) होना चाहिये और ऐसे १० वृन्दों या १०० ग्रामों का एक महल, जो आजकल के तहसील या तालुके के बराबर होता है। जिले में १ हजार गांव अर्थात् १० तहसीलें होनी चाहिये। महाभारत ग्रामों के समूहीकरण की इस दाशमिक प्रणाली को बदलकर २० और ३० ग्रामों का समूह बनाता है[५]। उत्कीर्ण लेखों से भी ज्ञात होता है कि कुछ प्रांतोंमें इसी प्रकार की प्रणाली का अनुकरण किया जाता था। आठवीं और नौवीं सदी में हैदराबाद रियासत में पैठाण जिलेमें बन्धुभाल और रहद १० ग्रामों के, गुजरात में कपटवाणिज्य

१ ए इं १६१० पृ. १९५, ६ २०८।
२ भ स रि, १९१३–१४।
३ एपि इंडि २१ पृ ५३।
४ ७, ११५, विष्णु ३।
५ १२–८७, ३ से।

और करपदक विषयों में सिद्दरि और सारकच्छ १२ ग्रामों के, और कर्नाटक में पुरिगेरि विषय में बेळवोल ३० ग्रामों के समूह शासन-केन्द्र थे[1]। ५ वीं शताब्दी में वाकाटक राज्य में प्रवरेश्वर षष्ठक २६ ग्रामों का समूह था[2]। ११ वीं और १२ वीं शताब्दी में राजपूताना, गुजरात और बुंदेलखंड में क्रमशः तनुकूप षड्द्वादशिका और रत्नपण्ड १२ ग्रामों के समूह थे[3]। इसी कालमें मालवा में न्यायपद्रक समूह में १७, मरफाका समूह में ४२ और मरदेटक समूहमें ६३[4] ग्राम थे। ८४ और १२६ ग्रामों के समूहों के भी उल्लेख प्राप्त हैं[5]। इनका नामकरण प्रायः उसी क्षेत्र में स्थित किसी प्रमुख कस्बे के नाम पर होता था। इनको जिला विभाग कहना उचित होगा।

उपरि निर्दिष्ट प्रकार के कई ग्राम समूहों को मिलाकर आधुनिक तहसील या तालुका के बराबर का शासनघटक बनता था जिसे विभिन्न प्रान्तों में पाठक, पेट, स्थली भुक्ति आदि विविध नामों से सम्बोधित किया जाता था। २०० ग्रामों के खर्वटिक और ४०० ग्रामों के द्रोणमुख[6] भी विषय के ही उप विभाग थे, जो आधुनिक तहसीलों के करीब करीब बराबर होते थे। केंद्रीय सरकार की ओर से इनके शासन के लिए आधुनिक तहसीलदार या मामलतदार जैसा कोई अधिकारी नियुक्त किया जाता था। अपनी हदमें उसके अधिकार भी विषय पति के ही समान होते थे।

केंद्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये तहसीलदार आनुवंशिक करग्राहकों (मालगुजारों) की सहायता से कार्य करते थे। कमसे कम दक्षिण में तो ऐसी ही स्थिति थी। ये कर्नाटक में नाडगावुण्ड और महाराष्ट्र में देशग्रामकूट कहे जाते थे। मराठा युग के देशपांडे, सरदेशपाडे और देशमुख इन्हीं की परंपरा में थे। उत्तर भारत में इस प्रकार के आनुवंशिक कर्मचारी होते थे या नहीं, यह ज्ञात नहीं।

---

१ राष्ट्रकूटों का इतिहास पृ १२८।

२ एपि इण्डि २४ पृ २६४।

३ वही १ पृ १०१। इण्डि एंटि ६ पृ १९१ ४; एपि ४ पृ १५०।

४ एपि इ, १८ प २२२ वही, ९ पृ १८।

५ वही १ पृ ३१७, इण्डि ऐ० १६ पृ २५०।

६ अर्थ शास्त्र, २, अध्याय १।

७ राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ० १०८–८०।

इन ग्रामसमूहों के अधिकारियों के साथ लोकप्रिय संस्थाएं या पचायतें रहती थीं या नहीं इसका अभी विचार करना है। यह दिखाया जा चुका है कि जिले में इस प्रकार की संस्थाएं होती थीं, और अगले अध्याय में यह भी दिखाया जायगा कि ऐसी संस्थाएं ग्राम शासन व्यवस्था की महत्वपूर्ण अंग थीं। इसलिए यह असंभव नहीं कि ताल्लुको आदि छोटे शासन विभागों में भी इस प्रकार की संस्थाएं रही हों। किंतु चोल काल में केवल तामिल देश में इस संस्था के अस्तित्व के निश्चित प्रमाण उपलब्ध हैं। इनके संघटन की प्रणाली पूरी तरह विदित नहीं है, फिर भी (Leyden) 'लेडेन' के दानपत्र से ऐसा अनुमान होता है कि नाडु के अंतर्गत रहने वाले ग्रामों के प्रतिनिधि इस संस्था में उपस्थित रहते थे। नाडु पचायतें मालगुजारी के बंदोबस्त, और भूमि के वर्गीकरण में सक्रिय भाग लेती थीं। दानपत्रोंमें शासक गण इन संस्थाओं से अनुरोध करते थे कि वे भविष्य में उनके भूमि या ग्रामदान में हस्ताक्षेप न करें[1]। अकालादि के अवसरों पर नाडु पचायतें लगान में छूट प्राप्त करने की भी व्यवस्था करती थीं[2]।

ग्राम पचायतों की भांति नाडु पचायतें अपनी ओर से दान भी देती थीं और जनता द्वारा प्रदत्त सपत्ति अथवा निधि की व्यवस्था भी करती थीं। ऐसे भी बहुत से उदाहरण मिले हैं जब संयोगवश किसी के द्वारा किसी की मृत्यु हो जाने पर नाडु पचायतों ने निर्णय किया है कि उक्त घटना हत्या नहीं दुर्घटना है, और अभियुक्त को प्रायश्चित्त स्वरूप स्थानीय देवालय में नदादीप जलाने की व्यवस्था करने का आदेश दिया[3]।

शासन का अंतिम और सबसे महत्व पूर्ण सोपान ग्राम था। इस विषय पर अगले अध्याय में विचार किया जायगा। पुर या नगर की शासनव्यवस्था पर विचार करके प्रस्तुत अध्याय पूरा किया जायगा।

पुर-शासन

आधुनिक काल के बंबई ऐसे महानगरों की शासन-व्यवस्था और प्रांतों के छोटे-मोटे नगरों की व्यवस्था में महान् अंतर रहता है। यद्यपि बंबई कारपोरेशन और किसी छोटे शहर के म्युनिसिपल संघटन में कुछ समान सिद्धांत भी अवश्य

---

१ सौ इ ए रि, संख्या २२६।

२ ,, सन १९१६ स ५५६।

३ ,, सन १९२१ सं २१७ और सन १९१२, स ४११।

फिर भी पहिली संस्था का कार्यक्षेत्र दूसरी से कहीं अधिक विस्तृत है और उसके लिए अधिक उपसमितियों की भी आवश्यकता पड़ती है। प्राचीन भारत में भी ऐसी ही स्थिति थी।

वैदिक काल के नगरों और उनकी व्यवस्था के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। वैदिक सभ्यता मुख्यतः ग्रामीण थी और पुर या नगर का उसमें कोई अधिक महत्व नहीं था। परवर्ती संहिता और ब्राह्मण-ग्रंथों के काल के भी नगरों के बारे में बहुत ही कम ज्ञात है।

पर ऐतिहासिक काल में अलेक्जेंडर सिकंदर के आक्रमण के समय पंजाब नगरों और पुरों से परिपूर्ण दिखायी देता है। इनमें से अधिकांश शासन में स्वायत्त थे और अपनी नगर परिषदों द्वारा अपना शासन प्रबंध करते थे। इन परिषदों के संघटन का वर्णन नहीं प्राप्त होता है, संभवतः नगरों के वयोवृद्ध और प्रतिष्ठित नेताओं का एक प्रकार के सर्व सम्मति से उसमें अन्तर्भाव हो जाता था।

गुप्तकाल से साधारण नगर और पुरों की शासन व्यवस्था का विस्तृत विवरण उपलब्ध होने लगता है। केंद्रीय सरकार द्वारा नियुक्त पुरपाल पुर शासन का प्रधान होता था। यदि पुर जिले का केंद्र हुआ तो वही जिलेके शासक का भी कार्य करता था। यदि पुर दुर्ग हुआ तो इसमें कोट्टपाल नामक केंद्रीय सरकार का एक और अधिकारी रहता था, जिसके मातहत कई नायक रहते थे[1]। प्रायः पुरपाल स्वयं ही सेनानायक होते थे, जैसे मंत्री और जिलेके शासक हुआ करते थे। यथा, कर्नाटक के सक्कुर नामक कस्बे का पुरपाल कदैया राष्ट्रकूट सम्राट् तृतीय कृष्ण के अंगरक्षकों में से था[2]। जगदेकमल्ल के शासनकाल में बादामी के संयुक्त पुरपाल महादेव और पातालदेव दोनों ही दंडनायक थे। कभी कभी ऐसे विद्वानों की श्रेणी में से भी जो षड्दर्शन ऐसे कठिन विषयों में भी दिलचस्पी रखते थे पुरपाल चुने जाते थे[3]। संभव है कि ये उन दुर्लभ व्यक्तियों की कोटि के रहे हों जिनमें शस्त्र और शास्त्र दोनों का संगम होता है।

पुरपाल को शासन कार्य में मदद देने के लिए गोष्ठी पंचकुल या चौरद्दि[4]

---

१ सन ८७५ ई में ग्वालियर में यही स्थिति थी, एपि इं १ पृ १५४।
२ इंडि एँटि. १२ पृ २५८।
३ वही, १९ पृ १५।
४ एपि इं. ४ पृ ६०

आदि विभिन्न नामों से निर्दिष्ट एक गैरसरकारी समिति भी रहती थी। इसमें सभी श्रेणी और वृत्तियों के प्रतिनिधि रहते थे। कभी कभी पुर विभिन्न हल्कों में बाँट दिया जाता था और हल्के या वार्ड से इसमें प्रतिनिधि भेजे जाते थे। यथा राजपूताने के घत्तोप नगर में आठ 'वाटा' (आधुनिक वार्ड) थे, और प्रत्येक से दो प्रतिनिधि लिये जाते थे[1]। प्रतिनिधियों के चुनाव की प्रणाली विदित नहीं। सम्भवतः लोकप्रतिष्ठित व्यक्ति इनमें लिये जाते थे।

पंचकुल में पाँच ही नहीं अधिक सदस्य भी रहते थे जो नगर के विभिन्न 'वाटों' का प्रतिनिधित्व करते थे। इस संस्था की कार्यकारिणी समिति भी होती थी, जिसके सदस्य प्रतीहार कालीन राजपूताना और मध्यभारत में 'वार' नाम से सम्बोधित किये जाते थे[2]। यों तो यह नाम विचित्र सा जान पड़ता है, पर यह इस बात का सूचक है कि कार्यकारिणी समिति के सदस्य बारी बारी से बदला करते थे। गुजरात में भीनमाल से प्राप्त ११ वीं सदी के एक लेख में वर्तमान वर्ष के "वारिक" का उल्लेख है[3]। इससे प्रतीत होता है कि उस पुर में प्रतिवर्ष कार्यकारिणी समिति का चुनाव होता था। राजपूताना के सियदोनि पुरी में जो व्यक्ति सन ९६७ ई० में 'वारिक' थे वही सन् ९६९ में भी थे[4]। इससे प्रतीत होता है कि कार्यकारिणी की कार्य अवधि यहां अधिक थी।

वारिकों की संख्या प्रत्येक नगर में भिन्न भिन्न रहा करती थी। सियदोनि में दो वारिक थे और ग्वालियर में तीन। इनका काम करों की वसूली, सार्वजनिक धन का लेन देन, धर्मार्थ निधियों और सार्वजनिक कार्यों की व्यवस्था आदि नगर जीवन संबंधी सभी विषयों का प्रबंध करना था।

'वारिकों' का कार्यालय रहता था, और उनको मदद देने के लिए स्थायी वेतनधारी कर्मचारी रहते थे। कार्यालय राजपूताना में 'स्थान' कहा जाता था और यहां महत्त्व के सब लेख पत्र सुरक्षित रहते थे[5]। यथा जब पेहोवा नगरी के अश्वव्यवसायियों ने एक धर्म कार्य के लिए स्वेच्छा से चंदा देने का निश्चय किया, तो इस निश्चय की एक प्रति नगर के 'स्थान' में रख दी गयी ताकि

---

१ वही।

२ एप इंडि, १ पृ १६७; १७३–१७९

३ वर्तमानसंवत्सरवारिकजाग चन्द्र बॉ गॅ १ पृ ४१।

४ एपि इं १ पृ १७३–७९।

५ लिखितस्थानानुमतेन वाणिज्यकारिया। एपि इं १–१८३–८९।

भविष्य में इसी के अनुसार चन्दा एकत्र किया जाय। नगर समिति के लेख पत्रों की देखरेख और पत्रव्यवहार के लिए 'करणिक' नामक एक स्थायी कर्मचारी होता था। समिति के निर्देशानुसार यही महत्त्व के पत्रादि लिखता था। इसके मातहत अनेक कारकुन रहे होंगे। 'शौल्किक' नामक कर्मचारी बाजार से कर उगाहता था, जो पुर समिति की आय का मुख्य भाग होता था। कभी कभी केंद्रीय सरकार का कर भी उसकी ओरसे समिति उगाह देती थी, यथा गुजरात में 'वाहुलोदा' पुरी का यात्रा कर जिसकी रकम लाखों तक पहुंचती थी, केंद्रीय सरकार की ओरसे नगर समिति ही उगाहा करती थी[1]।

अभी तक जो उदाहरण दिये गये हैं वे सब गुजरात और राजपूताना के ही पुरों के हैं, इससे यह न समझ लेना चाहिये कि अन्यत्र इस प्रकार की व्यवस्था थी ही नहीं। २ री शताब्दी ई० में महाराष्ट्र में नासिक की भी 'निगमसभा' (नगर सभा) थी, भूमि के क्रयविक्रय संबंधी सब व्यवहार और लेख पत्र इसके कार्यालय में दर्ज किये जाते थे[2]। जिलेके शासन संबंधी प्रकरण में बंगाल के कोटिवर्ष की समिति का उल्लेख किया जा चुका है। कोंकण के गुम्पुर में पुरपाल की सहायता के लिए एक समिति थी जिसमें १ ब्राह्मण १ व्यापारी और २ महाजन सदस्य थे[3]। राष्ट्रकूट और चालुक्य शासन कालमें कर्नाटक की ऐहोल पुरी में बराबर एक समिति वर्तमान रही। इसी प्रांत में मुलगुंद पुरी ५ वार्डों में विभाजित थी, राजपूताने की अशोप पुरी की भांति यह विभाजन भी संभवतः समिति के प्रतिनिधि चुनने के हेतु था, यद्यपि इस विषय का शिलालेख अपूर्ण होने के कारण हम निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कह सकते। अस्तु, प्राचीन भारतकी शासन-व्यवस्था में नगर समितियों का भी निश्चित और महत्त्वपूर्ण स्थान था।

३ री और ४ थी शताब्दी ई० पू० के पाटलिपुत्र नगर की व्यवस्था का वर्णन करके यह अध्याय समाप्त किया जायगा। साम्राज्य की राजधानी होने और देश विदेश के व्यक्तियों से परिपूर्ण रहने के कारण इसकी व्यवस्था साधारण से कुछ भिन्न थी, पर इसका सामान्य स्वरूप वही था जो साधारण नगर समितियों का था। पाटलिपुत्र नगर समिति में ३० सदस्य थे, और वह ६ ६

---

१ प्रबंध चिंतामणि पृ ८४।

२ एपि इं ७ नासिक शिलालेख।

३ एपि इंडि, ३, पृ २६०

सदस्यों को ५ उपसमितियों में विभाजित थी। इनमें से एक उपसमिति जो विदेशियों की देखरेख और उनकी गतिविधि पर दृष्टि रखती थी, अन्य बड़े नगरों और पत्तनों (बंदरगाहों) में भी, जहां विदेशी अधिक संख्या में रहते थे, रही होगी। दूसरी समिति का उल्लेख, जो जन्म और मरण का ठीक ठीक विवरण रखती थी, स्मृतियों या उत्कीर्ण लेखों में कहीं भी नहीं पाया जाता है। संभवत यह मौर्य शासन की ही मौलिक योजना थी, जो बादमें लोकप्रिय न हो सकी। वस्तुओं के उत्पादन की देखरेख करनेवाली तीसरी उपसमिति केवल औद्योगिक नगरियों और पुरियों में ही रही होगी। चौथी और पांचवी उपसमितियां उचित मजदूरी तै करती, बाजारों का निरीक्षण करती, शुद्ध और बिना मिलावट के वस्तुओं के ही विक्रय की व्यवस्था करती तथा व्यापारियों से कर आदि वसूल करती थीं। ये कार्य तो प्राचीन काल की अधिकांश पुर और ग्राम समितियां करती रहीं। सार्वजनिक निर्माण समिति[1] का, जिसे तामिल देशमें उद्यान या सरोवर समिति कहा जाता था, यहां उल्लेख नहीं किया गया है। इसका कारण संभवत यह था कि साम्राज्य की राजधानी होने के कारण पाटलिपुत्र में इस विषय की व्यवस्था केंद्रीय राजकीय अधिकारी ही करते थे। उपर्युक्त उप समितियों में से किसी के द्वारा धर्मार्थ निधियों की व्यवस्था का उल्लेख भी नहीं मिलता, जो कार्य बादमें सभी पुर और ग्राम समितियां करती थीं। जैसा कि अर्थशास्त्र में कहा गया है संभवत इस कार्यके लिए अलग ही कोई गैर सरकारी संस्था थी। यूनानी लेखक यह भी नहीं बताते कि पाटलिपुत्र की नगर-समिति और उपसमितियों का संघटन कैसा था, वे सरकारी थी या गैरसरकारी, निर्वाचित या नियोजित। साम्राज्य की राजधानी होने के कारण संभव है कि पाटलिपुत्र नगरी की विभिन्न समितियों में अर्थशास्त्र में वर्णित, पण्य, शुल्क, नाप तोल आदि करने के अध्यक्ष आदि अनेक राज कर्मचारी भी रहे हों। परन्तु इस विषयमें कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। गांवों और जिले के पुरों की समितियों में अधिकांश गैरसरकारी सदस्य रहते थे, यह पहले ही बताया जा चुका है।

---

[1] Public work committee

ग्यारहवाँ अध्याय

ग्राम-शासन पद्धति

अति प्राचीन काल से ही भारत के ग्राम, शासन-व्यवस्था की धुरी रहे हैं। इनका महत्व ऐसे युग में और भी अधिक था जब यातायात के साधन मन्दगामी थे और कारखानों या यन्त्रों का नाम भी न था। प्राचीन भारत के जीवन में नगरों का स्थान नगण्य था। वैदिक मन्त्रों में ग्रामों की समृद्धि की प्रार्थना बहुत की गयी है, पर नगरों या पुरों का शायद ही कभी नाम लिया गया हो[1]। जातक कथाओं में भी किसी प्रदेश की समृद्धि के वर्णन के प्रसंग में उसके समृद्ध ग्रामों की चर्चा का तो बड़े गर्व से उल्लेख किया जाता है पर नगरों या पुरों का नाम भी नहीं लिया जाता। वैदिक काल के राज्य छोटे होते थे, इससे ग्रामों का महत्व और भी बढ़ गया था। बाद में राज्यों का विस्तार बढ़ने पर भी स्थिति में परिवर्तन न हुआ। कारण-बहुजन समाज प्रायः ग्राम निवासी होने के कारण ग्रामों का ही सर्वोपरि महत्व होना स्वाभाविक है। आधुनिक काल में गवर्नर शासन सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने के लिये कलक्टरों का सम्मेलन बुलाते हैं, प्राचीन काल में इसी कार्य के लिए बिंबिसार जैसे शासक ग्राम के मुखियों को बुलाते थे[2]। इसमें कोई संदेह नहीं कि ग्राम ही देश के महत्वपूर्ण अंग और सामाजिक जीवन के केंद्र थे। राष्ट्र की संस्कृति, समृद्धि और शासन उन्हीं पर निर्भर थे।

ग्राम का मुखिया

ग्राम का शासन ग्राम के मुखिया के ही निरीक्षण और निर्देश में चलता था। वेदों में इसे 'ग्रामणी' कहा गया है और जातक कथाओं में भी बराबर इसका उल्लेख मिलता है। अध्यक्ष शासन-व्यवस्था में इसके महत्वपूर्ण स्थान का साक्षी है और ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के प्रायः सभी उत्कीर्ण लेखों में इसका उल्लेख पाया जाता है। ईस्वी सन की प्रारंभिक सदियों में इसे

---

१ ऋ वे १ ११४—१ । १—७४—१०

उत्तर भारत में[१] 'ग्रामिक' या 'ग्रामेयक' और तैलगदेश[२] में 'मुनुन्द' कहा जाता था और ६०० से १२०० ई के बीच महाराष्ट्र में 'ग्रामकूट' या 'पट्टकील', कर्नाटक में[३] 'गाउुद' और युक्तप्रांत में[४] 'महत्तक' या 'मह्तक' कहा जाता था[५]।

साधारणत एक ग्राम के लिए एक ही मुखिया रहता था[६]। उनका पद आनुवंशिक था, पर सरकार को अधिकार था कि यदि उत्तराधिकारी अयोग्य हो तो उसी वंश के किसी अन्य व्यक्ति को मुखिया बना दे। साधारणत यह ब्राह्मणेतर जाति का ही होता था। वैदिक काल से ही वह ग्रामसेना का नायकत्व करता आया था अतः वह सम्भवतः क्षत्रिय ही होता था, पर कभी कभी वैश्य भी इस पद का आकांक्षी होता था और इसे प्राप्त भी कर लेता था[७]।

मुखिया ही ग्राम शासन में सबसे महत्त्व का पद रखता था। उसके वर्ग के प्रतिनिधि को वैदिक काल के 'रत्नियों' में स्थान मिलता था और जातक कथाओं में तो उसका वर्णन प्राय ग्राम के राजा के अनुरूप ही हुआ है। ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के उत्कीर्ण लेखों में वर्णित ग्राम अधिकारियों में

---

१ एपि. इ., १ पृ १८७, इ एं ४ पृ १५५, कॉ इ इ, ३ पृ २५६
२ एपि इ ९ पृ ४८, इ एं., १८ पृ १५, एपि इ, ३ पृ १५९
३ राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ १८६
४ इ ऐ, १८ पृ. १५, १४ पृ. १०६–७
५ सरकारद्वारा जिन ब्राह्मणों या सेना के कप्तानों को ग्रामकर पाने का अधिकार मिलता था वे कभी कभी ग्रामभोक्तृ या ग्रामपति कहे जाते थे। मगर ग्राम का मुखिया उनसे अलग होता था।
६ कभी कभी एक से अधिक मुखियों का भी उल्लेख मिलता है। कर्नाटक के कुछ ग्रामों में ६ और १२ मुखिया तक होते थे (राष्ट्रकूट इतिहास, पृ १८६–९०)। सम्भवत मुखिया वंश की सभी शाखाओं को संतुष्ट करने के लिए ऐसा किया जाता था, किंतु प्राय हर शाखा को बारी बारी से मुखिया होने का अवसर देकर सब शाखाओं के अधिकारों की रक्षा की जाती थी।
७ हेलि सं २, ५, ७४ से ज्ञात होता है कि महत्त्वाकांक्षी हर वैश्य का लक्ष्य 'ग्रामणी' पद ही होता था।

उसका स्थान सर्वप्रथम है। गहडवाल राजा किसी गाँव में भूमिदान करने के पहले उसके मुखिया से बहुधा राय लेते थे[१]।

मुखिया का सबसे मुख्य कर्तव्य ग्राम की रक्षा करना था, वह ग्राम के स्वयंसेवक दल और पहरेदारों का नायक था[२]। आजकल की अपेक्षा प्राचीन काल में जीवन कहीं अधिक संकटपूर्ण था[३] और यातायात की कठिनाई के कारण डाकुओं के अचानक आक्रमण आदि के समय सरकार से शीघ्र सहायता भी न मिल सकती थी। अतः ग्रामवासियों को अपनी रक्षा स्वयं करनी पड़ती थी[४]। ग्राम की रक्षा में ग्राम के मुखिया और स्वयंसेवक दल के सदस्यों के प्राण तक दे देने के उदाहरण बहुत मिलते हैं[५]।

मुखिया का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य सरकारी करों को उगाहना था। जरूरी लेखपत्र उसी के संरक्षण में रहते थे और ग्राम पंचायत की मदद से वह वसूली का काम करता था। मुखिया ग्राम पंचायत का पदसिद्ध अध्यक्ष भी होता था और ग्राम संबंधी मसलों पर विचार और कारवाई उसी के निर्देश में होती थी। उसे अपने काम के पारिश्रमिक स्वरूप करमुक्त (माफी) जमीन और अनाज आदि के रूप में उगाहे जाने वाले कुछ छोटे मोटे करों की आमदनी मिलती थी।

मुखिया गाँवका सबसे प्रभावशाली व्यक्ति होता था। शुक्रनीति का यह कथन बहुत यथार्थ है कि वह ग्रामवासियों के माता पिता के समान था[६]। सरकार के प्रति उत्तरदायी होते हुए भी वह जनता का ही आदमी था और उनके हित की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहता था। जनता के लिए भी वह उतना ही आवश्यक था जितना राज्य के लिए था।

ग्राम के कार्यालय में राज्य कर की वसूली और भूमि के क्रय विक्रय या

---

१ एपि इं २, पृ ३२१—३२।

२ प्रारम्भिक काल के लिए कुलावक और खरस्सर जातक देखिये, बाद के लिए देखिये—यथा स्वसैन्येन सह ग्रामाध्यक्षादिसैन्यं सर्वाध्यक्षस्य भवति।—सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ ५४ (झा संस्करण)

३ राष्ट्रकूटों का इतिहास पृ १६०—१।

४ अर्थशास्त्र २ अध्याय १

५ सप्तशती ७—२१, एपि इं, भाग ८ सोराब नं ४७६, इं एँ, ७ पृ १०४, सौ इं ए रि, १९१९ नं ४७९ और ७२३

६ २, ३४३।

स्वामित्व संबंधी सब लेख-पत्र रखे जाते थे। सरकार और जिले के अधिकारियों से होनेवाले पत्र व्यवहार और ग्राम पंचायत के निश्चयों की भी प्रतिलिपि रखना जरूरी था। यह सब काम गाँव का मुनीम करता था। उसका पद भी आनुवंशिक था और पारिश्रमिक में उसे भी करमुक्त जमीन मिलती थी। तामिल देश में उसकी नियुक्ति ग्रामपंचायत द्वारा होती थी[1]।

ग्राम के प्रायः सभी सद्गृहस्थ ग्रामसभा की सदस्यता के अधिकारी थे। इस संबंध में उत्तर भारत और प्रारंभिक काल के लिए स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते। फिर भी ऐसा सूचित होता है कि महाराष्ट्र में ग्रामसभा में गाँव के सब गृहस्थ रहते थे[2]। इसमें भी संदेह नहीं कि कर्नाटक में और ६०० ई० से तामिल देश में भी यही व्यवस्था थी। कर्नाटक के बहुत से लेखों से विदित होता है कि ग्रामसभा के सदस्यों की संख्या,—जिनको वहाँ महाजन कहते थे—कभी २०० कभी ४२०, कभी ५०० और कभी १००२ तक होती थी[3]। इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि इनमें गाँव के सब गृहस्थ शामिल थे[4]। तामिल देश में डुग्गी पीट कर सब ग्रामवासी सभा के लिए आमंत्रित किये जाते थे।

अस्तु, ग्राम के सब जिम्मेदार गृहस्थ ग्रामसभा के प्रारंभिक सदस्य होने के अधिकारी थे। यह उल्लेखनीय है कि विभिन्न प्रांतों में ग्राम सभा के सभासदों के लिये प्रयुक्त सब शब्दों का एक ही अर्थ 'गाँव के बड़े आदमी' होता है—यथा, गुजरात प्रांत में महत्तम, महाराष्ट्र में महत्तर, कर्नाटक में महाजन और तामिल देश में पेरुमक्कळ सबका एक ही अर्थ है।

इतनी बड़ी संख्या में होने के कारण ग्राम महाजन ग्राम के प्रबंध के लिए अवश्य ही किसी कार्यकारिणी समिति या परिषद् से काम लेते रहे होंगे। अभी हमें इसके संगठन पर विचार करना है।

लेखों से ज्ञात होता है कि न तो मुखिया और न ग्राम का मुनीम ग्राम प्रबंध में मनमानी कर सकता था। उन दोनों को ग्रामवृद्धों की राय के अनुसार चलना पड़ता था। ये ग्रामवृद्ध प्रारंभिक काल से ही एक प्रकार की

---

१ कभी कभी पंचायत प्रतिवर्ष उसी मुनीम की पुनर्नियुक्ति कर देती थी, सौ इ ए रि १९१९, सं ३२

२ एपि इं, १४ पृ १५०।

३ इंडि ऐंटि ४ पृ २७४, एपि इं ४ पृ १७७, १२ पृ २२-८

४ आल्तेकर, राष्ट्रकूटों का इतिहास पृ १८८-२०१।

गैर सरकारी समिति के रूप में कार्य करते थे। यह दिखाया जा चुका है कि वैदिक युग की सभा ग्राम पंचायत या परिषद के साथ साथ सामाजिक गोष्ठी का भी कार्य करती थी। इसमें बैठकर सदस्य गण सामाजिक चर्चा भी करते, खेल आदि खेलते तथा साथ ही ग्राम प्रबंध संबंधी कार्य भी निपटाते थे[१]। जातकों से ज्ञात होता है कि ग्राम व्यवस्था ग्रामवाले स्वयं ही करते थे[२]। इनमें इस कार्य के लिए किसी स्थायी समिति या संस्था के होने का कोई उल्लेख नहीं है। काम करने का भार मुखिया पर ही था, पर यदि उसका कोई कार्य रीति विरुद्ध होता था तो ग्राम वृद्ध उसकी गलती बताकर भूल सुधार देते थे[३]। मौर्य युग में ग्राम संस्था सार्वजनिक प्रमोदजनक और उपयोगी कार्यों की व्यवस्था करती थी, गाँववालों का आपस का झगड़ा ते किया करती थी और नाबालिगों की संपत्ति का संरक्षण करती थी[४]। परन्तु इस काल में किसी कार्यकारी परिषद् का विकास न हो पाया था क्योंकि अर्थशास्त्र विश्वस्त (trustee) रूप से कार्य करनेवालों में ग्राम वृद्धों का उल्लेख करता है, किसी समिति[५] या उपसमिति का नहीं।

गुप्त काल में कम से कम कुछ प्रांतों में तो ग्राम समितियों का विकास हो चुका था। मध्य भारत में इन्हें 'पंचमण्डली' और बिहार में 'ग्राम-जानपद' कहते थे। नालंदा में विभिन्न ग्राम जानपदों की अनेक मुद्राएँ मिली हैं जिनसे ज्ञात होता है कि ग्राम जानपदों द्वारा नालंदा के अधिकारियों को जो पत्रादि भेजे जाते थे उन सब पर उनकी मुहर रहती थी[६]। यह निश्चितप्राय है कि बिहार में ग्राम जानपद नियमित संस्थाओं का रूप धारण कर चुकी थीं जिनकी नियमित बैठकें हुआ करती थीं और जिनके निर्णय या व्यवस्था मुहर लगाकर बाहरियों को प्रेषित किये जाते थे।

---

१ देखो पीछे अध्याय ७, पृ १०४

२ कुणाल जातक

३ पानीय जातक। यहाँ मुखिया मदिरा बेचने और जानवरों के काटे जाने की निषेधाज्ञा वापस लेता है, जब गाँववाले यह समझाते हैं कि ये गाँव की पुरानी प्रथाएँ थीं।

४ अर्थशास्त्र ३, अध्याय १०।

५ प्रयोजकासविधने ग्रामवृद्धेषु स्थापयित्वा, ३, अध्याय १२।

[illegible] ६६, पृ ४२ से आगे।

पल्लव[1] और वाकाटक[2] राज्य में (३२०–५५० ई) 'महत्तर' नाम धारण करनेवाले ग्रामवृद्ध ग्राम का शासन कार्य कर रहे थे, पर यह ज्ञात नहीं कि किसी समिति का विकास हो चुका था या नहीं। परन्तु गुजरात और दक्खन[3] के उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि ६०० ई० के लगभग 'ग्राम वृद्ध' अपनी एक कार्यकारिणी समिति सघटित कर चुके थे जिसे 'महत्तराधिकारिण' या 'अधिकारिमहत्तर' कहा जाता था। राजपूताने में प्राप्त लेखों से भी ऐसी ही स्थिति का पता चलता है, यहाँ कार्यकारिणी समिति 'पचकुल[4]' नाम से प्रसिद्ध थी और 'महंत'[5] नाम से अभिहित एक मुखिया की अध्यक्षता में कार्य करती थी। निःसंदेह यह बड़ी महत्वपूर्ण संस्था थी क्योंकि राजकुल के दानों की सूचना भी इसकी बैठकों में दी जानी आवश्यक थी[6]। गढ़वाल लेखों में भी 'महत्तर' या 'महत्तम'[7] का उल्लेख मिलता है पर उनकी कोई नियमित समिति सघटित हो पायी थी या नहीं इसका पता नहीं चलता।

चोल साम्राज्य के (९००–१३०० ई०) लेखों से तामिल देश में ग्राम सभा और उसकी 'समिति' के कार्यों का अधिक विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है[8]। साधारण ग्रामों की ग्रामसभा 'उर' और अग्रहार ग्रामों की जहाँ अधिकतर विद्वान ब्राह्मण रहते थे, 'सभा' कही जाती थी। कभी कभी

---

१ एपि ७, पृ १४५।
२ एपि इं १५, पृ १०२।
३ सर्वानेव राजसामन्त ग्राममहत्तराधिकारिकान् । इं एँ १२ पृ ७७
सर्वानेव राष्ट्रपति ग्रामकूटायुक्तकनियुक्तकाधिकारिकमहत्तरादीन् । इंडि एँटि, ११ पृ १५। देखिये, अलतेकर, 'विलेज कम्यूनिटीज इन वेस्टर्न इंडिया' पृ २०–२१
४ एपि इं ११ पृ ५८। वही ११ पृ ४७४–५।
५ एपि ११ पृ ५९।
६ वही ११ पृ ४९–५०।
७ इं एँ, १८, ३४–५, एपि इं, ३ १६६–७।
८ देखिये—ए नीलकंठ शास्त्री, कदि चोल, अध्याय १८ और 'स्टडीज इन चोल हिस्ट्री एँड एडमिनिस्ट्रेशन' पृ ७२–१६३। तथा एस के अयंगार–'एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन इन साउथ इंडिया', अध्याय ५।

दोनों प्रकार की संस्थाएँ एक ही ग्राम में पायी जाती हैं। संभवत ऐसा तब होता था जब नयी ब्राह्मण बस्ती छोटी होती थी[1]। जैसा कि पहले कहा जा चुका है ग्रामसभा के सदस्य सभी गृहस्थ होते थे। इसके अधिवेशन की सूचना डुग्गी पिटवाकर दी जाती थी[2]। इसका एक प्रधान कार्य कार्यकारिणी समिति या पंचायत का चुनाव था। 'उर' में एकत्र सब ग्रामवासियों की राय से यह चुनाव होता था[3]। पर इसकी प्रणाली ज्ञात नहीं। स्वीकृति संभवत मौखिक रूप में ही दी जाती थी, और प्रतिष्ठित व्यक्तियों का कहना माना जाता था। कार्यकारिणी का नाम 'आलुङ्गणम्' (शासक समिति) था, मगर इसके सदस्यों की संख्या विदित नहीं है।

ग्रामसभा और इसकी कार्यकारिणी का सबसे अच्छा और विस्तृत विवरण 'अग्रहार' ग्रामों के बारे में मिलता है। इनके निवासी अधिकतर विद्वान ब्राह्मण होते थे, जो समाज के सबसे सुसंस्कृत और शिक्षित वर्ग थे। इनमें से कुछ ने ग्रामसभा की कार्यकारिणी या पंचायत के विधान का विस्तृत विवरण देकर इतिहास का बड़ा ही उपकार किया है। सबसे अच्छा और पूरा विवरण उत्तर मेरूर ग्राम के प्रसिद्ध लेखों से मिलता है। यह ग्राम चिंगलीपट जिले में अत्यल्प परिवर्तित 'उत्तर मल्लूर' नाम से अभी तक विद्यमान है[4]।

इस ग्राम का शासनकार्य ग्रामसभा की पाँच उपसमितियों द्वारा होता था। सब सदस्य अवैतनिक कार्य करते थे और उनका कार्य-काल एक साल था। अनुचित कार्य करने पर वे बीच में भी हटाये जा सकते थे। ग्राम के प्रत्येक योग्य निवासी को काम करने का अवसर देने के लिए यह नियम बनाया गया था कि एक बार किसी उपसमिति में रह चुकने पर पुन तीन वर्ष तक उस व्यक्ति का उक्त उपसमितियों में अंतर्भाव न हो। दुश्चरित्र और सार्वजनिक धन का दुरुपयोग करनेवाला व्यक्ति या उसके निकट संबंधी सदस्यता के अधि

१ तिरुवेलूर में यही स्थिति थी (सौ इ ए रि, १९१७ ई स ११२ और १२३) और तिरेवूर में भी (सौ इ ए रि, १९१७ स २०१, २११)

२ सौ इ ए रि, १९२१–सं ५२३, १८९६ स ८२, १९१४ स ७२, और १९१७ स १०६।

३ सौ इ ए रि, १९१२ ई सं ८६।

४ इन लेखों के मूल के लिए देखिये, के ए एन शास्त्री, स्टडीज इन चोल हिस्ट्री तथा अ स रि, १९०४।

कार से वंचित कर दिये जाते थे। सम्बन्धियों को भी दंडित करने का उद्देश्य इस कार्य की गर्हणीयता पर जोर देना था। सदस्य न तो बहुत कम वय के होने चाहिये न बहुत अधिक वय के, उनकी अवस्था ३५ के ऊपर पर ७० से नीचे होनी आवश्यक थी। सदस्यता के लिए इतने प्रतिबंधों के अतिरिक्त सदस्य के पास अपना मकान और कम से कम चौथाई 'वेलि' (लगभग २ एकड़) कर देनेवाली भूमि होना जरूरी था। इसका उद्देश्य यह था कि हैसियतदार व्यक्तियों को ही सार्वजनिक धन की व्यवस्था का भार सौंपा जाय। पर वेद, स्मृति और भाष्य (दर्शन) के विद्वान के लिए एक एकड़ जमीन का स्वामित्व भी पर्याप्त माना जाता था। यह स्वाभाविक ही था कि 'अग्रहार' ग्राम की उपसमितियों के सदस्य यथासंभव अच्छे हैसियतदार, विद्वान, सच्चरित्र और ईमानदार व्यक्ति हों। यह उल्लेखनीय है कि इन उपसमितियों में किसी सरकारी कर्मचारी को स्थान न था। दक्षिण के ग्रामों के 'मध्यस्थाधिकारी' भी उत्कीर्ण लेखों में सरकारी कर्मचारियों से एकदम अलग रखे गये हैं।

पर यह न समझ लेना चाहिये कि ये नियम अग्रहार ग्रामों में भी सर्वत्र बिना अपवाद लागू किये जाते थे। ग्रामसभा का विकास गाँव के लोगों के एक स्थान पर एकत्र होकर सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा अन्य विविध विषयों पर बातचीत करने की प्रथा से हुआ। इन चर्चाओं के फलस्वरूप कुछ नियम धीरे धीरे बने और आपसी बैठक ने एक संस्था का रूप ग्रहण किया। उत्कीर्ण लेखों में इनका उल्लेख ८ वीं सदी के अंतिम चरण से मिलने लगता है। प्रत्येक 'सभा' का अपना स्वतंत्र विधान रहता था यद्यपि इनका साधारण रूप लगभग एक सा ही था। यथा, कहीं सदस्य होने का कम से कम वय २१ तो कहीं ४० साल थी। कहीं सदस्य ३ साल के अंतर के बाद पुनर्निर्वाचन के अधिकारी थे तो कहीं ५ और कहीं कहीं १० साल के बाद भी। कुछ सभाओं में यहाँ तक कड़ाई थी कि एक बार निर्वाचित सदस्य के निकट संबंधियों को भी ३ वर्ष तक सदस्य होने की अनुमति न थी[1]। उपसमितियों की संख्या और कार्यों में भी परिस्थिति के अनुसार अंतर होता था।

प्रत्येक सभा अपना विधान स्वयं बनाती थी। सबसे पुराने विधान का उदाहरण मानूरनिलेनल्लूर ग्राम की महासभा का है। इसका विधान एक विशेष अधिवेशन में निर्मित हुआ था, जिसकी सूचना 'डुग्गी पीट कर दी

1 सो इ. ए रि., १९२७, सं २८। १९२१, सं ५००।

ायी थी[१]। विधान में संशोधन भी सभा द्वारा ही किये जाते थे। कभी कभी तो दो महीने के अन्दर ही विधान संशोधन किये जाने के उदाहरण मिलते हैं[२]।

उत्तर मेरूर में ग्रामसभा की पंचायत या कार्यकारिणी सभा के सदस्य चिट्ठी डाल कर चुने जाते थे। ग्राम के तीसों 'वार्डों' में से प्रत्येक द्वारा कई व्यक्तियों के नाम प्रस्तावित किये जाते थे, प्रत्येक उम्मेदवार का नाम अलग अलग पुर्जियों पर लिख लिया जाता था। हरएक वार्ड की पुर्जियाँ एक बर्तन में रख दी जाती थीं और किसी अबोध बालक से एक चिट्ठी उठाने को कहा जाता था। जिसके नाम की चिट्ठी उठती थी वह उस वार्ड का प्रतिनिधि घोषित किया जाता था, इस प्रकार किसी पैरवी, प्रचार या दलबंदी की आवश्यकता ही न पड़ती थी।

इस प्रकार निर्वाचित ३० आदमी भिन्न भिन्न उपसमितियों में रख दिये जाते थे। पहली उपसमिति गाँव के उद्यानों और फल की बगियों की देखरेख करती थी, दूसरी गाँव के सरोवर और जल प्रणाली की, तीसरी आपसी झगड़ों के निपटारे का महत्वपूर्ण कार्य करती थी। चौथी 'स्वर्ण उपसमिति' थी, इसका काम निष्पक्ष भाव से सबका सोना परख कर उसका मान निर्धारित करना था। इस समिति में विशेषज्ञ ही रखे जाते थे। उस समय कोई निश्चित मुद्रा प्रणाली न थी इसलिए कर के रूप में या क्रय विक्रय के माध्यम रूप में जो सोना दिया जाता था उसकी ठीक परख और मूल्य-निर्धारण करना अत्यावश्यक था। इस उपसमिति के सदस्यों के चुनाव की विशेष विधि नियत थी। पाँचवीं उपसमिति 'पंचवार' समिति कही जाती थी, मगर इसका कार्य ठीक ज्ञात नहीं।

एक उपसमिति की सदस्यता का कार्यकाल पूरा हो जाने के बाद निश्चित व्यवधान बीत जाने पर पुनर्निर्वाचित होने पर वह सदस्य किसी दूसरी उपसमिति में रखे जाते थे। इससे उन्हें ग्राम शासन के अनेक अंगों का अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिलता था।

इन पाँच उप-समितियों के अतिरिक्त, सब पर देखरेख के लिए एक समिति और थी जिसे 'सम्वत्सरवारीयम्' (वार्षिक समिति) कहते थे। इसके सदस्य केवल अनुभवी व्यक्ति ही हो सकते थे, जो विविध उपसमितियों में काम का अनुभव रखते थे।

उपसमितियों की संख्या और कार्य-क्षेत्र प्रत्येक ग्राम की आवश्यकतानुसार

शास्त्री—चोल स्टडीज, पृ ८१।
सौ इ. ए रि १९२२ ई. स. २२० और २२१।

भिन्नभिन्न रहती थी। एक लेख से[1] भूमि माप समिति का पता चलता है। इसका काम भूमिकी नाप जोख और वर्गीकरण करना और यह देखना था कि सरकारी नाप या भूमिकर भी उचित और न्यायसम्मत हो। एक अन्य लेख में[2] देवालय समिति का भी उल्लेख है। अग्रहार ग्रामों में विद्यालय भी रहते थे अत संभव है कि इनमें एक विद्या समिति भी रहती हो।

यह देखा जा चुका है कि गुप्त और परवर्ती काल में बिहार, राजपूताना, महाराष्ट्र, और कर्नाटक में ग्रामसभाओं की कार्यकारिणी समितियाँ भी कायम हो चुकी थीं। पर स्मृतियों या उत्कीर्ण लेखों से इनके संघटन के बारे में कुछ जानकारी नहीं प्राप्त होती। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है तामिल देश में प्रतिवर्ष इस समिति का पुनस्संघटन होता था। राजपूताना में भीनमाल के एक लेख (१२७७ ई०) में पचकुल (कार्यकारिणी समिति) के सदस्यों द्वारा एक दान का वर्णन है, जिसमें सदस्य यह लिख देते हैं कि दान हम करते हैं पर इसका श्रेय जो जो भविष्य में इस पद पर आवें उन सबका रहेगा[3]। इससे जान पड़ता है कि उत्तर भारत में भी इस समिति का निश्चित अवधि पर पुनस्संघटन हुआ करता था। पर यह ज्ञात नहीं कि इनका कार्यकाल क्या था। उत्तरमेरूर में निर्वाचन चिट्ठी द्वारा होता था। आज कल के समान दलबंदी और लड़बंदी वाली चुनाव प्रणाली समवत प्राचीन भारत में कहीं न थी। गाँव के वृद्धसदस्यों की सभामें साधारण जनमत के अनुसार प्रमुख व्यक्ति कार्यकारिणी के लिए चुन लिये जाते थे। इसमें जात पाँत के भेदभाव का असर न पड़ता था। गुप्तकाल में इन समितियों में बहुत से ब्राह्मणेतर जातिवाले काम करते दिखाई देते हैं और मराठा शासन काल में तो ग्राम पचायत के फैसलों पर अब्राह्मण ही नहीं अस्पृश्यों तक के हस्ताक्षर मिलते हैं।[4]

कर्नाटक में तामिल देश की भाँति ग्राम-सभा को उपसमितियों में विभाजित करने की प्रथा न थी। बहुत से उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि ग्रामके महाजन पाठशालाओं का प्रबंध, सरोवरों और धर्मशालाओं का निर्माण, सार्वजनिक कार्यों के लिए चदा, तथा धर्मार्थ निधियों और थातियों (trusts) के

१ सौ इ ए रि , १९१२ स २१२।
२ सौ इ ए रि , १९१५ स ११२।
३ परमारपचकुल' सर्वो मसाध्य इति सर्वदा।
यस्य यस्य यदा श्रेयो यस्य यस्य यदा पदम् ॥ बॉ गॅ , १, १ पृ ४८०
४ ऐतिहासिक लेख संग्रह, १६ पृ ४५।

संरक्षण और प्रबंध आदि कार्य किया करते थे। इन विविध कार्यों के लिए
उपसमितियों का निर्माण होना स्वाभाविक बात होती पर लेखों में इनका कभी भी
उल्लेख नहीं किया जाता[1]। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्राम महाजन इन
कार्यों को अपनी कार्यकारिणी समिति पर छोड़ देते थे, इसमें ३ या ५ सदस्य
होते थे[2]। ये लोग आवश्यकतानुसार ग्राम के अन्य प्रमुख जनों की सहायता
लेते थे।

उत्तर भारत में भी सम्भवतः चोल देश के समान उपसमितियाँ न थीं। यहाँ
ग्राम समिति में ५ सदस्यों की संख्या नियत थी, इसे स्पष्ट रूप से गुप्त काल में
'पंच मण्डली' कहा जाता था[3]। मध्यकालीन कई लेखों में भी इसे 'पंचकुली'
कहा गया है[4]। अस्तु, ५ सदस्यों की छोटी सी संख्या की उपसमितियाँ क्या
हो सकती थीं।

अब ग्राम पंचायत के कार्यों पर दृष्टिपात किया जायगा। दक्षिण भारत के
कई उल्लेखों से प्रकट होता है कि भूमिकर वसूल करने की जिम्मेदारी इसी पर
थी। अकाल तथा अन्य संकट पड़ने पर यही राज्य से लगान में छूट आदि
कराने की व्यवस्था करती थी। पर एक बार इसका परिमाण तय हो जाने पर
ग्राम पंचायत उसकी वसूली के लिए भी जिम्मेदार हो जाती थी और इस कार्य
के लिए उसे सब प्रकार की कार्रवाई, बकाया लगाने वालों की भूमि का नीलाम
भी, करना पड़ता था। वार्षिक कर की रकम एक मुश्त भी ग्राम पंचायत के पास
जमा की जा सकती थी। इस दशा में पंचायत इसे राज्य-कर देने से मुक्त कर
सकती थी। यह कर जमा की हुई रकम के ब्याज से दिया जाता था।

इसमें संदेह है कि उत्तर भारत, महाराष्ट्र और कर्नाटक की ग्राम पंचायतों
को भूमिकरों के संबंध में चोल देश की पंचायतों के समान विस्तृत अधिकार थे।
कम से कम उत्कीर्ण लेख तो इस विषय में मौन ही हैं।

ग्राम की ऊसर भूमि का स्वामित्व भी पंचायत को ही रहता था। गुप्त काल
में राज्य ग्राम की पंचायत की सम्मति से ही इसे बेच सकता था[5]। बहुत से
चोल लेखों में पंचायतों द्वारा भूमि के विक्रय का वर्णन है, इनमें से संभवतः
बहुत से ऐसे भी ऊसर रहे होंगे, जो खेती के योग्य बनाये जा चुके थे[6]।

---

१ अल्तेकर, राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ० २०२।
२ " " पृ० २०१।
३ को इं इ, ३, पृ० ३१, ए इ, ११, पृ० ४९, ५६, यॉ रॉ, ए. सो १९०४
४ एपि इ १५, पृ १३०।
५ सो इ ए रि, १९१० सं. ३३२, ३१५, और ३२८।

गाँव वालों के झगड़े निपटाना पचायत के सबसे महत्वपूर्ण कार्यों में था[१]। पहले तो घर और विरादरी के बड़े बूढे ही झगड़ा निपटाने का प्रयत्न करते थे, उनके विफल होने पर मामला पचायत में जाता था। गभीर अपराध स्वभावत पंचायत की अधिकार सीमा के बाहर थे, क्योंकि इसमें प्राण दड आदि कड़े दडों की आवश्यकता पड़ती थी और इसका अधिकार उच्च राजकीय न्यायालय को ही होना उचित था। पर सयोगवश किसी के द्वारा किसी की मृत्यु हो जाने की घटनाएँ चोल काल में अक्सर पचायत ही निणय किया करती थी[२]।

पर दीवानी मामलों में पचायत के अधिकारों की कोई सीमा न थी। हजारों रुपयों की सपत्ति के झगड़े भी वह तै कर सकती थी।

कुछ लेखकों का यह मत है कि पचायतों को न्याय के अधिकार मिलने का कारण तत्कालीन अराजकता और राजकीय न्यायालयों का अभाव था। पर स्मृतियों, उत्कीर्ण लेखों और मराठा शासन के कागज पत्रों से प्राप्त जानकारी इस मत को पूर्ण भ्रामक और निराधार सिद्ध कर देती है। स्मृतियों का कथन है कि पचायत का नियमानुकूल निर्णय राजाको भी मान्य होना चाहिये क्योंकि उसी के द्वारा पचायत को न्याय का अधिकार दिया गया है[३]। मराठा काल के अनेक कागजों से ज्ञात होता है कि शिवाजी, राजाराम और शाहू आदि, जो मामले उनके पास सीधे लाये जाते थे, उन्हें वे स्वय न सुन कर ग्राम पचायत के पास भेज दिया करते थे[४]। बीजापुरके मुसलमान सुलतान भी ऐसा ही करते थे। मसूर ग्राम की पचायत ने ग्राम के मुखिया पद के अधिकार के झगड़े का निश्चय किसी बाबा जी मुसलमान के विरुद्ध किया। तालुका पचायत से भी यही निणय कायम रहा। इस पर बाबा जी मुसलमान ने सीधे इब्राहीम आदिलशाह के पास फरियाद की कि साम्प्रदायिक द्वेष के कारण उसके साथ अन्याय हुआ है। सुलतान ने स्वयं सुनने के बजाय प्रसिद्ध हिंदू तीर्थस्थान पैठन ग्राम की पचायत के पास मामला पुनर्विचार के लिए भेजा। इस पंचायत ने भी

---

१ वैदिक काल में भी यह काय उनके द्वारा किया जाता था चूँकि सभाचर का सबध धर्म या न्यायदान से दिखाई पड़ता है।

२ सौ. इ प रि, १९०० सं ६४ और ७७, १९०२ स २२३, १९०६ सं २१७, २२२

३ तै कृत बलवधर्मेण निग्रहानुमतं नृणाम्।
तद्राज्ञाऽप्यनुमतव्य निसृष्टार्था हि ते स्मृताः॥ याज्ञवल्क्य २।१०।

४ अल्तेकर, विलेज कम्यूनिटीज़ पृ ९५ ६।

फरियादी बापाजी मुसल्मान के विरुद्ध ही निर्णय दिया और इब्राहीम आदिल शाह ने भी इसमें हस्तक्षेप करने से इनकार किया[1]। इससे प्रकट होता है कि राज्य की सुविचारित नीति पंचायतों को व्यापक न्यायाधिकार देने की थी। और लोगों को पंचायत की शरण लेने के सिवा और कोई उपाय न था।

यद्यपि ये प्रबल प्रमाण बाद के हैं फिर भी इनके बल पर यह निष्कर्ष किया जा सकता है कि ईसा की प्रथम सहस्राब्दी में भी ग्राम न्यायालय, जिन्हें याज्ञवल्क्य ने 'पूग' संज्ञा दी है, इसी प्रकार काम कर रहे थे। यह दुर्भाग्य का विषय है कि इनके कार्य कलाप के विषय में तत्कालीन ग्रन्थों अथवा उत्कीर्ण लेखों से कोई विवरण नहीं प्राप्त होता। परंतु बहुत से दान पत्रों में गाँव के अपराधियों के छोटे मोटे जुर्माने दान पाने वाले व्यक्ति को दिए गये हैं, इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उक्त मामलों का फैसला ग्राम पंचायतों द्वारा ही हुआ होगा[2]।

कुछ गाँवों में देवालयों के प्रबंध के लिए उनकी अलग समिति होती थी। पर जहाँ ऐसा न था ग्राम पंचायत या उसकी कोई उपसमिति इसकी देख रेख करती थी मंदिर की मरम्मत, पूजा, अर्चा आदि ठीक से हो और धर्मार्थ संपत्ति का दुरुपयोग न हो[3]।

दक्षिण भारत के उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है कि ग्राम पंचायतें साहूकार का भी काम किया करती थीं। वे स्थायी निधि का रुपया अपने यहाँ रखती थीं और दाता की इच्छानुसार उसकी आमदनी या सूद का उपयोग करने का जिम्मा लेती थीं[4]। वे एक मुश्त रकम लेकर किसी भूमिखण्ड को प्रति वर्ष राज्य कर देने से मुक्त कर दिया करती थीं, और उसी के सूद से कर देने की व्यवस्था कर देती थीं। इस व्यवहार में धन की देनदार ग्राम सभा ही होती थी, उसके व्यक्तिगत सदस्य नहीं। सदस्यों के बदलने पर भी जिम्मेदारी कायम रहती थी। इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण भी उत्तरमेरूर ग्राम से मिला है जहाँ सन् १२१२ ई० में सभा से तीन शताब्दी पहले ली हुई जिम्मेदारी पूरी करने को

१ पारसनीस, सेलि फ्रो १६ स ८२। अल्तेकर, वि क पृ० ३४ २
२ पंचायतों की न्यायदान प्रणाली के अधिक विवेचन के लिये अल्तेकर विलेज कम्यूनिटीज, पृ० ४२ ५३ देखो।
३ इं ऐ॰, १२ पृ० २२८, एपि इ ३, पृ० २७२
४ इ ऐ, १९ पृ० १२०, पृ० २५९, एपि इ, ९ पृ० १०२, १५३

कहा गया। सभा ने बिना आनाकानी किये अपनी जिम्मेदारी स्वीकार की और उसे कुछ न्यून रूप में पूरा करने का वादा किया[1]।

अकाल आदि पड़ने पर ग्राम सभा सार्वजनिक भूमि बंधक रखकर पीड़ितों के सहायतार्थ सार्वजनिक ऋण भी लेती थी। कम से कम चोल काल में तो इसके उदाहरण मिलते हैं। एक गाँव की सभा ने ७½ 'वेलि' भूमि बंधक रख कर अकाल पीड़ित जनों की सहायता हेतु १०११ कलञ्जु (करीब २५२ तोला) सोना और ४६४ पळम् (= ११६२ तोला) चाँदी ऋण ली[2]। इस प्रकार के व्यवहार में ऋणी ग्राम के देवालय होते थे, क्योंकि इनके पास पुष्कल संपत्ति होती थी।

ग्राम सभाएँ या पंचायतें सार्वजनिक हित की योजनाएँ भी उठाती थीं। ग्राम का उत्पादन बढ़ाने के लिए जंगली और ऊसर प्रदेशों को कृषियोग्य बनाया जाता था[3]। चोल काल की और सम्भवतः सब काल और प्रांतों की ग्राम सभाएँ सिंचाई की नहरों और सरोवरों का निर्माण और देख रेख किया करती थीं। जातक कथाओं में ग्रामवासियों द्वारा सड़कों की मरम्मत का बड़ा अच्छा वर्णन मिलता है[4]। दक्षिण भारत के एक लेख से ज्ञात होता है कि ग्राम सभा केवल सड़कों की मरम्मत ही नहीं करती थी वरन् दोनों ओर की भूमि खरीद कर उसे प्रशस्त भी कर देती थी[5]। पानी पीने के लिए कुँए भी खोदे जाते थे और सुरक्षित रखे जाते थे। कभी कभी सभा धर्मशाला भी बनवाती थी।

इससे यह न समझ लेना चाहिये कि ग्राम सभा ग्रामवासियों की भौतिक उन्नति मात्र की ही फिक्र करती थी। ग्राम सभाओं द्वारा सांस्कृतिक और साहित्यिक विकास के कामों के भी अनेक उदाहरण हैं। उत्तरमेरुर की सभा द्वारा तीन अवसरों पर व्याकरण, भविष्य पुराण और यजुर्वेद के अध्ययन के

---

१ सौ. इ. ए. रि., १८९९ १९०० पृ० २० १८९८ का ६७

२ सौ. इ. ए. रि., १८९८ सं ६७

३ सौ. इ. इं. भाग ३, सं. ११

४ भाग ३, पृ० १११

५ सौ. इ. ए. रि., १८९८ सं. ३

लिए वृत्ति बाँधने का उल्लेख मिलता है[१]। बहुत सी ग्राम सभाएँ वेद अध्ययन के लिए वेद वृत्तियाँ भी देती थीं[२]।

अब यह देखना चाहिये कि इन कार्यों के लिए अर्थ की व्यवस्था किस प्रकार की जाती थी। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि राज्य ग्राम में एकत्र करों का एक भाग ग्राम के हितार्थ खर्च करने की अनुमति देता था। मराठा काल में ग्राम की रक्षा और सार्वजनिक कार्यों के लिए ग्रामों को राज्य कर का १० १५ प्रतिशत खर्च करने की अनुमति थी[३]। प्राचीन काल में भी सम्भवतः ऐसा ही होता था यद्यपि इसके स्पष्ट प्रमाण नहीं मिले हैं[४]। ग्राम पंचायतों द्वारा अपराधियों पर किये गये जुर्माने भी ग्राम सभा की आय का एक साधन था। ग्राम सभाओं को अपने ओर से अतिरिक्त कर और चुंगी लगाने का भी अधिकार था। तामिल देश में नदूर ग्राम की सभा ने १० वीं शताब्दी में स्थानीय देवालय से २५ काशु का ऋण लिया था और इसके बदले में उसे देवालय के अहाते में लगने वाले बाजार से कुछ कर उगाहने का अधिकार दिया था[५]। कर्नाटक में सालोटगी ग्राम के निवासियों ने स्थानीय विद्यालय के खर्च के लिए विवाहादि संस्कारों के समय कुछ शुल्क देने का निश्चय किया था[६]। सन् १०६९ ई० में खानदेश के पाटण ग्राम के निवासियों ने भी इसी कार्य के लिए ऐसा ही निश्चय किया था। उत्तर भारत से भी इसी प्रकार सर्वजनोपयोगी कार्यों के लिए ग्राम सभाओं और श्रेणियों द्वारा इसी प्रकार कर लगाये जाने के उदाहरण मिलते हैं[७]।

सार्वजनिक हित की योजनाएँ कार्यान्वित करने में ग्राम पंचायतों को धर्म भी बड़ा सहायक होता था। कूप, सरोवर, अनाथालय, रुग्णालय आदि का निर्माण स्मृति पुराणों ने पुण्य कार्य में शामिल किया था। उत्तर मेरूर ग्राम के सरोवर की सफाई करने के लिए दो दानियों ने स्थायी निधियाँ स्थापित की

१ सौ इ ए रि, १८९८ स १८, ९९, और १२०, १९१६ स १२४
२ वही, १९१७ सं ४८१ और ४८७।
३ अलतेकर, विलेज कम्यू पृ० ७० ७१। मैन, लैंड ऐंड लेबर इन ए डेकन विलेज, भाग १ पृ ३२ ५०।
४ अर्थ शास्त्र २ अध्याय १०।
५ सौ इं. ए इ १९१० स ४२। ६ एपि इ ४ पृ० ६६।
७ इंडि एंटि १४, पृ० ८७। एपि इं १, पृ० १८८।

थी।[1] पीने के जल के लिए कुआँ खुदवाने के हेतु भी एक सज्जन ने दान किया था। इस प्रकार के उदाहरण अपवाद नहीं, साधारण स्थिति के निदर्शक हैं।

इन कार्यों के लिए केन्द्रीय सरकार से भी धन या सामग्री की सहायता प्राप्त होती थी[2]। बड़े बड़े निर्माण कार्य जिनका खर्च स्थानीय संस्था उठा सकने में समर्थ न थी तो राज्य ही द्वारा किये जाते थे। काठियावाड़ का गिरनार का इतिहास प्रसिद्ध बाँध इसका प्रसिद्ध उदाहरण है।

ग्राम सभा और उसकी कार्य कारिणी समिति या पंचायत और उसकी उप-समितियों की कार्य प्रणाली पर भी दृष्टिपात आवश्यक है। ग्राम सभा का अधिवेशन कभी सभागार में, कभी देवालय के मण्डप में और कभी बरगद या इमली की छाया में भी होता था। सभा में ग्रामवासी सब सद्गृहस्थों को शामिल होने का अधिकार था पर समवतः २०० या ३०० से अधिक उपस्थिति न रहती होगी। साधारण सभा की बैठक कार्यकारिणी समिति के चयन के समय होती थी। तामिल देशके अग्रहार ग्रामों में कार्य समिति का चुनाव चिट्ठी उठा कर होता था। अन्य स्थानों में पहले ग्रामके प्रमुख व्यक्ति मिलकर आपस में विचार कर लेते थे और ऐसी नामावली तैयार करते थे जो प्रायः सबको स्वीकार्य हो, तदुपरांत सभा बुलायी जाती थी, जो साधारणतः प्रमुख व्यक्तियों का निर्णय मान लेती थी। आजकल की भाँति मत देने की प्रणाली उस कालमें न थी।

महत्वके प्रश्न उपस्थित होनेपर, यथा अकाल आदिके संकट निवारणार्थ, गाँव की सार्वजनिक भूमि बेचने या ऋण लेने के प्रश्नों पर विचारार्थ भी साधारण सभा की बैठक बुलायी जाती थी। प्राचीन यूनान की भाँति ऐसे अवसर पर वृद्धों की ही राय ली जाती थी। पर कभी कभी कुछ दुष्ट व्यक्ति अकारण विरोध करके काम में बाधा डालने की चेष्टा भी करते थे, ऐसे व्यक्तियों के लिए तामिल देशकी एक ग्राम सभा ने ४ कासु (करीब ½ तोला सोना) के दण्डका विधान किया था[3]।

ग्राम की ओर से ग्राम के हेतु दान की स्वीकृति देनेके लिए भी ग्राम सभा

---

१ सी इ ए. रि, १८९८ ई० ६६ अ और ७४

२ अर्थशास्त्र, २. अध्याय १।

३ सी इ ए. रि, १९०४ सं० ३२३।

की बैठक बुलायी जाती थी। विशेषकर कर्नाटक में ऐसे अवसरों पर ग्राम स
की ओर से दाता को आश्वासन दिया जाता था कि दानकी रकम अभिप्रे
कार्यमें ही लगायी जायगी। दाता के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने की यह बहु
सुंदर विधि थी।

कार्य समिति और उसकी उपसमितियों की कार्य प्रणाली के विषय में बहु
कम जानकारी प्राप्त हुई है। संभवत उत्तर भारत और दक्षिण में गाँव
मुखिया और तामिल देशमें 'मध्यस्थ' इनकी बैठकों में अध्यक्ष होते थे। बैठ
ग्राम कार्यालय (चावडी) में होती थी। ग्रामका मुनीम कारवाई का ले
भी रखता रहा होगा खासकर दान आदिकी स्वीकृति और करों की माफ
आदिका। कभी कभी इस विषय के महत्वपूर्ण निश्चय देवालय की दीवारों प
अंकित भी कर दिये जाते थे। इन्हीं अंकित विवरणों से आज हम इनके का
में इतना जान सके हैं।

अब केंद्रीय सरकार और ग्राम पञ्चायत या सभा के संबंध पर विचार किय
जायगा। कुछ स्मृतियों में कहा गया है कि ग्राम पञ्चायतों के अधिकार राजा य
केंद्रीय शासन से प्रदत्त हैं[1]। यह कथन राज्य के सार्वभौम अधिकारों का सूचक ।
पर ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं है। प्राचीन भारत के अधिकांश राजवंश दो
शताब्दियों से अधिक न कायम रह सके। पर ग्राम संस्थाएँ और पञ्चायतें
सनातन काल से चली आती थीं और उनके अधिकार भी परंपरागत थे किसी
राज्य विशेष से कानून द्वारा प्रदत्त न थे। जब केंद्रीय शक्ति अधिक विकसित
और सुसंघटित हुई तो इसने ग्राम संस्थाओं के अधिकारों में कमी करने का भी
प्रयत्न बीच बीच में किया। कभी कभी विधान में संशोधन के अवसर पर
ग्राम सभा की बैठकों में राज्य के अधिकारी के भी उपस्थित रहने के भी उदा-
हरण मिलते हैं,[2] कभी कभी नियमों पर स्वयं राजा की स्वीकृति दिये जाने के
भी उल्लेख मिलते हैं[3]। परन्तु ये असाधारण घटनाएँ जान पड़ती हैं। संभव
है कि ग्राम सभा के अधिवेशन के समय ग्राम में उपस्थित रहने पर राज
अधिकारी भी उसमें चले जाते हों, और ग्राम सभाओं द्वारा पेश किये जाने पर
राजा उनके नियमों पर अपनी शाबासी स्वीकृति की मुहर लगा देते रहे हों।

---

१ याज्ञवल्क्य २, ३०

२ ११६ ई० में उत्तर मैसूर में ऐसा हुआ था, ए. क रि, १९०५

३ सा इ. ए. रि, १९१७ स १९८।

प्राप्त प्रमाणों का ध्यान पूर्वक अध्ययन करने से यही प्रकट होगा कि ग्राम सभाएँ स्वयं अपना विधान बनाती थीं, केंद्रीय सरकार नहीं। उत्तर भारत में भी संभवत यही स्थिति थी, यहाँ तो ग्राम की कार्य कारिणी समिति में प्राय पाँच ही सदस्य होते थे, जो ग्राम समाज द्वारा उस पर प्रतिष्ठित किये जाते थे। केंद्रीय सरकारको विधान निर्माण में हस्तक्षेप करने का कोई अवसर ही न था।

उत्तर और दक्षिण भारत से ऐसे बहुत से लेख मिले हैं जिनमें राजा द्वारा ग्रामके मुखिया और पंचायत को दिये गये आदेशों का विवरण हैं, इससे पता चलता है कि केंद्रीय सरकार को ग्राम व्यवस्था [illegible] साधारण निरीक्षण और नियंत्रण का अधिकार रहता था। इस अधिकार का उपयोग यों होता था कि कभी कभी जिलेका शासक कुछ पूछ ताछ के लिए मुखिया को अपने दफ्तर में बुला लेता था और ग्राम पंचायत के साधारण प्रबंध और हिसाब किताब की जाँच के लिए निरीक्षक भेजे जाते थे। केंद्रीय सरकार के कर्मचारियों द्वारा ग्राम पंचायत के हिसाब किताब की निर्धारित अवधि पर जाँचका उल्लेख चोल कालीन लेखों में किया गया है, और अन्य राज्यों में भी यही स्थिति रही होगी। काम में गड़बड़ करने पर ग्राम पंचायत के सदस्यों को सभा स्वयं पदच्युत कर देती थी, पर कभी कभी केंद्रीय सरकार भी उनपर जुर्माना किया करती थी[1]। दो ग्राम पंचायत में झगड़ा होनेपर साधारणतः मामला केंद्रीय सरकार के सामने ही पेश किया जाता था, पर एक उदाहरण ऐसा भी मिला है जिसमें दो ग्रामों में झगड़ा होने पर तीसरे ग्रामकी पंचायत निर्णायक बनायी गयी[2]।

अस्तु, निष्कर्ष यह है कि केंद्रीय सरकार को केवल साधारण निरीक्षण एवं नियंत्रण का अधिकार था। ग्राम प्रबंध की पूरी जिम्मेदारी ग्राम सभा या पंचायत पर ही थी और उसे अधिकार भी बहुत थे। ग्राम पंचायतें ग्रामकी रक्षाका प्रबंध करती थीं, राज्य-कर एकत्र करती थीं, और अपने कर भी लगाती थीं, लोगों के झगड़ा का फैसला करती थीं और सार्वजनिक हितकी योजनाएँ हाथ में लेती थीं, साहूकार और विश्वस्त का कार्य करती थीं, सार्वजनिक ऋण आदि लेकर अकाल और अन्य संकटों के निवारण का उपाय करती थीं, पाठशालाएँ, चिकित्सालय, अनाथालय आदि खोलती और चलाती थीं, और देवालयों द्वारा विविध सांस्कृतिक तथा धार्मिक कार्यों की व्यवस्था करती थीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि

---

१ सी इ ए. रि, १६१५ से १८१ १६१०, स २६८

२ वही, १६११ स ९६

आधुनिक कालमें हिंदुस्थान या योरप अमेरिका में ग्राम संस्थाओं को जितने अधिकार प्राप्त है उनसे कहीं अधिक इन प्राचीन कालीन ग्राम संस्थाओं को थे और इनकी रक्षा करने में वे हमेशा सावधान रहतीं थी। ग्राम वासियों के अभ्युदय और उनकी सर्वांगीण भौतिक, नैतिक और धार्मिक उन्नति के साधन में इनका भाग प्रशंसनीय और महत्वपूर्ण था।

बारहवाँ अध्याय

आय और व्यय

राज्यकी समृद्धि और स्थायित्व उसकी आर्थिक स्थितिकी सुदृढ़ता पर ही निर्भर है। इस सिद्धांत को प्राचीन भारतीय आचार्य भली भाँति समझते थे। इसी लिए उन्होंने कोष की गणना राज्य के अंगों में की है और कोष या आर्थिक दुर्बलता को राष्ट्र की महान् विपत्ति माना है।

धर्मप्रधान होने के कारण वैदिक वाङ्मय से तत्कालीन राज्यों की आर्थिक व्यवस्था के विषय में अधिक ज्ञान नहीं प्राप्त होता। राज्यों के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में राजा की शक्ति अधिक न थी और लोग स्वेच्छा से जो कभी कभी दे देते थे वही उसे कर रूप में प्राप्त होता था। अस्तु, राजा अपने अनुयायियों और कर्मचारियों का पोषण अपनी ही भूमि, चरागाहों और गोधन से प्राप्त होने वाली आय से ही किसी भाँति किया करता था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए चढ़ायी जाने वाली भेंट का नाम ही 'बलि'[1] राजा को स्वेच्छा से दिये जाने वाले करों या अन्य उपहारों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। राज्य भ्रष्ट राजा के पुन राज्य प्राप्ति के समय प्रार्थना की जाती है कि इंद्र भगवान उसे प्रजा से 'बलि' दिलवाने में सहायता दें[2] और उसे प्रजा से प्रचुर उपहार और 'बलि' प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो[3]। इन प्रार्थनाओं से भी यह ध्वनि निकलती है कि जनता अभी राजा को नियमित कर देनेमें अभ्यस्त न हो पायी थी।

धीरे धीरे इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। परवर्ती वैदिक वाङ्मय में राज्याभिषेक के समय के एक मन्त्र में राजा 'प्रजाका खानेवाला' (विशामत्ता[4]) कहा गया है। इस संबोधन से यही बोध होता है कि लोग राजाको नियमित रूपसे कर दिया करते थे और इसी के बल पर राजा अपने कर्मचारियों सहित ठाट बाट से रहता था।

---

१ देखिए ऋग्वेद ५. १. १०।

२ अथा ते इन्द्रः केवलीः प्रजा बलिहृतस्करत्। ऋ० १०. १७२. ६।

३ अथर्व ३. ४. ३।

४ विशामत्ता समभवत्। ऐत. ब्रा. ७, २९।

वे इस कालमें ब्राह्मण लोग पौरोहित्य वृत्ति करते थे, जिसमें अधिक लाभकी गुंजायश न थी, क्षत्रिय लोग नये प्रदेशों के जीतने में ही लगे थे, और शूद्रों के पास कोई सम्पत्ति न थी। अतः कर का मुख्य भार वैश्यों पर ही पड़ता था और बहुत से स्थलों पर उनका वर्णन करदाताओं के रूपमें हुआ है¹। पर यह भी न समझना चाहिये कि अन्य लोग कर देने से एकदम मुक्त थे क्योंकि राजा को बहुत से स्थलों पर सबसे कर लेनेवाला कहा गया है²।

पहले के अध्यायों में दिखाया जा चुका है कि प्रारंभ में राजा की स्थिति सरदार मंडल के प्रधान की सी थी। अतः यह भी संभव है कि राजा के अतिरिक्त अन्य सरदार लोग भी अपना अलग कर वसूल करते थे। इस अनुमान का समर्थन शतपथ ब्राह्मण के इस कथन से होता है कि 'दुर्बलों को बहुधा बलवानों को कर देना पड़ता है³।

'भागदुघ' (राजा का भाग वसूल करनेवाला) और 'संग्रहीता' (कर जमा करने वाला) जो इस समय के 'रत्नी' मंडल में भी थे, संभवतः कर विभाग के ही अधिकारी थे। संभवतः पहले का काम अन्न तथा अन्य उत्पादित सामग्रियों में से राजा के भाग का अंश एकत्र करना था और दूसरे का काम इन्हें भंडारों और कोषों में संचित रखना था।

राज्य की आय के स्रोत कृषक और पशुपालक थे। कृषक राजाको अपनी फसलका एक भाग दिया करते थे, जिसका परिमाण वैदिक ग्रन्थों में नहीं बताया गया है। उस समय के समाज में पशुपालकों का आजकल की अपेक्षा बहुत अधिक महत्व था, क्योंकि समाज को पशुपालन को दशा से कृषि में प्रवेश किये अधिक समय न हुआ था। ये लोग कर में गाय, बैल, और घोड़े दिया करते थे⁴। राज्य इन सब के एक निश्चित अंश का अधिकारी था।

प्रजा से 'भाग' के अतिरिक्त राजा युद्धमें विजित शत्रुओं या सरदारों से भी खिराज या कर पाया करते थे⁵। वैदिक कालमें वाणिज्य व्यवसाय की आर्यों में विशेष प्रतिष्ठा न थी इसलिए, इस स्रोत से विशेष आय न थी। खानों

१ अन्यस्य बलिकृत्। ऐत ब्रा ७ २९,-शत ब्रा ११ २ ६ १४।
२ विशोऽद्य सर्वा। अथर्व ४ २२, ७।
३ शत ब्रा ११ २ ६ १४।
४ एवं मत्र ग्रामे अश्वेषु गोषु। अथर्व, ४ २२ २।
५ ऋग्वेद, ७ १८, १९।

पर राज्य का अधिकार था या नहीं और राज्यद्वारा उनकी खुदाई की जाती थी या नहीं इसका ठीक पता नहीं।

हॉपकिंस का यह मत है कि वैदिक काल में कर बहुत अधिक और कठोर थे, और राजाको शोषक प्रवृत्ति का नियन्त्रण करने के बजाय पुरोहित उसे अपनी प्रजा का 'भक्षण' करने में प्रोत्साहन देते थे[१]। परन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। हॉपकिंस 'विशामत्ता' शब्द से धोखा खा गये हैं। जैसा कि 'वैदिक इंडेक्स' में कहा गया है इस उक्ति का स्रोत इस प्रथा में है जिसमें राजा और उसके कर्मचारियों का पालन प्रजा के उपहारों से चलता था, जिसके अनेक उदाहरण अन्य देशों में भी प्राचीन काल में पाये जाते हैं[२]। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'अत्ता' शब्द का प्रयोग बहुधा 'भोक्ता' के अर्थ में हुआ है। यथा, एक जगह पति को 'अत्ता' (भोक्ता) और पत्नी को 'आद्य' (भोग्या) कहा गया है[३]। इसका अर्थ यह तो नहीं हो सकता कि पति पत्नी का खानेवाला या पीड़क था। फिर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि 'विशामत्ता' का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में और राज्याभिषेक के वर्णन के प्रसंग में हुआ है जहाँ राजा की शानशौकत का बड़ा लंबा चौड़ा वर्णन किया गया है। यथा, "आज प्रतिष्ठित हो रहे हैं सब लोगों के शासक, प्रजा के खानेवाले (विशामत्ता), दुर्गों को तोड़नेवाले, दैत्यों का नाश करनेवाले और धर्म तथा ब्राह्मणों का प्रतिपालन करनेवाले"। पाँचवें अध्याय में बताया जा चुका है कि इस समय राजा की स्थिति बड़ी ही कमजोर थी और उसके ऊपर जनता की संस्था 'समिति' का कड़ा नियंत्रण रहता था। अतः यह समझ प्रतीत नहीं होता कि इस समय के लोग करों के भार से पिसे जा रहे थे।

वैदिक युग के बाद और मौर्य कालके पूर्व बीचके समय की कर व्यवस्था के बारे में बहुत कम ज्ञान है। इस युग का कुछ हाल जातकों से मिलता है, पर उनसे भी इस विषय पर बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है। वे केवल यह बताते हैं कि अच्छे राजा केवल विधानसम्मत कर ही लेते थे और दुष्ट शासक नाना प्रकार के अवैध कर लगाकर प्रजाको इतना सताते थे कि वे कर वसूल

१ हापकिंस, 'इंडिया ओल्ड ऐंड न्यू' पृ० २४०।
२ वैदिक इंडेक्स, 'राजन्'।
३ शतपथ ब्रा. १ २ ३, ६।

करनेवाले कर्मचारियों के भय से भागकर जगल में शरण लेते थे[१]। इन उद्धरणों से कर व्यवस्था के वास्तविक रूप के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

मौर्य कालमें हमें निश्चित जानकारी प्राप्त होती है। अर्थशास्त्र, धर्मसूत्रों और स्मृतियों से पर्याप्त सामग्री मिलती है, जिनकी छानबीन तत्कालीन शिला और ताम्रलेखादि और यूनानी इतिहासलेखकों के विवरणों से भी की जा सकती है।

प्रारंभ में ही कर व्यवस्था के मूल सिद्धान्तों पर विचार कर लेना सुविधा जनक होगा। इस संबंध में स्मृतियों ने जो सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं, उनसे श्रेष्ठ और दोष रहित दूसरे शायद ही हो सकते हैं।

(१) कर न्यायोचित और सीमित होने चाहिये। अत्यधिक कर लेनेवाले राजा से जनता जितनी रुष्ट होती है उतनी और किसीसे नहीं[२]। माली फूल और फल तोड़ लेता है पर वृक्षको हानि नहीं पहुंचाता[३]। राजाको भी इसी भाँति कर उगाहना चाहिये कि प्रजाको कष्ट न पहुँचे। बकरी काट डालने से अधिक से अधिक एक दिन का आहार मिल जायगा पर उसे पालने से तो अनेक वर्षों तक नित्य दूधका लाभ होता है[४]।

(२) उचित कर की कसौटी यह है कि राजा और प्रजा, विशेषत कृषक और व्यवसायी, दोनों समझें को हमें अपने परिश्रम का उचित लाभ मिल रहा है[५]।

(३) वणिज और उद्योग में लाभ पर कर लगाना चाहिये आमदनी पर नहीं।

(४) किसी भी वस्तु पर कर एक ही बार लिया जाय दुबारा नहीं[६]।

---

१ जातक, ४ पृ ३६६, ५ ३८६, पृ १०३। २ पृ १७ कर वसूल करनेवाले, 'बलिसाधक' या 'बलिपतिग्राहक' पुकारे जाते हैं। इनमें वैदिक शब्द 'बलि' की परंपरा कायम चली आती है।

२ प्रद्विषन्ति परिख्यात राजानमतिखादिनम्। म भा, १२ ८७ ७९।

३ फलार्थी नृपतिर्लोकान्पालयेद्यत्नमास्थित। दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥ पचतन्त्र १ १४२।

४ प्रजामिव प्रजां हन्यायो मोहात्पृथिवीपति। तस्यैका जायते प्रीतिर्न द्वितीया कथंचन ॥ वही २४१।

५ विक्रय प्रयमध्वान भक्त च सपरिव्ययम्। योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥ मनु ७ १२७।

६ वस्तुजातस्यैकवार शुल्क ग्राह्य प्रयत्नत।

(५) यदि कर बढ़ाना आवश्यक हो जाय तो वृद्धि एकाएक नहीं प्रत्युत धीरे धीरे की जाय[1]।

(६) राष्ट्रपर संकट के अवसर पर ही अतिरिक्त कर लगाना चाहिये। जनता को भली भाँति स्थिति समझा देनी चाहिये ताकि वह स्वेच्छा से कर दे। राजा को कभी न भूलना चाहिये कि अन्य उपाय न रहने पर ही अतिरिक्त कर लगाया जाय[2]।

सभी लोग स्वीकार करेंगे कि उपर्युक्त सिद्धांत आदर्श हैं और आधुनिक युग के लिये भी उतने ही उपयुक्त हैं जितने प्राचीन युगके। इनका पालन कहाँ तक होता था इस पर भी आगे चलकर हम विचार करेंगे।

परिस्थिति के अनुसार नियमित कर में पूरी या अंशतः छूट देनेके बारे में भी बहुत ही न्यायसंगत व्यवस्था की गयी थी। अर्थशास्त्र और शुक्रनीति दोनों का मत है कि यदि कोई व्यक्ति अपने उद्योग से बेकार भूमिको कृषियोग्य बनावे या सरोवर आदि बनवा कर सिंचाई द्वारा भूमि की उत्पादन शक्ति बढ़ावे तो सरकार उसे नाममात्र का कर लेकर भूमि दे और धीरे धीरे उसे बढ़ाकर ४-५ वर्षों में साधारण स्तर पर लावे[3]। इस बातके पर्याप्त प्रमाण हैं कि प्राचीन काल से १८ वीं शताब्दी के अंत तक भारत में राज्य इस नीतिका अनुसरण करते थे[4]।

राजकीय सेना में नियमित रूप से पर्याप्त संख्या में सैनिक भेजनेवाले ग्राम भी कर से मुक्त कर दिये जाते थे।

गूँगे, बहरे, अंधे और अन्य अपाहिज व्यक्ति भी अपनी गरीबी के कारण कर से मुक्त किये जाते थे। यह भी कहा गया है कि गुरुकुल में विद्याध्ययन करनेवाले ब्रह्मचारी और वनों में तप करनेवाले तपस्वी भी कर से मुक्त किये जाने के अधिकारी हैं, क्योंकि इनकी कोई आमदनी नहीं थी। स्त्रियों को

---

1 अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत्।
ततो भूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धिं समाचरेत्॥
दमयन्निव दम्यानि शश्वद्भारं विवर्धयेत्॥ म. भा. १२. ८८, ७-८।

२ म. भा. १२-८७ २१-२२, शुक्रनीति ४. २. १०

३ अर्थशास्त्र ४ अध्याय ९, शुक्रनीति ४. २, १२२।

४ ए. क., ३ सेरिंगापट्टण सं. १४८, सौ. इं. ए. रि., १९१२ सं. २२१; इ. म. बे., भाग १ मदुरा सं. १ म.।

प्रारम्भिक कालमें सम्पत्ति का अधिकार बहुत कम था अतः उन्हें भी कर से मुक्त करने की सिफारिश की गई है[1]। बादमें जब उन्हें दायभाग मिला तो केवल निर्धन विधवाएँ और अनाथ स्त्रियाँ ही करमुक्ति के योग्य समझी गयी होंगी।

स्मृतियोंने 'श्रोत्रिय' (विद्वान् ब्राह्मण) को भी कर से मुक्त करने पर जोर दिया है[2]। आदर्श श्रोत्रिय का कर्तव्य अकिञ्चनता व्रत धारण कर विद्यार्थियों को निःशुल्क वेद शास्त्रादि की शिक्षा में ही जीवन लगा देना था। और प्राप्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वे वास्तव में इस कर्तव्य का पालन भी यथासाध्य करते थे अतः यह उचित ही था कि वे राज्य-कर से मुक्त किये जाय। विद्वान् ब्राह्मणों को कभी कभी सरकार से अग्रहार ग्राम भेंट में मिलते थे जिनके सरकारी कर वे आपस में बाँट लेते थे, इस अवस्था में उन्हें कुछ कर देना पड़ता था[3]। यह उचित भी था, क्योंकि *अब वे अर्थहीनता के आधार पर पूरी मुक्ति पाने के* अधिकारी न रह जाते थे। पर यदि ब्राह्मणों को इन ग्रामों से अपने हिस्से में मिलने वाला धन स्वल्प होता तो इस स्थिति में उन्हें सरकार पूरी मालगुजारी माफ कर देती थी[4]। मगर ऐसे करमुक्त श्रोत्रियों की संख्या बहुत कम रहती थी।

---

१ अकरः श्रोत्रियः। सर्ववर्णानां स्त्रियः। कुमाराश्च प्राग्व्यञ्जनेभ्यः। ये च विद्यार्थाः वसन्ति। तपस्विनश्च ये धर्मपराः। शूद्रश्च पादावनेक्ता। अन्धबधिरमूकरोगाविष्टाश्च। आप ध सूत्र ११ १० २६, १४ १७।

ए क , ४, चामराजनगर, सं १८९ और बेलूर सं २ इन लेखों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि इन सिद्धांतों का अनुसरण किया जाता था। बेलूर लेख में कहा गया है कि जीविका का साधन न रहने पर न केवल, पाँच वाराह कर देने से ही मुक्त की जाय वरन् उसे छ वाराहों की वृत्ति भी दी जाय।

२ म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्। मनु, ७ १३३

३ सिंदुपुर अग्रहार को १०० निष्क और केशवपुर अग्रहार को ११० निष्क मालगुजारी में देना पड़ता था। ए. क ५ चन्नराय पट्टण स १०५ और १०९।

४ इ म प्रे , भा १ पृ ७२ यहाँ पूरी मालगुजारी माफ की गयी सही पर बाद के राजाओं ने इसे न माना।

कुछ स्मृतियों ने पूरे ब्राह्मण वर्ग को ही कर से मुक्त करने का आदेश दिया है[1]। पर इस विषय में शास्त्रकारों में मतभेद दिखाई देता है। महाभारत में स्पष्ट कहा गया है कि जो ब्राह्मण अच्छे वेतन पर सरकारी पदों पर हों और जो वाणिज्य, कृषि या पशुपालन जैसी अर्थकारी वृत्ति में लगे हों, उनसे पूरा पूरा कर लिया जाय[2]। जब ब्राह्मण लेखक स्वयं भी इस विषय पर एकमत के नहीं हैं तो स्वभावतः राजाओं ने भी इस आदेशको अनिवार्य न माना होगा। फिर भी पूरे ब्राह्मण वर्ग के कर मुक्त किये जाने के उदाहरण यदा कदा मिलते हैं। परमार वंश के राजा सोमसिंह देव (अनु. १२३० ई.)[3] और विजयनगर के राजा अच्युतराय[4] के लेखों में सब ब्राह्मणों के कर से मुक्त किये जाने का वर्णन किया गया है। पर इन्हीं लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि यह एक असाधारण और नयी बात समझी गई, इसी लिए यह इन राजाओं के विशेष श्रेय का कारण भी माना गया। इससे पता चलता है कि ये दृष्टांत साधारण नियम नहीं उसके अपवाद के सूचक हैं।

इस बातकी पुष्टि दक्षिण भारत के कुछ लेखों से और भी पक्की तरह से हो जाती है, जिनमें कर न दे सकने के कारण ब्राह्मण भूस्वामियों की भूमि के नीलाम किए जानेका उल्लेख है। सन् १२१६ ई. के एक लेख से ज्ञात होता है कि व्यवहार भोगनेवाले ब्राह्मणों को भी बकाया भूमिकर पर ब्याज देना पड़ता था। यह बकाया भी तीन माससे अधिक न रखा जाता था, इस अवधि के

---

१ सर्व ब्राह्मणेभ्य करादानं न कुर्यात्। ते हि राज्ञो धर्मकरा।

विष्णु ३ २६

२ गोरक्षकान्वाणिजकांस्तथा कारुकुशीलवान्।
प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्राञ्छूद्रवदाचरेत् ॥ ...
...
...
अश्रोत्रियाः सर्व एते सर्वे चानाहिताग्नयः।
तान्सर्वान्धार्मिको राजा बलिं विष्टिं च कारयेत् ॥

म भा १२ ७६ ५ ७।

३ ए इ , ८ पृ २०८।

४ इ म प्रे मा , १ पृ २२ गुप्त शिलालेखों में भी ब्राह्मणों को पूरी करमुक्ति कभी कभी मिलने का वर्णन आता है; देखो, इ म प्रे, मा १ पृ १२

समाप्त होने पर न देनेवालों की भूमि बेचकर बकाया वसूल कर लिया जाता था[१]। एक अन्य लेखसे पता चलता है कि बकाया चुकाने के लिए कभी तीन महीने के एवम दो वर्ष तक मोहलत दी जाती थी, पर इसके बाद पूरा चुकता किये बिना जमीन नहीं बचायी जा सकती थी[२]। उत्तर भारत के इस प्रकार के उदाहरण नहीं मिले हैं पर यह मानना गलत न होगा कि पूरे ब्राह्मण वर्ग के कर मुक्त किये जाने के उदाहरण प्राचीन भारत में विरले ही थे। साधारणतः ब्राह्मणों को भी कर देना पड़ता था, सिवा विद्वान् ब्राह्मणों (श्रोत्रियों) के, जो निर्धन होते थे और जिन्हें राज्य से कोई वृत्ति भी न थी।

जिन देवालयों के पास विस्तृत भूमि थी, वे भी कर से मुक्त न थे। जिन मंदिरों की आय कम रहती भी उनसे आंशिक कर ही लिया जाता था, लेकिन जिनकी आमदनी काफी थी उनसे पूरा पूरा कर वसूला जाता था। राज्यकर चुकाने के लिये मंदिरों द्वारा अपनी भूमि के कुछ अंश बेचने के भी उदाहरण मिलते हैं[३]। कभी कभी तो बकाया लगान के लिये राज्य द्वारा ही मंदिरों की भूमि बेचे जाने के भी उदाहरण मिलते हैं[४]।

अब करों पर विचार करना चाहिये। भूमिकर ही राज्य की आय का मुख्य साधन था। उत्कीर्ण लेखों में इसका उल्लेख कभी 'भागकर' और कभी 'उद्रंग' नाम से किया गया है। स्मृतियों में कर की कोई एक ही दर नहीं निश्चित की गयी है, आठ फी-सदी से २५ फी सदी तक कर लेनेका निर्देश मिलता है[५]। भूमि की अच्छाई बुराई के कारण ही यह अंतर पाया जाता है। उदाहरणार्थ जब मनु एकही सांस में आठ, बारह या सोलह प्रतिशत भाग कर में लेनेका निर्देश करते हैं,[६] तब यह स्पष्ट है कि भूमि की किस्म के अंतर को ध्यानमें रखकर ही उन्होंने यह निर्देश दिया है। कुलोत्तुंग चोल ने कर के हिसाब के लिये भूमि को आठ श्रेणियों में विभाजित किया था[७]। भिन्न भिन्न राज्यों में करकी भिन्न भिन्न दर होने या एक ही राज्य द्वारा आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न समय पर भिन्न

१ ए क , ५ अर्सिकेरा सं १२८।
२ इ म प्रे मा २ पृ ११४५
३ सो इ ए रि , १८९० सं ४०
४ इ म प्रे , मा २ पृ १२२२
५ मनु ८ ११० , गौतम १० २४ २७, अर्थशास्त्र ५–२।
६ धान्यानामष्टमो भाग षष्ठो द्वादश एव वा। ८ १३०।
७ इ म प्रे , १ पृ १२९–१३०

भिन्न दरसे कर लगाये जाने के कारण भी, स्मृतियों में इस विषय में भिन्न भिन्न निर्देश मिलते हैं[१]। फिर भी साधारण परिपाटी उपज का छठा भाग ही भूमिकर के रूप में लेने की थी। बंगाल[२] और बुंदेलखंड तथा बहुधा अन्यत्र भी कर एकत्र करनेवाले कर्मचारियों का नाम ही 'षड्भागिकृत' पड़ गया था।

पर महत्वाकांक्षी राज्यों के लिए १६ प्रतिशत भूमिकर पूरा न पड़ता था। अर्थशास्त्र[३] और यूनानी लेखकों[४] के विवरण से ज्ञात होता है कि मौर्य शासन में भूमिकर कृषक की आय के २५ प्रतिशत के हिसाब से लिया जाता था, अशोक ने भगवान् बुद्ध के जन्मस्थान लुम्बिनी ग्राम में विशेष रियायत स्वरूप यह दर आधी (अर्थात् उपजका आठवाँ भाग) कर दी थी[५]। चोल शासनमें साधारण भूमि पर २० प्रतिशत और सरोवर सिंचित धान उत्पादन करनेवाली भूमि पर ३३ प्रतिशत लिया जाता था[६]। राजाधिराज चोल के राज्य में मंदिरों को रियायत के स्वरूप १० प्रतिशत कर देना पड़ता था, अर्थात् साधारण भूमि कर इससे अधिक सम्भवतः २० से ३० प्रतिशत रहा होगा।

यह कहना कठिन है कि सरकार खेत में होनेवाले पूरे गल्लेका छठवाँ भाग लेती थी या खर्च से बची हुई उपज का। जातक कथाओं में फसल बटोरते समय सरकारी कर्मचारियों या बलिपतिगाहकों का उपस्थित रहने का वर्णन है इससे पता चलता है कि समूची उपजका ही भाग लिया जाता था[७]। पर इसका भी कोई प्रमाण नहीं कि राज्य कर लेते समय कृषिका खर्च बाद न करता रहा हो खासकर जब उसकी दर इतनी ऊँची २५ या ३३ प्रतिशत रही हो। शुक्रनीति, जो ३३ प्रतिशत की अनुमति देती है स्पष्ट कहती है, कि कृषक को जितना भूमिकर और कृषिका खर्च देना पड़ता है कमसे कम उसका दूना उसे मिलना चाहिए

१ षड्भागमुपलहाया याथवा प्रजानां पीडा न स्यात् तावदेव प्रजापालन-स्यावश्यकत्वात् ॥ स्मृतिरत्नाकर पृ ६२।

२ सेन 'इंसक्रिप्शन्स फ्रॉम बंगाल' सं १।

३ भा २ अ १। ४ ऐंशेंट इंडिया ऍज डिस्क्राइब्ड बाय मेगास्थेनीज़।

५ हिद भगवा जाते ति लुंबिनिगामे उबलिके कटे अठभागिय च। (रुम्मिनदेइ शिलालेख)

रामायण ३ ।६।१४ में भी २५ प्रतिशत का विधान है।

६ ए. क., भा. १० मुलबागल सं ४९ क और १०७।

७ भा. २ पृ ३७८।

आयके रूपमें मिलना चाहिये[1] । इससे प्रतीत होता है कि सरकार का भाग पूरे उत्पादन का लगभग १६ प्र श और आय का २१ प्र श होता था । प्रकृतिजन्य कारणों से क्षतिग्रस्त होने पर, यथा समुद्र के बढ़ाव से क्षति बढ़ाई होने आदि पर, परिस्थिति के अनुसार सरकार कर में भी छूट देती थी[2] पर इस प्रकार की स्थितिमें कर मे सुविधा अपने आप भी मिल जाती थी, कारण कर तो उत्पादित अनाज का ही एक अंश होता था अतः यदि उत्पादन कम होता था तो कर भी उसी हिसाब से कम हो जाता था ।

भूमिकर अनाज के रूप में ही लिया जाता था यह सिद्ध करने के लिए प्रचुर प्रमाण हैं । भागकर नाम ही इस बातका सूचक है कि यह खेत में होने वाली फसल का ही एक भाग था । जातकों में कर एकत्र करने वाले कर्मचारी को 'द्रोणमापक' अभिधान दिया गया है, जिसका अर्थ 'द्रोण की माप से अनाज नापने वाला' होता है । जातकों मे ऐसे भी धर्मभीरु व्यक्तियों की कथा है जो अपने ही खेत से एक मुट्ठी धान की बाली तोड़ लेने पर पछतावा करते देखे जाते हैं कि इससे राजा अपने भाग से वंचित हो जाता है[3], अपराध में ऐसे अवसर पर जुर्माने का भी विधान है[4] । स्थान स्थान पर राज्य की विशाल राशियाँ या कोठियां होती थीं, जहाँ भूमिकर में मिले अन्न का संचय किया जाता था । इसकी देखरेख राजकीय अधिकारी करते थे जो घुन लगने या सड़ने के पूर्व ही इसकी निकासी की व्यवस्था करते थे[5] ।

कुछ लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि ९ वीं शताब्दी के बाद कहीं कहीं भूमिकर नकद भी वसूल किया जाता था । युक्तप्रांत के १० वीं शताब्दी के एक गुर्जर प्रतिहार दान पत्र में एक गाँवका आमदनी में से ५०० मुद्रा किसी देवालय के लिए लगाये जानेका वर्णन है[6] । [इसी कालके उड़ीसा के एक लेखमे ४२ 'रूपयों' (चाँदी के सिक्के) की आमदनी के एक गाँव के दानका विवरण है[7] । राजराजेश्वर मंदिर के ११ वीं शताब्दी के दो अभिलेखों में ५ ग्राम

---

१ राजभागादिव्ययतो द्विगुणा लभ्यते यत ॥
कृषिकृत्यं तु तच्छ्रेष्ठं तन्न्यून तु सद् नृणाम् ॥ ४ २ ११५ ।

२ इ म प्रे , १ पृ ३२६ ।

३ मा २ पृ ३७८ ।

४ मा २ क २२ ।

५ शुक्रनीति, ४ २ १६-३ ।

६ इ ऐ., १६ १७४ ।

७ एपि, इ, १२ पृ २० ।

की आमदनी का विवरण दिया गया है, इनमें से ३० ग्रामों में सरकारी कर अनाज के रूपमें ही, प्रति 'वेलि' १०० 'कलम' धान के हिसाब से, लिया जाता था, पर ५ ग्रामों में यह सिक्कों में १० स्वर्ण कलंजु प्रति 'वेलि' की दर से लिया जाता था[1]। इससे प्रतीत होता है कि ९ वीं शताब्दी के आस पास नकद कर लेने का प्रारंभ हुआ। पर ऐसे उदाहरण विरल ही हैं।

भूमिकर नकद लिये जाने की अवस्था में यह अवश्य ही दो किस्तों में शरद और वसंत ऋतुओं फसल बटोरते समय लिया जाता रहा होगा[2]। गुजरातके एक लेखसे ज्ञात होता है कि कभी कभी राष्ट्रकूट शासन में यह तीन बार में एकत्र किया जाता था[3]।

भूमिकर का प्रमाण समय समय पर बदलता था। स्मृतियों ने राज्य को आवश्यकतानुसार इसके वृद्धि की भी गुंजाइश रखी है। साथ ही सिंचाई की नहर तय्यार होने पर कर में कमी करना भी आवश्यक थी। बनवासी के एक उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि ऐसे अवसरों पर सरकार अपने कर्तव्यपालन से विरत न होती थी[4]।

भूमिकर न चुकाने पर एक निश्चित अवधि के बाद, जो समय और स्थान के अनुसार भिन्न भिन्न थी, भूमि बेच दी जाती थी। राजेंद्र चोलके[5] समय यह अवधि ३ साल की थी, कुलोत्तुंग[6] ने इसे घटा कर दो वर्ष कर दिया था बकाया रकम पर व्याज भी लगाया जाता था। पहले दिखलाया जा चुका है कि ब्राह्मणों की और मंदिरों की भूमि भी कर न देने के कारण जप्त कर ली जाती थी। पर आश्चर्य की बात है कि स्मृतियों में कहीं भी राज्य द्वारा नादेहन्दों की भूमि जप्त करने के अधिकार का उल्लेख नहीं है। क्या यह अधिकार ६०० ई० के बाद ही अस्तित्वमें आया?

यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार करना है कि कृषियोग्यभूमि का स्वामी कौन होता था। यदि भूमि का स्वामी राज्य था तो कृषक से लिये जानेवाले धनको मालगु

---

१ सौ इ इ भा २ सं ५ और ९।

२ भट्टस्वामी (अर्थशास्त्र २, १५) और कुल्लूक (मनु ८, २०७) ने इस प्रणाली का प्रतिपादन किया है।

३ इंडि एंटि, १३ पृ ६८।

४ ए क ८ सोराब स ८३।

सौ इ इ, ३, स ४। ६ ई म प्रे, भाग २ पृ १२४९

भागी मानना पड़ेगा, भूमिकर नहीं। पर यदि भूमि का स्वामी कृषक था तो इसे भूमिकर कहना होगा।

आजकल की भाँति प्राचीन कालमें भी इस प्रश्न पर मतभेद था। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि भूगर्भ की निधियोंका स्वामी राजा है क्योंकि वह भूमि का भी *अधिपति* है[1]। इससे केवल कृषियोग्य ही नहीं सब प्रकार की भूमि पर राजाके स्वामित्व का समर्थन होता है। अर्थशास्त्र के टीकाकार भट्टस्वामी ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि भूमि और जलाशयों पर राजा का ही स्वामित्व है[2] इतर व्यक्ति का नहीं। डायोडोरस का भी कथन है कि भारतमें भूमि का स्वामी राजा ही माना जाता है, कोई व्यक्ति मालिक नहीं माना जाता। उपर्युक्त इन तीन मतों के विरुद्ध, जो इस विषय में *निश्चयात्मक नहीं माने जा सकते*,[3] हमारे सामने पूर्व मीमांसा की स्पष्ट उक्ति है जिसमें कहा गया है कि कुछ यज्ञों के अंत में राजा द्वारा सर्वस्व दान का विधान है पर इस अवसर पर राजा प्रजा की निजी भूमि दानमें नहीं दे सकता[4]। अर्थशास्त्र भी

---

1 निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ।
अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ८ ३९।

2 राजा भूमेः पतिर्दृष्टो शास्त्रज्ञैरुदकस्य तु।
ताभ्यामन्यत्तु यद्द्रव्यं तत्र स्वाम्यं कुटुम्बिनाम् ॥ भा २ अध्याय २४

3 संभव है कि भूगर्भस्थ निधियों का स्वामित्व सिद्ध करने के लिए ही मनु ने समस्त भूमि पर राजा का आधिपत्य प्रतिपादित किया हो। भट्टस्वामी का आशय भी साधारणतः जल और स्थल पर राजा का आधिपत्य प्रतिपादित करना था जैसे आजकल जल स्थल और आकाश में राज्य का आधिपत्य माना जाता है। राजकाय भूमि से ही यूनानी लेखकों ने समस्त भूमि पर राजा के स्वामित्व की कल्पना कर ली हो। इस संबंध में युवान च्वांग के मत का पता उसके यात्रा विवरण से नहीं चलता। देखिये भाग १ पृ १७६।

4 न भूमिः सर्वान् प्रति अविशिष्टत्वात्। पू० मी० ६ ७ ३ इस पर का शाबरभाष्य ऐसा है —

य इदानीं सार्वभौमः स तर्हि भूमिं दास्यति।
सोऽपि नेति ब्रूमः। कुतः।
सार्वभौमत्वे त्वस्यैतदाधिक्यं यदसौ पृथिव्यां सम्भूतानां व्रीह्यादीनां रक्षा-
णेन निर्दिष्टस्य कस्यचिद्भागस्येष्टे न भूमेः।

राजकीय भूमि और प्रजाकी व्यक्तिगत भूमि में स्पष्ट अंतर करता है[१]। नारद भी कहते हैं कि राजा जनता के गृह और क्षेत्र के स्वामित्व में हस्तक्षेप न करे अन्यथा इससे पूरी अव्यवस्था फैल जायगी[२]। नीलकण्ठ भी व्यवहारमयूख में स्पष्ट कहते हैं कि यद्यपि राजा समस्त पृथिवी का अधिपति है, फिर भी क्षेत्र आदि (खेत) का स्वत्व जनता का ही है राज्य का नहीं[३]।

प्रागैतिहासिक कालमें भूमि पर पूरे समाज का स्वामित्व माना जाता था, इसका पता कुछ आचार्यों के इस मत से चलता है कि पूरे ग्राम, गोत या बिरादरी की अनुमति से ही भूमि बेची या हस्तांतरित की जा सकती है[४]। भूमि के इस समाजगत स्वामित्व का यह अर्थ नहीं कि समाज सरकार द्वारा किसी व्यक्ति की भूमि छीन सकता था, इससे तो केवल भूमिके हस्तांतरित किये जानेपर एक रोक सी रहती थी ताकि कोई अवांछनीय व्यक्ति ग्राम में न आ जाय। यह ध्यान में रखना चाहिये कि वैदिककाल मे राजा भी कोई भूमि दानमें तभी दे सकता था जब पड़ोसी उसमें आपत्ति न करें[५]।

प्रागैतिहासिक कालमें समाजगत स्वामित्व का प्रभाव ऐतिहासिक कालमें दो बातों के रूप में देख पड़ता है। भूमिकर न देने पर भूस्वामी को उसकी भूमि से हटा सकने का राज्य का अधिकार मकानदार के किराया न देनेवाले किरायेदार को हटा सकने के अधिकार के समान है। यह स्पष्ट सिद्ध करता है कि पहले राज्य सब भूमि का स्वामी था। ऐतिहासिक काल में भी ऊसर जंगल और खानों पर राज्य का अधिकार पूर्व काल के उसके समस्त भूमि पर स्वामित्व के ही आधार पर था।

---

१ भाग २ अध्याय २३।

२ गृहक्षेत्रे च [redacted] द्वे वासहेतु कुटुम्बिनाम्।
तस्मात्ते नाक्षिपेद्राजा सर्वेराधिपतिर्हि सः ॥ ३ ४२।

३ तद्ग्रामक्षेत्रादौ स्वत्व तु तत्तद्भौमिकानामेव। राज्ञां तु करग्रहणमात्रम्।
अतएव इदानींतनपारिभाषिकक्षेत्रदानादौ न भूदानसिद्धि।
किंतु वृत्तिकल्पनामात्रमेव।

व्यवहारमयूख, स्वत्वागम अध्याय।

४ स्वग्रामज्ञातिसामन्तदायादानुमतेन च।
हिरण्योदकदानेन षड्भिर्गच्छति मेदिनी। मिताक्षरा याज्ञ २ ११२।

५ शत ब्रा १ ७ ३ ४, ८, १ १ ८।

इस बात के निश्चित और प्रबल प्रमाण हैं कि ६०० ई० पू० के बाद से कर न देने की अवस्था को छोड़ कर शेष किसी भी स्थिति में सरकार किसी भी व्यक्ति की भूमि नहीं छीन सकती थी। लोगों को अपनी भूमि दान करने बेचने या बंधक रखने की पूरी आजादी थी। अम्बपाली और अनाथपिंडिक ने बौद्ध संघ को वैशाली और श्रावस्ती में विस्तृत भूमि दान दी थी। जातक में भी मगध के एक ब्राह्मण द्वारा अपनी भूमि दूसरे को देने का उल्लेख है[1]। उत्कीर्ण लेखों में भी अनेक व्यक्तियों द्वारा बिना सरकार की ओर से किसी बाधा या आपत्ति के अपनी भूमि के दानों के बहुत से उल्लेख मिलते हैं[2]।

इसमें संदेह नहीं कि उत्कीर्ण लेखों में राज्य द्वारा ब्राह्मणों या देवालयों को पूरे गाँव दान में दिये जाने के उदाहरण मिलते हैं, पर इससे कृषियोग्य भूमि पर राज्य का स्वामित्व नहीं सिद्ध होता। कारण इन दोनों को राज्य को मिलनेवाले कर, जिनमें भूमिकर भी शामिल है, अपने लिये लेने का ही अधिकार दिया जाता था, इससे गाँव में रहनेवाले व्यक्तियों को निजी भूमि के स्वत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। दानपत्रों में लोगों से अपनी भूमि छोड़ देने को कभी नहीं कहा जाता, उनसे केवल यही कहा जाता है कि दान पाने वाले व्यक्ति का यथोचित सम्मान करें और राज्य अधिकारी को जो कर दिये जाते थे वे उसे दिये जायँ। भविष्य में आनेवाले शासकों को गाँव की भूमि पर कब्जा करने से नहीं वरन् गाँव से कर उगाहने को बरजा जाता है[3]।

कभी कभी राज्य द्वारा भूमिदान के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं, पर इनमें पूरा ग्राम नहीं वरन् उसमें स्थित भूखण्ड, जो कभी कभी छितरे भी रहते हैं, दान किये जाते हैं। यथा, मकमी के भुवसेन एक ग्राम के देवालय को १६० पादावर्त भूमि देना चाहते थे, इसमें उन्होंने ग्राम के उत्तर पश्चिम में स्थित चार टुकड़े और उत्तरपूर्व के चार टुकड़े जिनका माप ३०० पादावर्त था और ४० और २० पादावर्त के दो खेत कुएँ से सींचे जानेवाले दिये[4]। यदि राजा

---

१ जा ४, पृ० २८१।

२ एपि इ, ८ नासिक सं० ११।

३ ते यूयं समुचितभागभोगकरहिरण्यादिप्रत्यायोपनयनं करिष्यथ आज्ञाश्रवणविधेयाश्च भविष्यथ। कॉ इ इ भा ३ पृ ११२।
देखिये खोह ताम्रपत्र, वही पृ १२६ १३२। पाली दानपत्र, एपि इ, २ पृ ३०४, बाह दानपत्र, एपि इ, १६ पृ १९।

४ एपि इ, ३ पृ ३२१।

ग्राम की पूरी भूमि का स्वामी होता तो वह १६० पादावर्त का पूरा एक चक ही दे सकता था और पानेवाला भी यही पसंद करता। पर ऐसा न करने का कारण यही हो सकता है कि राजा या सरकार के अधिकार में गाँव के कुछ थोड़े से खेत थे, जो उसे उत्तराधिकारी न रहने या कर के बकाया में मिल गये थे। आजकल की भाँति प्राचीन कालमें भी प्रत्येक ग्राम में कुछ भूमि राज्य के अधिकार में रहती थी, इन्हें कुछ लेखों में 'राज्य-वस्तु' कहा गया है[1]। जब राजा भूमिदान करना चाहते थे तो यही राजकीय खेत दे देते थे[2]। जब 'राज्यवस्तु' में कोई खेत न होते तो वे खरीद कर भूमि दान करते थे, एक लेख में एक वैदुम्ब वंशी राजा द्वारा (९५० ई) ग्राम सभा से ३ वेलि भूमि खरीद कर देवालय को दिये जाने का वर्णन है। कुछ चोल लेखों में भी ऐसे ही उदाहरण मिलते हैं जिनमें राज्य की अपनी भूमि न होने पर अन्य व्यक्तियों से खरीद कर दान किये गये थे[3]।

कुछ अन्य लेखों से उपर्युक्त बात और भी स्पष्ट हो जाती है। एक लेख में दक्षिण के राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष (८५० ई०) द्वारा तलेयूर ग्राम और उसीमें स्थित एक ५००×१५० हाथों की फुलवारी के दान का वर्णन है[4]। एक अन्य लेख में सम्राट् गोविंदचन्द्र (११५० ई० युक्त प्रांत) द्वारा छोल्लिपाद ग्राम और उसमें स्थित 'तिवायी' नामक खेत के दान का उल्लेख है[5]। यदि ग्राम के दान से ग्राम की पूरी भूमि के दान का अर्थ होता तो, उसमें के किसी खेत या फुलवारी के अलग दान के उल्लेख की क्या आवश्यकता थी!

अतः निश्चित प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि कम से कम उत्तर बौद्ध काल में कृषियोग्य भूमि का स्वामित्व जनता का ही था और राज्यकर न देने के

---

१ वेंकलूरग्रामे राज्यवस्तुभूत्वा स्थित क्षेत्र " ब्राह्मणाय प्रदत्तम्।
एपि इ पृ २२१।

२ छोटे छोटे टुकड़ों के दान के लिए देखिये इ पै ६ पृ १०२ (आंध्र देश, सातवीं सदी), एपि इ २ पृ० २६०२ (मध्यप्रांत ५ वीं सदी), इ पै. १ पृ० ७६ (तामिल देश ८ वीं शताब्दी), एपि इ ९ पृ० २९ (मैसूर १० वीं सदी), इ पै ६ पृ० २०३ गुजरात १२ वीं सदी)

३ ए० रि इ इ, ३ पृ १०४६।

४ एपि इ ४ पृ० २९,

५ वही ४ पृ० १०२४,

सिवा और किसी कारण से इस स्वत्व का अपहरण न हो सकता था। अत राज्य को मिलने वाली रकम भूमि कर या भूमि का किराया नहीं।

अब हम दूसरे करों की ओर दृष्टिक्षेप करेंगे। कृषि की भाँति वाणिज्य और उद्योग को भी अपने योग्य करों का भार उठाना पड़ता था। व्यापारियों को ग्राम या नगर में आनेवाली वस्तुओं पर चुंगी देनी पड़ती थी। इसका औचित्य भी था कि राज्य को सड़कों की मरम्मत और सुरक्षा पर बहुत खर्च करना पड़ता था[1]। यह चुंगी नगर या ग्राम के प्रवेश द्वार पर 'शौल्किक' नामक कर्मचारियों द्वारा वसूल की जाती थी[2]। स्थान स्थान की प्रथानुसार यह शुल्क पैसा या पदार्थों में दिया जाता था। स्मृतियों के निर्देशों से प्रतीत होता है कि चुंगी पदार्थों के रूप में ही ली जाती थी[3], कभी कभी तो कुछ लेखों में किसी स्थान पर शुल्क में मिलने वाले घी, तेल, कपास, पान आदि की वास्तविक संख्या भी दी गयी है[4]। मुद्रा में भी चुंगी एकत्र की जाती रही होगी, सोना, चाँदी, और रत्नों पर तो अवश्य ही नकद चुंगी लगती रही होगी। कभी कभी उत्कीर्ण लेखों में चुंगियों की आय से दान का उल्लेख मिलता है[5], इससे भी सिद्ध होता है कि दोनों को अधिकार था कि चुंगी पदार्थों के रूप में दें या मुद्रा में।

वस्तु के अनुसार चुंगी की दर भी पृथक् पृथक् थी, जैसा आजकल होता है। मनु ने ईंधन, मांस, मधु, घी, गंध, औषधि, फूल, शाक, मिट्टी के बर्तन और चमड़े के सामान पर १६ प्र० श० चुंगी लेने की अनुमति दी है। अर्थशास्त्र ने इन पदार्थों पर इससे कम, माने ४ या ५ प्र० श० लेने का आदेश दिया है। सूती वस्त्र पर भी इतना ही शुल्क था पर मदिरा और रेशमी वस्त्र पर ६ से १० प्र० श० लिया जा सकता था[6]। अस्तु, यह स्पष्ट है

---

१ मार्गसंस्कारार्थं मार्गोत्थं फलं हरेत्। शुक्र ४ २ २१

२ इ० ऐ० २२ पृ० १८ (कुमायूँ ६ वीं शताब्दी) मजूमदार ईस बगाल स १ (बंगाल ८ वीं शताब्दी)

३ आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्। गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च॥ मनु ७-१३१। और भी शुक्र ४ २ १२१, अर्थशास्त्र २ २२ देखिये।

४ एपि इ ३ पृ ३६।

५ एपि इ १ स १४।

६ म० ७, १३१—२।

कि राज्य की नीति और आवश्यकता तथा समय और स्थान के अनुसार चुंगी की दर बदलती रहती थी। स्मृतियों में उल्लिखित वस्तुओं पर चुंगी वसूले जाने का प्रमाण उत्कीर्ण लेखों में भी मिलता है पर इसकी दर नहीं बतायी गयी है[1]।

चुंगी के साथ ही यात्री, माल, मवेशी और गाड़ियों को नदी आरपार ले जाने के लिए एक नौका कर भी लगता था। यह कर बहुत अल्प था।

चुंगी, जकात, और नौका कर के अतिरिक्त वाणिज्य को कुछ और भी कर भार वहन करना पड़ता था। कुछ राज्यों में माप और तौल की जाँचकर उन्हें मुहर लगा कर प्रमाणित किया जाता था और इसके लिए कुछ शुल्क कर देना पड़ता था[2]। उत्कीर्ण लेखों में बहुधा दूकान कर का भी उल्लेख है यद्यपि स्मृतियों में यह विरल ही है। यादव काल में दक्खिन प्रान्त में इसका चलन था[3]। दक्षिण भारत में पांड्य[4] राज्यमें इसकी दर ६ पणम् प्रति वर्ष, और गुर्जर प्रतिहार राज्य में दो विंशोपक प्रतिमास था। ऐसा जान पड़ता है कि यह एक हल्का कर था जो छोटे नगरों और ग्रामों में दूकानों पर लगाया जाता था। मेगास्थनीज ने बिक्री की रकम पर किए १० प्र० श० कर का जिक्र किया है, वह अर्थशास्त्र या स्मृतियों में नहीं पाया जाता। संभव है कि भ्रम वश मेगास्थनीज चुंगी को ही बिक्री कर समझ बैठे हों।

अब उद्योग धंधों पर लगनेवाले करों का विचार करना है। जहाँ तक बढ़ई और लुहार जैसे छोटे मोटे कारीगरों का संबंध है उन्हें महीने में एक या दो दिन सरकार के लिए काम करना पड़ता था[5]। सरकार यह अधिकार अधिकतर स्थानीय संस्थाओं को दे दिया करती थी ताकि सार्वजनिक निर्माण कार्य में इसका उपयोग हो सके। उत्कीर्ण लेखों में इसे 'कारुकर' (कारीगर-कर) कहा गया है। इसमें संभवतः नाई, धोबी, सुनार, और कुम्हार भी शामिल थे।

---

१ अर्थशास्त्र भा० २-२२।

२ अर्थशास्त्र भा० २ १९।

३ इं० ऐ० १२ पृ० १२७।

४ ए० इं०, ३ सं० २१।

५ पहले के स्मृतिकार मनु (७ १३८) और विष्णु (३ ३२) आदि महीने में एक दिन काम लेने का आदेश देते हैं पर बाद के स्मृतिकारों, शुक्र आदिने इसे बढ़ाकर दो दिन कर दिया।

विजय नगर साम्राज्य में बुनकरों को प्रति करघा १२ पणम् कर देना पड़ता था[1]। संभव है कि पहले भी यही परिपाटी रही हो।

सुरा के व्यापार पर राज्य का कड़ा नियन्त्रण था। सुरा राजकीय सुरालयों में भी बनायी जाती थी और व्यक्तिगत सुरालयों में भी। इन्हें ५ प्र श आबकारी कर देना पड़ता था[2]।

सब खानें राजकीय सम्पत्ति समझी जाती थीं। कुछ तो सरकार स्वयं खुदवाती थी और कुछ ठेकेपर दे दी जाती थीं। ठेकेदार को खानसे निकलने वाले द्र पर भारी कर देना पड़ता था। शुक्र सोने और हीरे पर ५० प्र श, चाँदी और ताँबेपर ३३ प्र श और अन्य धातुओं पर १६ से २५ प्र श कर लेने की अनुमति देते हैं[3]। स्मृतियों में सोने पर जो २ प्र श कर लिखा गया है[4] वह बहुधा चुंगी या आबकारी नहीं।

नमक पर भी आबकारी कर लिया जाता था। नमक की खानें या तो सरकार खुदवाती थी या उसकी अनुमति से कोई अन्य। ग्रामों के दानपत्रों में दान पानेवाले को अक्सर बिना कोई शुल्क दिये धातु या नमक के लिए खुदाई करने का अधिकार भी दिया जाता था[5]।

पशुपालन भी एक प्रमुख व्यवसाय था विशेषकर प्राचीन या वैदिक काल में, अत इसे भी अपना भाग राज्य को अदा करना पड़ता था। मनु ने पशुधन पर २ प्र० श० कर की अनुमति दी है[6], यह २ प्र० श० संभवत पूरे यूथ में जितनी वृद्धि हुई हो संभवतः उसीसे लिया जाता था। शुक्र ने ६ से १२ प्र० श० की राय दी है, यह भाग सालभर में था। उत्कीर्ण लेखों से एक नी प्रणाली का पता चलता है, इसमें यूथ में जितने पशु होते थे प्रति पशु नकद रकम प्रति वर्ष दी जाती थी[7]।

---

१ इ म प्रे १, पृ ५०।

२ अर्थशास्त्र, भा० २ अध्याय २५।

३ ४ २ ११८–९।

४ विष्णु ३ २४।

५ इ पे १८ पृ ३४–५।

६ भा० ७ ११०।

७ वीरपाण्ड्य के राज्य में (१२५० ई) ५० भेड़ों, १० गायों या ५ भैंसों पर १ पणम् प्रतिवर्ष लिया जाता था। पणम् आजकल के ६ आने के बराबर एक चाँदी का सिक्का था।

जिन चुंगी और आबकारी करों का अब तक उल्लेख किया गया है उनके लिए शिलालेखों में एक ही सारगर्भ शब्द 'भूतोपात्तप्रत्याय' प्रयुक्त होता था। अर्थात् 'भूत' जो कुछ अस्तित्व में आया या बनाया गया हो और 'उपात्त' जो कुछ बाहर से लाया गया हो, उस पर लिया जाने वाला कर[1]। कभी कभी चकात या चुंगी के लिए केवल शुल्क का प्रयोग होता था[2]।

प्राचीन कालमें 'विष्टि' (बेगार) का भी काफी चलन था। यह उचित समझा जाता था कि जो गरीब आदमी नकद या धान्यादि के रूप में सरकार का कर देने में समर्थ न थे वे शारीरिक श्रम के रूप में राज्य को कुछ कर दे दें। उन्हें प्रतिदिन तो काम मिलता न था अतः उनसे मास में एक दो दिन सरकार के लिए काम लेने में कोई अनौचित्य न समझा जाता था[3]। सरकार के लिए विष्टि करते समय वे सरकार से भोजन पाने के अधिकारी थे[4]।

सरकार के अधिकारी जब देहात में दौरे पर जाते थे, तब यह बेगार की जाती थी[5]। अन्यथा स्थानीय संस्थाओं को गांव या नगर के सार्वजनिक उपयोगी कामों में इस श्रम का उपयोग करने का अधिकार दे दिया जाता था।

बेगार एक अप्रिय प्रथा है। युवान च्वांग के समय (ई स ६३० कहीं कहीं इसका चलन ही न था और अन्यत्र भी इससे बहुत ही कम काम लिया जाता था[6]। अधिकारियों का दौरा रोज रोज तो होता न था, इसलिये सड़क, धर्मशालाओं तथा सरोवरों आदि की मरम्मत और निर्माण में ही जो लोग इन कार्यों के लिये चंदा न दे सकते थे उनसे बेगार ली जाती थी। इन कार्यों से सर्व साधारण जनता का ही लाभ होता था।

---

१ एपि इ ६, पृ २१, ई ऐं १२ पृ १६१, ५ पृ १५०, आल्तेकर, राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ २२८-९।

२ इ ए १२ पृ २६४, १६ पृ २४।

३ गौतम २ १ ३१, मनु ७ १३८ और विष्णु ३ ३२, केवल एक दिन की बेगार की अनुमति देते हैं, शुक्र दो दिन की।

४ भक्तं च तेभ्यो दद्यात्। गौ ध सू २ १ ३१।

५ उत्तरी भारत के लेखों में 'रुकचक' कर का उल्लेख है। इसका अर्थ संभवतः दौरा करनेवाले अधिकारियोंका सामान ढोना था। एपि इ, २ पृ २६६।

६ वॉटर्स, भाग १ पृ १७६।

राज्यकाल में सरकारी कर्मचारियों के ग्राम में आगमन पर ग्रामवासियों को उनके रहने और भोजन का व्यय देना पड़ता था, इसके लिए सबसे चंदा लिया जाता था[1]। इनके घोड़ों के लिए दाना और घास देना पड़ता था तथा इनकी यात्रा के लिए अगली मंज़िल तक सामान पहुँचाने के लिए भारवाहक पशुओं का भी प्रबंध करना पड़ता था[2]।

नियमित करों के अतिरिक्त आकस्मिक संकट उपस्थित होने पर या साम्राज्य विस्तार की योजनाओं के लिए साधन जुटाने के लिए प्रजा से विशेष कर भी लिये जाते थे। महाभारत तो ऐसे अवसरों पर भी विशेष कर लगाने के विरुद्ध है पर बड़ी अनिच्छा से कहता है कि कभी कभी इसके सिवा दूसरा उपाय भी नहीं रहता है। यह इस बात पर ज़ोर देता है कि ऐसे अवसरों पर विशेष प्रचारक भेजे जायँ जो जनता को नये कर का औचित्य समझाकर उसे कर देने के लिए राज़ी कर सकें[3]। अर्थशास्त्र में इन विशेष करों को 'प्रणय' या भेंट का नाम दिया गया है और कहा गया है कि किसानों से २५ प्र० श० और व्यापारियों से उनकी हैसियत के अनुसार ५ से ५० प्र० श० तक लिया जाय[4]।

प्राचीन लेखों में इन विशेष करों का उल्लेख मिलता है। रुद्रदामन ने अपने लेख में गर्वोक्ति की है कि विशाल सुदर्शन झील बिना प्रजा से विशेष कर या बेगार लिये बनवायी गयी। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के विशाल निर्माण कार्य के लिए विशेष कर लेने की प्रथा थी। वीर राजेंद्र ने बेंगी के चालुक्यों के विरुद्ध अपने युद्ध का साधन जुटाने के लिए प्रति वेलि भूमि पर कल्जु सुवर्ण का विशेष कर लगाया था[5]। गहड़वाल राज्य में लिया जानेवाला 'तुरुष्क दंड' भी इसी प्रकार का एक विशेष कर था जो संभवतः मुसलमानी आक्रमण का सामना करने के लिए सैन्य संग्रह हेतु लगाया गया था[6]।

---

१ राजसेवकानां वसतिदण्डप्रयाणदण्डौ न स्त । इ ऐ १४ पृ ३१।
२ अचारपरंगोबलिवर्द । वाकाटक दान पत्र ।
३ शांति० ८७ २६–३६ ।
४ अर्था ५ अ २ ।
५ सौ इ ए रि १९२०/सं० ३२० ।
६ एपि इं १४ पृ १९३ ।

८१ अन्त में प्राचीन भारत की कर व्यवस्था वास्तविक व्यवहारमें कहाँ तक न्यायसंगत और औचित्य पूर्ण थी इसका विचार करना जरूरी है। हम देख चुके हैं कि स्मृतियों में कर व्यवस्था के जो सिद्धांत प्रतिपादित किये गये हैं वे अत्यंत निर्दोष और न्यायसंगत हैं। पर प्रश्न यह है कि वे प्रत्यक्ष व्यवहार में कहाँ तक माने जाते थे। इस विषय में छानबीन करते समय यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारे पास इस संबंध में बहुत कम सामग्री है। राजप्रशस्तियों में सर्वदा प्रजा सुखी, संतुष्ट और समृद्ध ही बतायी जाती है, पर उत्कीर्ण लेखों और ग्रंथों से इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि कभी कभी कर अत्यधिक और प्रजा के लिए कष्टकर होते थे। एक जातक में कर एकत्र करने वाले कर्मचारियों के भय से जंगल में भागी हुई प्रजा की कष्ट कथा का वर्णन है[1]। कश्मीर के राजा ललितादित्य ने अपने उत्तराधिकारियों को सलाह दी थी कि प्रजा पर इतनी कर लगाया जावे कि उसके पास केवल इतना ही अन्न बच जाय जिससे किसी प्रकार साल भर तक उसका काम चल जाय[2]। कश्मीर के राजा शंकर वर्मा के शासन में इतना अधिक कर लिया जाता था कि प्रजा के लिए हवा पीकर ही प्राण रक्षा करने के सिवा अन्य कोई साधन शेष न रह गया था[3]।

कुछ लेखों से ज्ञात होता है कि तंजोर जिले के कुछ ग्रामों में प्रजा ने अत्यधिक कर से व्याकुल होकर विरोध स्वरूप खेती करना ही छोड़ दिया था[4]। तृतीय कुलोत्तुंग के राज्य में उसके एक सामंत ने ग्राम-सभा के विरोध की उपेक्षा करके ऊसर भूमि पर भी कर लगा दिया था। यह अन्याय्य कर न देने पर ग्राम पंचायत के सदस्य बंदी गृह में रखे गये और उनका छुटकारा तभी हो पाया जब ग्राम सभा की कुछ भूमि बेच कर नया कर चुकाया गया[5]। ब्रह्मदेय ग्रामों के लोगों को भी अत्याचार का शिकार होना पड़ता था और कर की वसूली के लिए कड़ी धूप या पानी में खड़े रहना पड़ता था और इस अत्याचार से छुटकारा पाने का भी उपाय न था[6]।

---

१ जा २ पृ० ९८

२ राज तरंगिणी ४, पृ ३४८।

३ कापथ्यप्रेरणादेवैर्देवेनाथ प्रवर्तितैः।
भाषाने श्वासशेषैव प्राणवृत्ति शरीरिणाम्। राज ५ १८४।

४ सौ इ ए रि, १८९७ सं ३६, ३८, और १०४।

५ वही, १९१२ सं १०२।   ६ वही १८९९ सं १५६।

पर इन घटनाओं को व्यर्थ अधिक महत्व भी न देना चाहिये। उपर्युक्त कश्मीरी राजा असाधारण अत्याचारी थे। उनमें से शंकरवर्मा, दिद्दा और हर्ष की श्रेणी ही अलग है। हर्ष न केवल मंदिरों की संपत्ति का ही अपहरण करता था वरन् देवमूर्तियों का भी भ्रष्ट करके उनका सोना कोष में जमा करता था। अतः इन राजाओं के अत्याचार को साधारण स्थिति का द्योतक नहीं माना जा सकता। दक्षिण भारत के सम्बन्ध में सैकड़ों लेखों से कर एकत्र किये जाने की प्रणाली का वर्णन मिलता है। और यह उल्लेखनीय बात है कि इस सम्बन्ध में ज्यादती के उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं। जो कुछ भी उदाहरण मिलते हैं वे चोल शासन काल के अंत के हैं जब शासन व्यवस्था बहुत बिगड़ चुकी थी। अन्याय्य करों का जनता द्वारा सफल विरोधों के भी उदाहरण हमें पर्याप्त मिलते हैं। तंजोर जिले के नाडुओं का उदाहरण है जहाँ ग्राम सभाओं ने अपनी बैठक में केवल नियमित कर के सिवा अन्य कोई भी कर न देने का निश्चय किया था[1]। कर्नाटक की एक ग्राम सभा का उदाहरण भी हमारे सम्मुख है जिसने गायों और भैंसों पर कर देने से इस कारण इनकार कर दिया कि इस प्रकार के कर की प्रथा चिर काल से न थी। इसके अतिरिक्त इस ग्राम सभा ने यह भी निश्चय किया कि भूमि कर किस हिसाब से दिया जाय[2]। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जनता अनुचित कर का विरोध करने में सदैव तत्पर रहती थी। अत्याचारी निरंकुश शासकों के सामने भले ही उनकी न चल पाती हो पर साधारण प्रवृत्ति के शासकों के सम्मुख वे अधिकारों की रक्षा कर लेते थे। वैदिक काल की समिति की भाँति कोई जनसंस्था इसा की पहली सहस्राब्दी में न थी जो राजा की निरंकुशता पर अंकुश रख सके, पर ग्राम पंचायतों में अपने अधिकारों और स्वत्वों की रक्षा के लिए पर्याप्त शक्ति थी।

अब यह देखना है कि कर के अतिरिक्त राज्य की आमदके और क्या स्रोत थे। इनमें मुख्य राजकीय संपत्ति और राजकीय कारखाने और उद्योगों से होनेवाली आय, जुर्मानों की रकम और सामंतों से मिलने वाला उपायन या खिराज थे।

राजकीय संपत्ति में राज्यवस्तु भूमि, ऊसर, जंगल, भूगर्भस्थ धन या निधान, खान, प्राकृतिक सरोवर और जलाशय, आदि की गणना की जाती थी और इनसे काफी आमदनी होती थी। जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है कृषियोग्य

---

१ सौ इ ए रि, १८९७ सं १६, १८, १०२।
२ ए क, १०, मुलबागल सं ४७ (ब)।

भूमि कृषक की ही होती थी पर उत्तराधिकारी के अभाव, राज्यकर न देने तथा गुरुतर अपराधों, सम्पत्तिहरण (forfeiture) आदि कारणों से राज्य के कब्जे में भी बहुत भूमि आ जाती थी। अतः अधिकांश ग्रामों में राज्य के भी अनेक खेत रहते थे जिनकी खेती या तो मजदूरी द्वारा करायी जाती थी या वे असामियों (lesees) को दिये जाते थे। राजकीय भूमि की देखरेख का काम एक विशेष कर्मचारी का था जिसे अर्थशास्त्र में सीताध्यक्ष कहा गया है। बादमें उसका क्या नाम था यह ज्ञात नहीं।

ऊसर भूमि पर किसी का कब्जा न रहता था अतः यह राज्य की सम्पत्ति मानी जाती थी। प्रारम्भ में ५, ६ वर्षों तक पहले पूरा और पीछे अंशतः भूमि कर माफ कर देनेका आश्वासन देकर[1] इन पर भी कृषि कराने का प्रयत्न किया जाता था। बहुधा ऊसर भूमि का प्रबंध स्थानीय संस्थाओं को सौंप दिया जाता था, गुप्तकाल में इनकी स्वीकृति और सहमति से ही इसका विक्रय होता था[2]। ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत में न केवल इसका प्रबंध ही ग्राम संस्था के हाथ में था वरन इसके स्वामित्व का भी वे दावा करती थीं। अकाल बाढ़ आदि के समय बहुधा इस प्रकार की सार्वजनिक भूमि के विक्रय के उदाहरण मिलते हैं[3]।

जैसा कि प्रायः सब युग में सब राज्यों का नियम रहा है प्राचीन भारत में भी खानों और खनिज वस्तुओं पर राज्य का ही स्वामित्व था। ग्रामों के दान देते समय उसमें स्थित खानों का खोदनेका अधिकार भी प्रतिग्रहीता को प्रायः प्रदान किया जाता था। खानों में नमक और पत्थर की खानें भी शामिल थीं[4]। रत्नों की खानें बहुमूल्य राज्य सम्पत्ति समझी जाती थीं, इनकी व्यवस्था की विधि पहले ९ वें अध्याय में पृ० १४७ पर बतायी जा चुकी है।

जमीन में गड़े खजानों पर भी राज्य का ही अधिकार माना जाता था, कारण लावारिस माल का स्वामी भी राज्य ही होता था और भूगर्भ से निकलने के कारण ये भी खनिज सम्पत्ति के ही वर्ग में आते थे। पर यदि

---

१ अर्थशास्त्र भा०, ६ अध्याय ६ ।

२ एपि इं १५ पृ १२९ ।

३ सौ इ, ए रि, १८९८ सं ४०६ ।

४ सरापाषखनि । मदनदेव का दानपत्र (गुण्डांत्र ११ वीं सदी), इंडि एंटि १८, ३४-५ ।

खजाने का पता किसी ब्राह्मण को लगता था तो उसे वह सरकार न लेती थी, अन्य जाति के पाने पर आधा सरकार लेती थी आधा पानेवाला।

जंगल भी राज्य की महत्त्वपूर्ण संपत्ति समझे जाते थे। इनका एक भाग गजदल के हाथी प्राप्त करने के हेतु गजों के लिए छोड़ दिया जाता था, एक भाग राजा के आखेट के लिए सुरक्षित रखा जाता था। बाकी हिस्से से ईंधन और लकड़ी प्राप्त होती थी[1]। इनकी व्यवस्था का हाल ६ वें अध्याय में पृ० १४४ पर बताया जा चुका है।

केवल गहड़वाल राजाओं के दानपत्र में ही दान पानेवाले को आम और महुए (मधूक) के पेड़ों का भी स्वामित्व प्रदान करने का उल्लेख है[2]। पर इसी के बल पर यह नहीं कहा जा सकता कि जनता की निजी भूमिपर उगनेवाले इन वृक्षों पर भी राज्य का स्वामित्व होता था। संभवतः उपर्युक्त लेखों में उल्लिखित वृक्ष ऊसर भूमिपर उगे थे, एक लेख में ऐसा संकेत भी मिलता है[3]।

नवम अध्याय में बताया जा चुका है कि प्राचीन भारत में सरकार की ओर से भी उद्योग धंधे चलाये जाते थे। वस्त्र उत्पादन के लिए सरकार का एक बुनाई विभाग भी होता था। इसी प्रकार सुरा बनाने के लिए राजकीय सुरालय भी रहते थे। सरकार के कसाईखाने रहते थे जिसमें मांस के लिए पशु काटे जाते थे। भेड़, बकरी, गाय भैंस और हाथी आदि के यूथ राजकीय वनों में पशुशालाओं में पाले जाते थे। सरकारी टकसाल में अल्प शुल्क पर जनता मुद्रा ढलवा सकती थी। कभी कभी तो जनता के गहने आदि बनवाने के लिए सरकार की ओर से कारखाने खोले जाते थे, जहाँ प्रमाण पत्र देकर सुनार रखे जाते थे। व्यापारियों का माल ढोने के लिए भी राज्य की ओर से किराये पर नौकाएँ चलायी जाती थीं और सामग्री, पशु तथा यात्रियों को पार उतारने के लिए नौका कर भी लिया जाता था। सरकार की ओर से गणिकालयों और द्यूतगृहों को भी अनुमति पत्र (license) दिये जाते थे। इन सब कार्यों और व्यवसायों से सरकार को अच्छी आय हो जाती थी।

साम्राज्यों को अपने करद सामंतों के उपायन (खिराज) से भी पर्याप्त आमदनी हो जाती थी। परंतु इसकी रकम निश्चित न थी और यह तभी तक

---

१ अर्थशास्त्र अध्याय १-२।

२ इ ऐं, १८ पृ १०८-४।

३ समधूकाम्रवाटिका, चन्द्रावती दानपत्र, एपि इ १६ पृ ११२।

जारी रहती थी जब तक करद राज्यों को वशमें रखने की शक्ति साम्राज्य में रहती थी।

जुर्माने भी राज्य की आयके एक स्रोत थे। साधारण अपराधों के लिए ग्राम न्यायालयों द्वारा किये गये छोटे मोटे जुरमानों की आय तो साधारणत ग्राम सभा या मुखिया को ही मिलती थी। पर राजकीय न्यायालयों द्वारा किये गये जुरमानों की रकम राजकोष में ही जाती रही होगी। जुरमाना वसूल करने वाले अधिकारी को कुमायूँ प्रांत में 'दशापराधिक' कहा जाता था[1]।

उत्तराधिकारी या स्वामीविहीन वस्तु पर स्वभावत राज्य का हक होता था। जब विधवाओं को संपत्ति का उत्तराधिकार न था, तब मृत व्यक्ति की पूरी संपत्ति सरकार ही ले लेती थी, विधवा को भरण पोषण के लिए समुचित वृत्ति दी जाती थी[2]। विधवाओं को दायभाग मिलने से राज्य की आय मारी जाती थी अत १२ वीं शताब्दी तक अनेक राज्य इस सुधार का विरोध करते पाये जाते हैं, यद्यपि ३री शताब्दी ईसवी में ही अनेक पुरोगामी आचार्यों ने इसका प्रतिपादन किया था[3]। कुछ चालुक्य और यादव लेखों में पुत्रहीन अवस्था में मरने वाले व्यक्ति की संपत्ति पर कर का उल्लेख है, संभवत यह विधवाओं के दायभाग से होने वाली राज्य की हानि की पूर्ति स्वरूप था[4]।

अब हमें राज्य के व्यय की मदों पर विचार करना है। इस विषय में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। महाभारत या प्राचीन स्मृतियों में भी इस विषय का अधिक विवरण नहीं मिलता। उत्तर कालीन स्मृतियाँ उत्कीर्ण लेख और ताम्र पत्र भी इस संबंध में प्राय मौन हैं।

अर्थशास्त्र से इस विषय में कुछ सहायता मिलती है। इसमें व्यय की मदों का विवरण दिया गया है। पर ये सब अधिकतर राज महल के खर्च से ही संबंध रखते हैं, शासन के विभिन्न विभागों में होनेवाले खर्च का इससे अनुमान

---

१ इं, ऐंटि. २५, पृ० १८।

२ अन्यत्र ब्राह्मणात्किंतु राजा धर्मपरायणः।
तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष धर्मः सनातनः। नारदस्मृति ११ ५२

३ गुजरात में बारहवीं सदी तक विधवाओं को पतिसंपत्ति पाने का अधिकार स्वीकृत नहीं हो पाया था। देखिये, कुमारपाल प्रतिबोध नाटक, तृतीय अंक।

४ इ ऐं., १९ १४५ पृ, कोल्हापुर, ए इं ३ म ३६।

नहीं होता। न इससे यही पता चलता है कि राजमहल पर होनेवाला खर्च राज्य की आयका कितना प्रतिशत था। कौटिल्य ने मंत्री, अमात्य और कुछ अन्य अधिकारियों के वेतन का भी विवरण दिया है पर राज्य की आय का पता न रहने के कारण हम यह नहीं जान सकते कि ये वेतन उचित थे या अनुचित। यह भी प्राय निश्चित है कि प्राचीन भारत में राज कर्मचारियों को अधिकतर नकद वेतन के स्थान पर जागीर या राज्यकर का अंश ही दिया जाता था।

शुक्र ही एकमात्र ऐसे ग्रंथकार हैं जिनसे यह पता चलता है कि राज्य को आय का कितना प्रतिशत किस मदमें व्यय होता था। इनके अनुसार व्यय का विवरण इस प्रकार है।

१—सेना (बलम्)	५० प्र श
२—दान धर्म (दानम्)	८⅓ प्र श
३—जनता (प्रकृतय)	८⅓ प्र० श०
४—शासन खर्च (अधिकारिण)	८⅓ ,, ,,
५—राजपरिवार खर्च (आत्मभोग)	८⅓ ,, ,,
६—कोश (सुरक्षित या स्थायी Reserve Fund)	१६⅔ ,, ,,[1]

इस खर्च के ब्यौरे का (बजट) स्वरूप ठीक समझने के लिये थोड़ा सा विवरण जरूरी है। ऐसा आपाततः जान पड़ता है कि इसमें सामाजिक और राष्ट्रहित के कार्यों के लिए व्यय की व्यवस्था नहीं की गई है। पर प्रकृति (जनता) और दान की मद इसी कार्य के लिए है। शुक्रनीति के टीकाकार और डा० घोषाल[2] प्रकृति का अर्थ मंत्री और अमात्य जैसे उच्च अधिकारी समझते हैं, पर इन सबका वेतन मिलाकर राज्य की आय का ८⅓ प्र० श० होना असंभव था। फिर यह भी न भूलना चाहिये कि अधिकारियों के लिए एक अलग मद (सं० ४) थी ही। प्रकृति शब्द का साधारण अर्थ जनता ही है अत यह जनता के सांस्कृतिक और भौतिक हित के कार्यों के लिए ही थी। प्रकृति के मद में सत्र, रुग्णालय, मठ (विहार), विद्यालय व मंदिर पर किया जाने वाला खर्च आता है। विहार और मंदिर बहुधा पाठशाला और चिकित्सा

---

१ १ २१६ ७, ४ ७ २४ २८ में शुक्र १ लाख वार्षिक आय वाले छोटे राज्य के लिए कुछ थोड़ा सा विभिन्न व्ययपत्र बताते हैं।

२ हिंदू रेवेन्यू सिस्टीम, पृ १६१

सत्र भी चलाते थे[१]। अग्रहार ग्रामों के ब्राह्मण उपभोक्ता भी योग्य विद्यार्थियों को निःशुल्क पढ़ा कर शिक्षा और संस्कृति का संवर्धन करते थे।

इस प्रकार सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्र निर्माण के कार्यों के लिए राज्य की आय का १६⅔ प्र. श. निर्धारित किया जाता है। पर वास्तव में व्यय इससे भी बहुत अधिक होता था। क्योंकि इसमें स्थानीय संस्थाओं द्वारा राज्य के धन से व्यय की जानेवाली रकम सम्मिलित नहीं है।

राजा के निजी खर्च के लिए ८⅓ प्र. श. अत्यधिक नहीं है। वर्तमान भारतीय नरेशों के सामने अंग्रेज सरकार ने हाल में यह आदर्श रखा था कि वे राज्य की आय का १० प्र. श. से अधिक राज परिवार के लिये खर्च न करें।

सेना (बलम्) पर ५० प्र. श. व्यय अवश्य ही अत्यधिक है। ५०० ई. से साम्राज्य विस्तार का जोर बढ़ा और आये दिन युद्ध होने लगे। अतः अपनी स्वतन्त्रता कायम रखने के लिए सेना पर खूब खर्च करना आवश्यक था। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि इस खर्च की एक पाई भी देश के बाहर न जाती थी और इससे न केवल जनता में वीरभाव की वृद्धि होती थी वरन् देश में उद्योग और व्यवसाय को भी प्रोत्साहन मिलता था।

स्थायी कोष में आय का १६ प्र. श. जाता था। मुसलमान लेखकों ने इस बात का विशेष उल्लेख किया है कि हिंदू राजा अपने पूर्वजों से भरा पूरा कोष पाते थे और अत्यन्त संकट पड़ने पर ही इसमें हाथ लगाते थे। सार्वजनिक या सरकारी ऋण की कल्पना प्राचीनकाल में अज्ञात थी और वही राज्य संकट से अपनी रक्षा कर पाते थे जिनका कोष और भांडार भरा पूरा रहता था। दक्षिण के राजाओं से अलाउद्दीन और मलिक काफूर ने जो अपार धनराशि लूटी थी वह इस बात का प्रमाण है कि हिंदू राजा अपनी आय का बहुत बड़ा भाग संकट के समय काम देनेके लिए अपने स्थायी कोष में संचित और सुरक्षित रखते थे।

---

१ अल्तेकर, एजुकेशन इन ऐंशियंट इंडिया (द्वितीय संस्करण, पृ ११९ १२८),

१३ वॉ अध्याय

अंतर राष्ट्रीय संबंध व व्यवहार

राज्य और शासन व्यवस्था संबंधी ग्रंथ में राज्यों के परस्पर संबंध के विषय पर सरसरी तौर पर ही विचार किया जा सकता है। इस विषय के दो पहलू हैं, एक शांति काल में संबंध और दूसरा युद्ध काल में। शांति काल के संबंध का विचार करते समय प्रभुराज्य (Sovereign state) और सामंत राज्य (Feudatory state) के संबंध का भी विचार करना होगा।

वैदिक काल के विभिन्न राज्यों के परस्पर संबंध के विषय में हमें बहुत कम ज्ञान है। ये राज्य अधिकतर जनराज्य थे और बहुत समय तक इनकी सारी शक्ति अनार्य जातियों को पराजित करने में ही लगी रही। अतः इनमें परस्पर संबंध साधारणतः मैत्री पूर्ण ही था। पर एक दूसरे का उत्कर्ष देख कर आर्य जातियों में भी परस्पर स्पर्धा के भाव उत्पन्न होने लगे। फलतः कभी कभी उनमें आपस में भी संघर्ष होने लगे, जिनमें बहुधा अनार्य जातियों से भी सहायता ली जाती थी, पर ऐसे अवसर कम थे।

उत्तर वैदिक काल में छोटी छोटी आर्य जातियों के मिल जाने से कुछ बड़े बड़े राज्यों की भी स्थापना हुई। परंतु इनका भी विस्तार बहुत अधिक न था। उदाहरणार्थ प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में वर्णित ई. स. पू. सातवीं सदी के १६ महाजनपदों में से भी अधिकांश आधुनिक काल की कमिश्नरियों से बड़े न थे।

अपने शासकों की शक्ति और साधन के अनुसार राज्यों का पद भी छोटा बड़ा होता था। 'स्वराट्', 'एकराट्', 'सम्राट्' और 'अधिराट्' आदि पदवियाँ राजाओं के विभिन्न पदों की सूचक हैं, पर इनकी निश्चित मर्यादा स्थिर करना इस समय कठिन है। 'सम्राट्' आदि पदवीधारी राजा निस्संदेह अन्य राजाओं से कुछ उच्च स्थान पर थे। पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे सामंत राज्यों के अधिपति पद पर थे या नहीं। यह संभव है कि दुर्बल राज्य अपने से अधिक शक्तिशाली राज्यों को कुछ कर देते रहे हों।

उत्तर वैदिक काल की संस्कृति और धार्मिक यज्ञादि विधियों ने आर्य राजाओं के सम्मुख साम्राज्य का आदर्श उपस्थित किया। राजाओं का

राजा बनने के आकांक्षी शासक के लिए 'अश्वमेध', और 'सम्राट्' पद के अभिलाषी के लिए 'वाजपेय' यज्ञ का विधान था। इससे राज्यों के परस्पर संबंध में अस्थिरता उत्पन्न हो गयी। कोई भी विजिगीषु राजा किसी भी समय साम्राज्य विस्तार की इच्छा से किसी भी राज्य पर चढ़ाई कर सकता था। इसके साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि इन राज्यों को पृथक करनेवाली कोई प्राकृतिक सीमाएँ न थीं जैसे कि कौशाम्बी काशी और कोशल राज्यों में। ज्योंही इनमें से कोई अपने को शक्तिशाली समझने लगता था त्योंही वह औरों को दबा कर अपना विस्तार करने का प्रयत्न करता था।

स्मृतियों का भी मत है कि जब राजा अपने राज्य को समृद्ध और सेना को बलवान देखे और शत्रु की स्थिति इसके विपरीत देखे तब वह उस पर बेहिचक आक्रमण कर सकता है[1]। स्मृतियों में इस प्रकार बिना कारण पर पीड़क युद्ध का समर्थन होते देख कुछ लोग बहुत आश्चर्य करते हैं। परन्तु यदि देखा जाय तो वास्तविकता यही है कि सारे संसार में जो भी राज्य बलवान और विस्तीर्ण बने वे अपने से दुर्बल राज्यों को दबा कर ही। और युद्ध छेड़ने का असली कारण सदा शत्रु की दुर्बलता ही रहा, भले ही उस कार्य के समर्थन में ऊँचे सिद्धांतों की दुहाई दी जाय। अकबर, शाहजहाँ और औरंगजेब आदि ने अपने ही सहधर्मी दक्षिण के सुलतानों पर आक्रमण क्यों किया ? सन १८०३ में अंग्रेजों ने मराठों से युद्ध क्यों किया ? केवल इसीलिए कि वे समझते थे कि हम अपने प्रतिद्वन्द्वी से मजबूत हैं और आसानी से उनका राज्य हड़प सकते हैं। पिछले दो विश्व युद्ध क्यों हुए ? केवल इसीलिए कि युद्ध करनेवाले राष्ट्रों ने या तो यह समझा कि विश्व पर प्रभुत्व करने की आकांक्षा पूरी करने का यही उपयुक्त अवसर आ गया, या अपने विशाल साम्राज्य को बनाये रखने के लिए युद्ध करना ही श्रेयस्कर होगा। अतः स्मृतिकारों को ऐसी नीति के समर्थन के लिए दोष देना उचित नहीं जो आज भी अंतर-राष्ट्रीय जगत में प्रतिष्ठित है।

अवश्य ही यह कहा जा सकता है कि स्मृतिकार अपने समय के समाज के सामने अधिक उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत कर सकते थे और अशोक की भांति साम्राज्य लिप्सा के कारण आक्रामक युद्ध त्यागने का उपदेश दे सकते थे। पर यह निश्चय करना सरल नहीं कि आक्रामक कौन है अर्थात लड़ाई किसने शुरू

---

१ मनु, ७ १७१।

की। प्रत्येक पक्ष अपने कार्य के समर्थन में न्याय और आत्मरक्षा की दुहाई दे सकता है। युद्ध के एकदम त्याग देने की नीति कार्यान्वित करना बड़ा कठिन है, जैसा कि सम्राट अशोक के इस दिशा में असफल प्रयत्नों से सिद्ध होता है। तात्कालीन अशांतिमय वातावरण में यह आवश्यक था कि समाज में एक ऐसा शक्तिशाली वर्ग हो जो समय पड़ने पर उसकी आक्रमणों से रक्षा कर सके। क्षत्रिय वर्ग ऐसा ही योद्धा वर्ग था, जिसका आदर्श यह था कि 'शय्या पर पड़े पड़े मरना क्षत्रिय के लिए घोर अधर्म है'[1]। युद्ध इसका सहज कर्म था, इसे निषिद्ध कर देना इसका काम छीन लेना था। अतः यदि स्मृतियाँ ऐसा आदर्श प्रतिपादित न कर सकीं जो क्षत्रिय धर्म के विरुद्ध था और जो आज के संसार में भी व्यवहार्य नहीं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

फिर भी यह समझ लेना भूल होगी कि राज्य के भीतर शांति का प्रतिपादन करनेवाले प्राचीन भारतीय मनीषी विभिन्न राज्यों में परस्पर शांतिस्थापना की ओर उदासीन रहे। लगभग सबने महत्वाकांक्षी राजाओं को यथा समय युद्ध से दूर रहने और शांतिमय उपायों से ही अभीष्ट सिद्धि का यत्न करने का उपदेश दिया है[2]। उनका कथन है कि अधर्म और अन्याय युद्ध से इस लोक में तो नाश होता ही है परलोक भी मारा जाता है[3]। कौरवों और पाण्डवों में अंत तक समझौते की चेष्टा और पाण्डवों का पाँच गाँव लेकर ही संतुष्ट हो जाने की तत्परता से सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में बिना विचार के ही प्रायः युद्ध नहीं छेड़ दिये जाते थे।

प्राचीन भारतीय आचार्य जानते थे कि युद्ध का एकदम त्याग कर देना संभव नहीं, अतः युद्ध की संभावना यथा संभव कम करने के लिए उन्होंने विविध राज्यों के 'मंडल' बनाकर उनमें शक्ति संतुलन कायम रखने की व्यवस्था की थी। स्मृति और नीति ग्रंथकारों की प्रख्यात मंडल' नीति शक्ति संतुलन के सिद्धान्त पर ही आधारित थी। इन आचार्यों ने विभिन्न राज्यों में प्रायः जो

---

१ अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत्। शुक्र४, ७, २०५।

२ साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन॥ मनु ७, १९८
नाशो भवति युद्धेन कदाचिदुभयोरपि॥ कामन्दक ६, ११।

३ नाधर्मेण महीं जेतुं लिप्सेत पृथिवीपतिः।
अधर्मविजयं लब्ध्वा को नु मन्येत भूमिपः।
अधर्मयुक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च। म भा १२ ९६ १ ३।

संबंध रह सकते हैं उन्हें समझाते हुए दुर्बल राज्यों को अपने अधिक शक्तिशाली पड़ोसी राज्यों से सावधान रहने की सलाह दी है और उनकी विस्तार नीति से अपनी रक्षा के हेतु अन्य समान या न्यूनाधिक बलवाले राज्यों से मैत्री स्थापित करके एक ऐसा मण्डल बनाने की सलाह दी है जिस पर आक्रमण करने का शत्रु को साहस ही न हो।

वैदिक धर्म में अश्वमेध और वाजपेय आदि यज्ञों का विधान होने के कारण आदर्शवादी राजनीतिक विचारक भी विजय अभियानों का विरोध न कर सकते थे, पर उन्होंने इसकी उग्रता कम करने की शक्ति भर चेष्टा की है। धर्मविजयी राजा को पराजित राज्य का अपहरण करने (annexation) या उसकी शासन पद्धति में कोई हस्तक्षेप न करके केवल अपनी अधीनता स्वीकार करा के और कर लेकर ही पराभूत शत्रु को छोड़ देने का उपदेश दिया गया है[1]। प्राचीन आचार्यों का कथन है कि यदि पराजित राज्य का राजा युद्ध में वीर गति को प्राप्त हुआ हो, या यदि वह जीवित हो पर पराधीन होकर राज्यारूढ़ न होना चाहे तो उसकी गद्दी पर कोई दूसरा राजपुत्र बिठाया जाना चाहिये यदि राज्य को मिला ही लेना पड़े तो उसके विधि नियमों और प्रचलित परिपाटी की रक्षा की जाय और नयी प्रजा के साथ वैसा ही बर्ताव किया जाय जैसा अपनी मूल प्रजा के साथ किया जाता था अर्थात् नयी प्रजा को विजित मानकर पददलित न किया जाय[2]।

इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि यह नीति साधारणतः कार्यान्वित भी की जाती थी। जातकों में ऐसे किसी युद्ध का वर्णन नहीं मिलता जिसमें विजित प्रदेश विजेता के राज्य में मिला लिया गया हो। जब कोशल का राजा काशी पर आक्रमण करता है तो काशिराज को उनका मंत्री इस प्रकार समझाता है—'महाराज डरिये नहीं, आपका अनिष्ट न होगा, आपका राज्य बना रहेगा केवल आपको कोशलराज की अधीनता स्वीकार करनी पड़ेगी[3]।

---

1 गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्॥ रघु, ४. ४३।

2 स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम्। मनु ७. २०२। देखिये विष्णु ३. ४७, शुक्र ४. ७. २७३, २९७–८।

3 मा भायि महाराज नत्थि ते परिपन्थो तव रज्जं तवेव भविस्सति केवलं कोसलरञ्ञो वसवत्ती होहि। जातक ५ पृ ३१६, पृ ३११ भी।

८ वीं और ९ वीं शताब्दी के मुसलिम यात्री भी दक्षिण भारत में इस प्रकार के 'धर्म विजय' देखकर बड़े प्रभावित हुए थे। सुलेमान का कथन है जब एक राजा दूसरे को पराजित करता है तो वह उसीके वंश के एक व्यक्ति को पराजित राज्य में स्थापित करता है जो विजेता के नाम पर शासन करता है। इस देश की यही प्रथा है और जनता इसे अन्यथा न होने देगी[1]।

विजय के बाद जीते हुए राज्य को अपने राज्य में न मिलाने की सलाह देना आसान है पर इसका कार्यान्वित होना कठिन है। परंतु प्राचीन भारतीय इतिहास से यही सिद्ध होता है कि अधिकतर इसका पालन ही होता था। मौर्य साम्राज्य की आंतरिक स्थिति का हमें बहुत कम ज्ञान है पर संभावना यही जान पड़ती है कि मौर्य साम्राज्य के अंदर भी राजस्थान और पंजाब के शक्तिशाली गणतंत्रों की आंतरिक स्वायत्तता अक्षुण्ण थी। गुप्त साम्राज्य में तो उस समय में भी ये सामंत राज्य वर्तमान थे। समुद्रगुप्त द्वारा पराजित नाग वंशीय राजगण अंतर्वेदी (दोआब) में साम्राज्य के अधिकारी के रूप में शासन कर रहे थे। इसमें संदेह नहीं कि समुद्र गुप्त ने बहुत से राज्यों को ले भी लिया पर इनकी संख्या से उनकी संख्या अधिक है जिन्हें उनका राज्य वापस कर दिया गया और जो साम्राज्य के सामंत होकर अपने राज्य में बने रहे। हर्षवर्धन के साम्राज्य में भी अनेक सामंत या करद राज्य थे। यही स्थिति उत्तर भारत के प्रतीहार साम्राज्य की भी थी। दक्षिण के सातवाहन, चालुक्य, राष्ट्रकूट और यादव राज्यों में बहुत से स्वायत्त सामंत थे। दिग्विजय का सिद्धांत स्वीकार कर लेने पर अधिक से अधिक जो किया जा सकता था वह यही कि पराजित राज्यों की संस्कृति और अंतर्गत सत्ता सुरक्षित रहे। और इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन भारत में इस दिशा में बहुत हदतक सफलता भी हुई। इस सफलता का श्रेय बहुत कुछ इस बातपर भी है कि लड़नेवाले राज्यों में सांस्कृतिक और धार्मिक एकता थी। इन राज्यों में ऐसा कोई धर्म और संस्कृति के विभेद जो दो राष्ट्रों में द्वेष और शत्रुता के भाव भरते हैं और उन्हें प्राकृतिक शत्रु बनाकर एक दूसरे का आमूल नाश करने को उत्तेजित कर देते हैं, प्राचीन भारत के इन राज्यों में वर्तमान न थे। अतः पराजित राज्य को आंतरिक स्वतंत्रता देने में कोई कठिनाई न थी।

---

1 ईलियट और डाउसन, हिस्ट्री आव, इंडिया भाग १ पृ० ७। और, महाराष्ट्र आव चाइना ऐंड इंडिया पृ० ३३।

युद्ध के कारण साधारणत ये होते थे, (१) साम्राज्य पद की आकांक्षा। (२) आत्मरक्षा की आवश्यकता। (३) राज्यविस्तार या सामंतों से अधिक कर की इच्छा। (४) शक्ति संतुलन की चेष्टा। (५) शत्रु के घावों का बदला और (६) पीड़ित जनता की रक्षा। यही कारण सब युगों और देशों में युद्ध के हेतु बनते हैं। अत प्राचीन भारत में इनके दृष्टांत या उदाहरण ढूँढना व्यर्थ है।

परस्पर युद्ध की अनिवार्यता देखकर प्राचीन भारतीय विचारकों ने उसकी भीषणता कम करने की यथाशक्य चेष्टा की है और इस हेतु उन्होंने धर्मयुद्ध के बहुत ऊँचे आदर्श का प्रतिपादन किया है। पर यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि वैदिक युग में आर्यों और दस्युओं के युद्ध में यह आदर्श लागू होता था या नहीं। ऋग्वेद में वर्णन है कि इंद्रने दासवर्ण को पैरों तले कुचल कर गुहाओं में ढकेल दिया था। संभवत यही व्यवहार वैदिक आर्य के व्यवहार का सूचक है। वैदिक वाङ्मय में विष से बुझे बाणों के उपयोग का भी वर्णन है[1]। पर स्मृतियों ने एक स्वर से इनके प्रयोग का निषेध किया है। यही नहीं उन्होंने यह भी कहा है कि शत्रु पर ऐसी अवस्था में कदापि न वार किया जाय जब वह सावधान न हो, पूरी तरह शस्त्रों से लैस या तैयार न हो या किसी भी तरह ओछट या विपत्ति में हो[2]।

यह मान लेना अनुचित न होगा कि जब तक दोनों पक्षों में जोड़ तोड़ का मुकाबला रहता था और पराजय के बाद राज्य अपहरण की आशंका न थी तब तक इन नियमों का वास्तव में अनुसरण होता था। मेगास्थनीज को यह देखकर आश्चर्य हुआ था कि युद्ध काल में भी कृषिकार्य चलता रहता था, वह लिखता है कि 'दोनों पक्ष एक दूसरे के संहार में लीन रहते हैं पर किसानों को कोई हानि नहीं पहुँचाता।' युवानच्वांग भी यह देखकर चकित हुए थे कि बारंबार युद्ध होते रहने पर भी देश को बहुत ही कम हानि पहुँचती थी।

अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि जबतक धर्म विजय का आदर्श सम्मुख था और राज्य नाश की घटनाएँ बहुत कम होती थीं लड़ाई में भी धर्मयुद्ध का आदर्श प्रधान रहता था और उदारता तथा वीरता से काम लिया जाता था पर जब साम्राज्यवाद की भावना ने जोर पकड़ा और सामंत राज्यों की दासता

---

१ ऋग्वेद, १ ११७ १६, ६ ७५ १५, अथर्व ६ ६७।

२ मनु, ७ ९०।

की शृंखला कसी जाने लगी तब आत्मरक्षा की भावना भी प्रबल हो उठी और युद्ध में सफलता पाने के लिए सभी उचित अनुचित साधन और उपाय ठीक समझे जाने लगे। कौटिल्य ने इस विषय में सटीक सलाह दी है कि जब तक अपना पल्ला भारी रहे तब तक धर्म युद्ध के आदर्श पर चलने में हानि नहीं अन्यथा जिस उपाय से सफलता मिले वही करना उचित है चाहे वह धर्म हो या अधर्म[1] शुक्र का भी यही मत है[2]।

कूट युद्ध में किसी भी समय किसी भी स्थिति में शत्रु पर आक्रमण जायज था, शत्रु प्रदेश को तहस नहस कर डालना, वृक्षों को काटना, फसल और अन्नागार जला देना, नागरिकों को दास बनाना सब क्षम्य था। अशोक के कलिंग अभियान में ऐसे कुछ अनर्थ हुए थे और ईसवी सन् के बाद के युद्धों में कभी कभी ये होते रहे हों। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि धर्म युद्ध के आदर्श पर चलने की भी चेष्टा यथाशक्य सदा होती थी, और इसी का परिणाम था कि मध्ययुग तक राजपूतों में धर्मयुद्ध का आदर्श जीवित रहा।

यह भी कह देना अयथानोचित न होगा कि भारत के कूटयुद्ध के काल भी प्राचीन काल के अन्य पूर्वी देशों के युद्ध की बर्बरता के सामने सौम्य प्रतीत होते हैं। किसी भी प्राचीन भारतीय नरेश ने शत्रु दल के मुर्दों पर मीनार बनवाने या शत्रु की खाल खिंचवाकर नगर की परिखा पर मढ़वाने में अपनी शान नहीं समझी जैसी कि तृतीय थुटमोसिस और असुरबनिपाल ने की थी।

शत्रु को प्राण दान या अभय दान की भी निश्चित परिपाटी थी। शस्त्र डाल देने या शरण में आने पर पराजित शत्रु पर हाथ उठाना निषिद्ध था, घायल या भागते हुए शत्रु पर भी वार करना मना था। घायल युद्ध बंदियों की चिकित्सा कराना भी आवश्यक था। साधारणतः युद्ध बंदियों को दास बनाया या बेचा भी न जाता था[3] बल्कि युद्ध समाप्त होने पर घर लौटने की अनुमति दे दी जाती थी[4]।

---

१ पक्षविशिष्टः प्रकाशयुद्धमुपेयात्। विपर्यये कूटयुद्धम्। अर्थ १० अध्याय ३

२ धर्मयुद्धे कूटयुद्धे हन्यादेव रिपुं सदा। ४ ३५०।

३ म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। अर्थ भा ३ १३। नारद ने युद्ध में बंदी किये गये दास का उल्लेख किया है, पर ऐसे व्यक्ति किसी को अपने बदले में देकर अपनी मुक्ति करा सकते थे।

४ अग्नि पुराण, अध्याय १४०।

युद्ध में जीते हुए माल के बारे में भी निश्चित नियम थे। पराजित शत्रु के कोष, सवारि, शस्त्रास्त्र, अन्न आदि पर विजेता का अधिकार था[1]। विजित देश के नागरिकों की स्थावर सम्पत्ति का भी अस्थायी तौर पर ग्रहण और उपयोग किया जा सकता था।

परस्पर युद्धरत देशों में कैसा व्यवहार रहता था इसका हम लोगों को ज्ञान नहीं है। चूँकि शांतिकाल में भी विदेशियों को किसी राज्य में जाने के लिए प्रवेश-पत्र लेने की आवश्यकता पड़ती थी इससे अनुमान किया जा सकता है कि युद्ध काल में दोनों देशों के बीच यातयात बिल्कुल बंद कर दिया जाता रहा होगा। युद्धरत राज्य इस बात की अवश्य व्यवस्था करते रहे होंगे कि उनके देश से शत्रु देश में ऐसी कोई सामग्री न जाने पावे जिससे उसकी शक्ति वृद्धि हो। पर जब सीमाएँ दूर तक फैली होती थीं और शासन प्रबन्ध ढीला रहता था तो दोनों ओर से चोरी चोरी काफी व्यापार चलता रहा होगा। समुद्र मार्ग से भी शत्रु देश के अवरोध की व्यवस्था और शत्रु पोतों को पकड़ने की परिपाटी थी या नहीं यह ज्ञात नहीं।

अब हमें इस पर विचार करना है कि शांति काल में दो स्वतंत्र राज्यों में क्या संबंध रहता था। यह निश्चित मालूम नहीं कि प्राचीन भारत में स्थायी दूतावासों की परिपाटी थी या नहीं। मेगास्थेनीस चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहता था और डायमेकस बिंदुसार के। बहुत संभव है कि मौर्य सम्राटों की ओर से भी सेल्यूकवंशीय राजाओं की राजधानियों में दूत भेजे गये हों खासकर जब कि धर्म प्रचार के लिए बौद्ध भिक्षुओं के दल वहाँ भेजे गये थे। पर यह विदित नहीं कि मौर्य दरबार में यूनानी दूत स्थायी रूप से रखे गये थे या कुछ वर्षों के लिए ही। तक्षशिला के यूनानी नरेश अंतलिकित (एंटिअल्काइडस) का दूत हेलियोदारस मालवा की राजधानी विदिशा में शुंगवंशी भागभद्र राजा के दरबार में रहता था पर यह भी सम्भव है कि वह किसी विशेष प्रयोजन से थोड़े समय के लिए ही भेजा गया हो। समुद्रगुप्त की राजसभा में सिंहल राजा के दूत और चालुक्यराज पुलकेशी के दरबार में (६१० ई०) ईरान से दूत आये थे, पर ये विशेष काम से ही भेजे गये थे। चीन और रोम में प्राचीन भारत से जो दूत भेजे गये थे वे भी आजकल के सद्भावना मंडल की ही भाँति थे। उनका कार्य उन नरेशों को अपने देश की ओर से उपहार भेंट करना और

1 मनु, ७ ९६-९७, शुक्र ४ ७ २८६।

उनसे व्यापार की सुविधाएँ प्राप्त करना था। यूरोप में भी स्थायी दूतावास रखने की परिपाटी मध्ययुग में ही कायम हुई। संस्कृत के 'दूत' शब्द का अभिधेय अर्थ भी संदेशवाहक या वार्ताहर ही है और इससे यही संकेत मिलता है कि वह किसी विशेष कार्य या प्रयोजन से ही भेजा जाता था। अर्थशास्त्र में (भाग १ अध्याय १६) दूत के आचरण सम्बन्धी जो निर्देश दिये गये हैं उनसे यही प्रकट होता है कि उसे उसी समय तक विदेशी राजधानी में रहना होता था जब तक अंगीकृत प्रयोजन की सिद्धि की कुछ आशा हो, अन्यथा तत्काल लौट आना पड़ता था।

विदेशों में भेजे जानेवाले दूत तीन श्रेणी के होते थे। 'निसृष्टार्थ' दूत वह था जिसे अपने राज्य की ओरसे सब विवादभूत बातें तय करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था, 'परिमितार्थ' दूत दिये गये निर्देश से बाहर न जा सकता था और 'शासनहर' दूत केवल अपने राज्य की ओरसे संदेश भर दे देता था और जवाब ले आता था, बातचीत का उसे अधिकार ही न था[1]। आजकल की भांति प्राचीन कालमें भी दूत अधिकृत और अप्रकाश्य रूप से भेदिये का कार्य करता था। उसका काम विदेशी राजपुरुषों से जान पहिचान करके उस देश की वास्तविक राजनीति की जानकारी प्राप्त करना था। राज्य की साधारण स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना, उसके धन, बल और साधनों का ठीक ठीक अनुमान करना और अपने गुप्तचरों द्वारा उसके दुर्ग और सेना का प्रामाणिक विवरण प्राप्त करना, यह सब भी उसका काम था। यह सब विवरण वह 'गूढ लेख' (संकेत लिपि) द्वारा अपनी सरकार को भेजता था[2]।

आधुनिक काल की भांति प्राचीन काल में भी दूत अवध्य था। रामायण में कहा गया है दूत केवल संदेश वाहक है, अपने स्वामी की ही बात वह कहता है अतः वह बात कटु और क्रोध जनक भी हो तो भी दूत पर कुछ शासन नहीं करना चाहिये[3]। महाभारत में कहा गया है कि दूत का हंता राजा अपने सचिवों के समेत नरकगामी होता है[4]। युद्ध छिड़ जाने पर भी दूत और उसके साथी अवध्य हैं[5], पर यदि वह अनुचित आचरण करे तो उसे विरूप करके

---

१ अर्थशास्त्र भाग १ अध्याय १६।
२ वही।
३ ब्रुवन्परार्थं परवान्न दूतो वधमर्हति।
४ दूतस्य हंता निरयमाविशेत्सचिवै सह॥ १० ८५ २६
५ नीति प्रकाश ७ १४।

या उसे लोहे से दागकर निकाला जा सकता था जैसा रावण ने मारुति के साथ किया था।

दूतों के न रहने पर भी गुप्तचर इसी प्रकार के भेदों की टोह में बराबर काम किया करते थे। ये लोग छात्रों, सन्यासियों, व्यापारियों आदि के विविध छद्म वेशों में रहते थे। वेश्याओं और नर्तकियों से भी बहुधा गुप्तचरों का काम लिया जाता था, कभी कभी राजमहल में ये तांबूल या छत्र वाहिकाओं का पद भी प्राप्त कर लेती थीं, ताकि राजा के समीप रहकर सरकार की अंतरंग गति विधि का भेद लेने का अवसर मिले।

शांतिकाल में राज्यों में आवागमन पर रुकावट न रहती थी। प्रवेश पत्रों की आवश्यकता पड़ती थी, पर इसके सिवा अन्य किसी प्रकार की रोक टोक न थी। व्यापार के कार्य से बराबर आने जाने वाले व्यापारियों को भी प्रत्येक बार आने के लिए प्रवेश पत्र लेने की जरूरत नहीं थी। संदिग्ध व्यक्ति बंदरगाहों में ही गिरफ्तार कर लिये जाते थे और आगे न जाने पाते थे[1]। विदेशियों की गतिविधि पर कड़ी नजर रखी जाती थी कि कहीं वे भेदियों का काम न करते हों। व्यापारिक सामग्री के आयात निर्यात पर भी रोक टोक न थी, अवश्य ही निर्धारित शुल्क देना पड़ता था।

यात्रा के सिलसिले में जहाज या पोत जब जब किसी बंदरगाह या पत्तन पर ठहरते थे उन्हें पत्तन शुल्क देना पड़ता था। क्षतिग्रस्त होनेपर उन्हें मरम्मत की पूरी सुविधा दी जाती थी और उनकी अन्य आवश्यकताएँ भी पूरी की जाती थीं[2]।

सामंत राज्यों से संबंध

प्राचीन भारत में सामंत या अर्ध स्वतंत्र राज्यों की संख्या बहुत थी। यह दिखाया जा चुका है कि विजेता से यह आशा की जाती थी कि पराजित राज्य का अस्तित्व नष्ट न करके अपने आधिपत्य में उसकी स्वायत्त सत्ता कायम रहने दे। इससे सामंत राज्यों की संख्या काफी हो जाती थी। जब प्रांतीय शासक या सूबेदार आनुवंशिक होने लगे और महाराज, सामंत, महासामंत और महामंडलेश्वर आदि पदवियाँ धारण करने लगे तब ये भी सामंत राज्यों की श्रेणी में आ गये और इनकी संख्या में और वृद्धि हुई। दक्षिण के यादवों या चालुक्यों के राज्य

१ अर्थशास्त्र भाग २ अध्याय २८।
२ वही।

में तो यह जानना कठिन था कि महामंडलेश्वर उपाधिधारी व्यक्ति सामंत है या सामंत उपाधिधारी सूबेदार। पराजित राजाओं को प्रांतीय शासकों के पदपर नियुक्त करने की प्रथा से यह गड़बड़ी और भी बढ़ जाती थी।

वर्तमान भारत के हैदराबाद बरोदा, कोल्हापुर, आदि कुछ बड़े सामंत राज्य के भी अपने सामंत राज्य हैं, भारत में प्राचीन काल में भी ऐसी ही स्थिति थी। उदाहरणार्थ, पाँचवी सदी में एरण के राजा मातृविष्णु सुरश्मि चंद्र के सामंत थे, जो स्वयं सम्राट् बुधगुप्त का सामंत था[१]। सन् ८१३ ई० में तृतीय गोविंद राष्ट्रकूट सम्राट् थे, उनका भतीजा तृतीय कक्क उनके सामंत के रूप में दक्षिणी गुजरात पर शासन कर रहा था, और उसके भी सामंत के रूप में चालुक्य वंश का बुद्धवर्ष सिल्हिका ११ पर शासन कर रहा था, उसे इस पद पर कक्क के छोटे भाई ने प्रतिष्ठित किया था[२]। अस्तु यह स्पष्ट है कि सामंत राजा भी संभवतः सम्राट् की अनुमति लेकर अपने उपसामंत बना सकते थे।

अतएव सामंतों पद और अधिकार एक समान न रहते थे, जैसा कि आज के भारतीय राज्यों की स्थिति है। प्रमुख सामंतों को सिंहासन पर बैठने, छत्र चामर धारण करने और शिबिका (पालकी) तथा हाथी पर चढ़ने का अधिकार रहता था। उन्हें अपनी सवारी के समय शृंग, शंख, भेरी, जयघण्टा और रमट आदि पाँचों बाजों को बजवाने का भी अधिकार प्राप्त था। यह अधिकार सम्राट् आधुनिक तोपों की सलामी की तरह बहुत थोड़े व्यक्तियों को ही देते थे। महाराज, सामंत, महा सामंत, मण्डलेश्वर आदि इनके विरुद थे।

सामंतों के दरबार में सम्राट् के हित रक्षा के लिए और सामंतों के नियंत्रण के लिए सम्राट् की ओर से प्रतिनिधि रहा करते थे। आजकल के रेजिडेंटों और पोलिटिकल एजेंटों की भाँति इन्हे भी सामंत राज्यों के साधारण निरीक्षण और नियंत्रण का अधिकार था। सुलेमान सौदागर के कथनानुसार सामंत राजा इन प्रतिनिधियों की अगवानी सम्राटोचित सम्मान से ही करते थे। ये प्रतिनिधि गुप्तचरों द्वारा बराबर इसकी खबर रखते थे कि कहीं सामंत राजा विद्रोह की तो नीयत नहीं रखता। सामंत राजा भी सम्राट के दरबार को गतिविधि पर ध्यान

१ मध्य भा के ३ पृ ८९।
२ एपि इंडि ३ पृ ५३।

रखने के लिए अपने प्रतिनिधि वहाँ रखते थे। उदाहरणार्थ, बनवासी के सामंत शासक बंकेय ने राष्ट्रकूट सम्राट् तृतीय अमोघवर्ष (८५० ई०) के[1] दरबार में गणपति नामक व्यक्ति को अपने प्रतिनिधि रूप में रखा था।

सामंत राज्य पर सम्राट् का नियंत्रण सामंत के पद और सम्राट् की सामर्थ्य के अनुसार होता था। सम्राट् की आज्ञाओं का पालन सामंत का कर्तव्य था। सामंत के दानपत्रों, और शासनों (फर्मान) में सम्राट् का नाम सर्वप्रथम देना जरूरी था। उन्हें प्रायः अपने सिक्के चलाने का भी अधिकार न था। सम्राट् के दरबार में सामंतों की उपस्थिति केवल उत्सव और राज्याभिषेक आदि अवसरों पर ही नहीं, वरन् थोड़े थोड़े समय के अंतर पर भी वांछित थी। अतएव शिलालेखों में अनेक जगह सम्राटों के दरबार के वर्णन में अनेक सामंतों की उपस्थिति के उल्लेख मिलते हैं। सम्राट् को नियमित कर देना भी जरूरी था, या तो वह कर सम्राट् के दरबार में भेज दिया जाता था या सम्राट् अपनी यात्रा में इसे वसूल करते थे[2]। सम्राट् के यहाँ पुत्रजन्म और विवाह आदि अवसरों पर भी सामंतों से उपायन (भेंट) की आशा की जाती थी। सम्राट् की इच्छा होने पर सामंतों को अपनी कन्याएँ उनसे ब्याहनी पड़ती थीं। गुप्त साम्राज्य में पराजित राजा जब सामंत पद स्वीकार करते थे तो उन्हें कुछ इकरार करना पड़ता था और सम्राट् उन्हें अपने फर्मान (शासन) द्वारा पुनः अपने राज्य में प्रतिष्ठित करते थे। इस शासन में इन शर्तों का भी उल्लेख रहता था जिन पर राज्य वापस किया जाता था[3]। अन्य साम्राज्यों में भी ऐसा होता था या नहीं, हमें ज्ञात नहीं।

मध्यकालीन यूरोप की भाँति प्राचीन भारत में भी सामंतों को सम्राट् के सहायतार्थ निर्धारित संख्या में सैनिक भेजने पड़ते थे। कलचुरि राजा सोढ्देव (८९० ई०) अपने सम्राट् मिहिरभोज के कनौज अभियान में सम्मिलित हुआ था[4]। दक्षिण कर्नाटक का नरसिंह चालुक्य (९१५ ई०) अपने सम्राट् राष्ट्रकूट तृतीय इंद्र की ओर से प्रतिहार सम्राट् महीपाल के विरुद्ध युद्ध क्षेत्र में जाकर लड़ा था[5]।

---

१ एपि० इं० ६ पृ० ३३।
२ इंडि० ऐंटि० ११ पृ० १२६
३ समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति।
४ एपि० इंडि०, १२ पृ० १०३।
५ राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ० ११२।

६ वीं शताब्दी में वेंगी के चालुक्यों को मैसूर के गंगों के विरुद्ध राष्ट्रकूटों की सहायता करनी पड़ती थी। गंग राजाओं के सामंत नागरस को अपने सम्राट् की आज्ञा से अय्यपदेव और वीरमहेंद्र के संघर्ष में १० वीं सदी में भाग लेना पड़ा और अपने प्राण भी देने पड़े[1]। उपर्युक्त घटनाओं के अतिरिक्त इस प्रकार के और भी बहुत उदाहरण हैं।

परिस्थिति के अनुसार सामंतों की अपनी आंतरिक स्वायत्तता में भी अंतर होता था। बड़े बड़े सामंतों को पर्याप्त अधिकार रहते थे, जैसे गुप्त साम्राज्य में उच्छकल्प और परिव्राजक राजाओं को, राष्ट्रकूट राज्य में गुजरात के सामंतों को और चालुक्य तथा यादव राज्य में शिलाहार वंशी सामंत राजाओं को थे। उच्छकल्प वंशी सामंतों की भाँति कुछ तो अपने दानपत्रों में अपने सम्राट् का उल्लेख भी नहीं करते, पर इसे अपवाद समझना चाहिये। अधिपति को कर देने के पश्चात् स्वरूप से पूर्ण आंतरिक स्वायत्त अधिकार प्राप्त हो जाते थे। वे अपने उपसामंत बना सकते थे और अपने कर्मचारियों की स्वयं नियुक्ति करते थे। बिना सम्राट् से पूछे वे जागीर दे सकते थे, गाँव दे सकते थे और बेच भी सकते थे[2]।

एक सामंत सम्राट् को दाब कितनी कम मानते थे इसका पता ब्राह्मणाबाद (सिंध) के लोहार सरदार अखलम के राजा छछ को लिखे पत्र से चलता है। छछ ने उसे अपना आधिपत्य स्वीकार करने को लिखा था इसके उत्तर में अखलम ने लिखा—मैंने कभी आपका विरोध या आपसे झगड़ा नहीं किया। आपका मैत्री पूर्ण पत्र मिला, मैं उससे गौरवान्वित हुआ हूँ। हमारी मैत्री कायम रहेगी और हम में कोई शत्रुता न होगी। मैं आपके आदेशों का पालन करूँगा। आप ब्राह्मणाबाद के इलाके में जहाँ चाहें स्वच्छंदता से रह सकते हैं। यदि आप किसी अन्य दिशा में जाना चाहते हैं तो आपको रोकने या छेड़ने वाला कोई नहीं। मेरा इतना प्रभाव और शक्ति है जिससे आपको मदद मिल सकती है[3]।

छोटे सामंतों को स्वभावतः इससे बहुत कम स्वतंत्रता थी। वाकाटकों के सामंत नारायण महाराज और शत्रुघ्न महाराज, वैन्यगुप्त के सामंत रुद्रदत्त,

---

१ राष्ट्रकूटों का इतिहास,

२ इंडि एंटि १२ पृ १२६, एपि इ ३, पृ ३१०। उच्छकल्प और परिव्राजक शासनों में साधारणतः अधिपति का नाम न रहता था।

३ इलियट, १ पृ० १९६

और कदम्बों के सामंत मानुशक्ति आदि को अपने ही राज्य के कुछ ग्रामों की मालगुजारी दान करते समय अपने सम्राटों की अनुमति लेनी पड़ी थी[1]। राष्ट्रकूट सम्राट् तृतीय गोविंद का सामंत सुवर्णवर्ष धानिकी दया निवारणार्थ एक गाँव दान देना चाहता था, इसके लिए उसे सम्राट् से अनुमति माँगनी पड़ी[2]। राष्ट्रकूट ध्रुव के सामंत शंकरगण को भी एक गाँव दान करने के लिए सम्राट् की अनुमति लेनी पड़ी था[3]। कदंब सम्राट् भी अपने सामंतों पर इसी प्रकार नियंत्रण रखते थे। गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य के काठियावाड़ जैसे दूरस्थ प्रदेशों के सामंतों को भी गाँव आदि दान देने के लिए अधिपति की अनुमति लेनी आवश्यक थी और यह अनुमति साधारणतः उनके यहाँ रहने वाले सम्राट् के प्रतिनिधि दिया करते थे, जो बहुधा सम्राट् की ओर से ताम्रपत्रों पर हस्ताक्षर करते पाये जाते हैं[4]। ११ वीं शताब्दि में परमार राज्य में[5] और ७ वीं शताब्दी में कश्मीर में भी यही प्रथा प्रचलित थी[6]।

निकृष्ट श्रेणी के सामंतों पर तो सम्राट् का नियंत्रण व हस्तक्षेप और भी अधिक रहता था। इनके सम्राट् और उनके मंत्री भी इनकी रियासतों के गाँव दान कर दिया करते थे। उदाहरणार्थ राष्ट्रकूट द्वितीय कृष्ण ने अपने सामंत चंद्रगुप्त के राज्य का एक गाँव दान दे डाला था[7]। चालुक्य सम्राट् सोमेश्वर के प्रधान मंत्री के आदेश से उसके एक सामंत को किसी कार्य के लिए ५ स्वर्ण मुद्राएँ दान में देनी पड़ी थीं[8]। परमार राजा नरवर्मा ने अपने सामंत राज्यदेव के एक गाँव की २० 'हल' जमीन किसी व्यक्ति को दान दी।

---

१ कॉ इ इ, ४ पृ० २९९ इंडि हिस्ट क्वा ६, पृ० ५३, इंडि ऐंटि ५ पृ० ३१-२।
२ इंडि ऐंटि १२ पृ० १५।
३ एपि इंडि ९, पृ० १९५।
४ एपि इंडि ४ पृ० ६।
५ ज ए सो ब ७ पृ० ७३६ ३
६ इंडि एंटि १३ पृ० ४८।
७ एपि इंडि १ पृ० ८९।
८ इंडि एंटि ३ पृ० १४१।
९ प्रोग्रेस रिपोर्ट, आ स वे इं०, पृ० ५४, भांडारकर सूची पृ० १८०।

परमार नरेश जयवर्मा के आदेश से उसका सामंत गंगदेव भूमिदान करता पाया जाता है[1]।

विद्रोही सामंतों को पराजित होने पर बड़ी यातनाएँ सहनी पड़ती थीं। गुजरात के कुमारपाल (११५० ई) ने अपने सामंत विक्रमसिंह को हराकर उसे अपदस्थ कर उसके स्थान पर उसके भतीजे को प्रतिष्ठित किया था[2]। कभी कभी इससे भी अधिक लांछना भुगतनी पड़ती थी, कभी कभी उनसे विजेता के अश्वशाला हस्तिशाला में झाड़ू दिलवायी जाती थी[3]। राजद्रोह के दंड में उनका कोष, घोड़े और हाथी जब्त कर लिये जाते थे। कभी कभी उनके राज्य भी जब्त कर लिये जाते थे या थोड़े दिनों के लिए शासन प्रबंध उनके हाथ से छीन लिया जाता था।

केंद्रीय सत्ता कमजोर पड़ जाने पर सामंत गण प्रायः स्वतंत्र हो जाते थे। गुर्जर प्रतीहार साम्राज्य की अवनति के समय उसके अनेक सामंतों ने 'महाराजाधिराज परमेश्वर' आदि सम्राटोचित उपाधियाँ धारण कर ली थीं[4]। सामंत लोग अपने शासनों में (फर्मानों) में अधिपति का नाम देना बंद कर देते थे या देते भी थे तो यों ही उल्लेख कर देते थे। कर भी नियमित रूप से देना बंद हो जाता था। अधिपति की शक्ति कम हो जाने पर जब उसे युद्ध में सामंतों की मदद की आवश्यकता होती थी तो सामंत सहायता के बदले अपनी मनमानी शर्तें लगाते थे। उदाहरणार्थ बंगाल के राजा रामपाल को अपने सामंतों की सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए, बहुत अधिक अधिकार छोड़ने पड़े थे। सम्राट् अधिपति के उत्तराधिकारियों में राजसिंहासन के लिए संघर्ष होने पर तो सामंतों की और बन आती थी, वे प्रतिद्वंद्वियों का पक्ष ग्रहण करके अपने पसंद के आदमी को सिंहासन पर बिठाने की कोशिश करते थे, और नये राजा से मनमाने अधिकार प्राप्त करके वे अपनी पुरानी पराजयों को धोने का प्रयत्न करते थे। नया सम्राट् राजा भी इस स्थिति में न रहता था कि अपने गद्दी दिलानेवालों की बातें मानने से इनकार कर सके। यदि उत्तराधिकारी बहुत ही कमजोर होता था, तो सामंत स्वयं सम्राट् पद प्राप्त करने के लिए लड़ना शुरू कर देते थे। चालुक्य साम्राज्य के पतन पर यादवों, कल

---

१ एपि इंडि ८ पृ० १२० २। २ कुमारपाल प्रबंध पृ० ४२।
३ एपि इंडि १८ पृ २४८।
४ एपि इंडि १ पृ १६३, २ पृ २११-७।

चुरियों और होयसालों में दक्षिण के आधिपत्य के लिए १२ वीं सदी में गहरी होड़ लगी जिसमें यादवों को सफलता मिली। इसी प्रकार के दृश्य प्रत्येक साम्राज्य के पतन के समय देखने में आते थे।

पराजित राजाओं को राज्यच्युत न करने की नीति से अवश्य ही चिरागत स्वार्थों और स्थानीय स्वतन्त्रता की रक्षा होती थी। परन्तु इससे राज्य व्यवस्था में स्थायी अशांति और अस्थिरता के बीज पड़ जाते थे। निरर्गल सामंत राजा सम्राट् के जुए को अपने कंधों से उतारफेंकने की ताकमें रहते थे, और प्रभु शक्ति को सदा उनकी गतिविधि पर कड़ी नजर रखनी पड़ती थी। सामंत राज्यों की सैनिक शक्ति नष्ट नहीं की जा सकती थी क्योंकि अधिपति को उसकी आवश्यकता पड़ती थी। प्रभु शक्ति और सामंत का संबंध बहुधा सशस्त्र तटस्थता (armed neutrality) का सा रहता था। अधिपति अपनी प्रभुसत्ता तभी तक कायम रख सकता था, जब तक वह अपने सामंतों को एक दूसरे के मुकाबले रखकर उनकी शक्ति संतुलित रखकर सबको अपने वश में रख सके। इस स्थायी अशांति और अस्थिरता के परिणामों पर अगले अध्याय में विचार किया जायगा।

---

१४ वाँ अध्याय

सिंहावलोकन और गुण दोष विवेचन

पिछले १३ अध्यायों में हमने राज्य और उसका स्वरूप ध्येय तथा कार्यों के विषय में प्राचीन भारतीयों के विचारों, आदर्शों और शासन की विभिन्न शाखाओं का वर्णन किया है। शासन के विषय का विचार करते समय हमने शासन यंत्र के विभिन्न पुर्जों,–राजा, अमात्य, केंद्रीय शासन कार्यालय,–आदि पर अलग अलग विचार किया और उनके विशेष स्वरूप तथा प्रत्येक युग में उनके इतिहास की समीक्षा की। इससे पाठकों को विभिन्न शासन संस्थाओं और पदों की उत्पत्ति और विकास का क्रम समझने में सुगमता हुई होगी। परन्तु यह भी आवश्यक है कि पाठक के सम्मुख विभिन्न युगों की शासन व्यवस्था का पूरा चित्र भी रहे ताकि वह प्रत्येक युग की शासन व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं को ध्यान में रख सके। अत इस अंतिम अध्याय में पहले एक एक युग की शासन व्यवस्था की साधारण समीक्षा की जायगी।

बीते युगों के अध्ययन का अपना ही आकर्षण और महत्त्व है। पर यह वर्तमान की समस्याएँ सुलझाने में भी सहायक हो सकती है। अतएव इस अध्याय के दूसरे भाग में हम प्राचीन भारत के राजनीतिक चिंतन और शासन व्यवस्था की साधारण समीक्षा या मूल्यांकन करेंगे और निष्पक्ष भाव से उनके गुण दोष का विवेचन करेंगे। प्राचीन भारतीय राज्य तंत्र के गुणों को समझ कर हम वर्तमान काल में भी उन्हें ग्रहण कर सकते हैं, और दोष पहचान कर नया विधान बनाने में उनसे बच सकते हैं।

सिंहावलोकन

प्राचीन भारत की जाति, विवाह, आश्रम आदि संस्था और प्रथाओं के विकास क्रम के अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है पर राज्यतंत्र और शासन व्यवस्था के विषय में यह बात नहीं है। वैदिक काल की शासन पद्धति की साधारण रूपरेखा तो खींची जा सकती है पर अगले एक हजार वर्षों में इसके विकास का क्रम हमारी आँखों से ओझल हो जाता है। फिर पर्दा उठने

पर मौर्य साम्राज्य के पूर्ण विकसित शासन तंत्र का दर्शन होता है जो केवल राज्य के आवश्यक ही नहीं वरन अनेक लोकहितकारी कर्त्तव्यों का भी सम्पादन कर रहा था। वैदिक काल का राज्यतंत्र, जो केवल थोड़े से आवश्यक कार्यों का ही सम्पादन करता था, विकसित होकर कैसे इतने कार्य करने लगा यह एक प्रकार से अज्ञात ही है। मौर्य साम्राज्य की शासन पद्धति बाद के लिए भी एक प्रकार से रूढ़ि हो गयी और इसमें अधिक परिवर्तन या विकास नहीं दिखायी देता।

वैदिक काल में राज्य और शासन-पद्धति

वैदिक काल का राज्य प्राचीन यूनान के नगर राज्यों की भांति छोटा होता था, उसका विस्तार आजकल के एक जिले से प्रायः अधिक न था। अधिकांश राज्यों की उत्पत्ति भी एक विशेष जन या कबीले से सम्बद्ध थी, राज्य के नागरिक अपने को यदु, पुरु, द्रुह्यु जैसे किसी पौराणिक पुरुष की सन्तान समझते थे। शासक वर्ग में विभिन्न कुलों के गृहपति ही सम्मिलित थे। कई कुटुम्बों को मिला कर 'विश्' की रचना होती थी, जिसका अध्यक्ष 'विश्पति' होता था, कई 'विशों' को मिलाकर 'जन' की रचना होती थी जिसका प्रधान जनपति या राजा होता था। प्राचीन यूनान की भांति यहाँ भी राजा का पद अमीरों या सरदारों के मंडल के प्रधान का था। अतः उसके अधिकार भी सीमित थे और वह देवोपम भी न माना जाता था। वैदिक काल के अंतिम चरण में राजा के कार्यों की तुलना इंद्रादि देवताओं से होने लगी और उसको दिव्यता के सिद्धांत का बीजारोपण हुआ।

कालक्रम से राज्यों का विस्तार और राजा के अधिकार भी बढ़ने लगे। किंतु शताब्दियों तक समिति जैसी लोकसभा का पूरा नियंत्रण राजा पर कायम रहा। समिति का विरोध राजा के लिए सबसे बड़ी विपत्ति समझी जाती थी। समिति में सम्भवतः विश्पति और गृहपति रहते थे। नित्य के शासन कार्य में मंत्रियों की समिति राजा को सहायता देती थी, इसमें उसके रिश्तेदार, दरबारी, और प्रमुख विभागों के अध्यक्ष रहते थे। इस युग के प्रमुख अधिकारियों में सेनापति, संग्रहीता, सन्निधाता और ग्रामणी आदि का उल्लेख होता था। यह स्पष्ट है कि सरकार का मुख्य कार्य भीतरी और बाहरी शत्रुओं और उपद्रवों से राज्य की रक्षा करना था, और इसके लिए आवश्यक कर वसूल किया जाता था। आरम्भ में कर यदा कदा और स्वेच्छा से दिये जाते थे पर कालांतर में अनिवार्य हो गये। वैदिककाल के परवर्ती भाग में ही सरकार ने गंभीर

सब झगड़े ग्राम सभा द्वारा ही झगड़ों के निपटारे के काम लिया, इसके पूर्व निपटाये जाते थे।

वैदिक राज्यों के छोटे होने के कारण इस युग में प्रांतीय या प्रादेशिक शासन का प्रारंभ भी नहीं दिखाई देता है। ग्रामणी का (मुखिया) राजा और उसकी रत्नि-परिषद से सीधा संबंध था। कालक्रम से राज्यों का विस्तार बढ़ा। राज्य संघ बनाने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है, कुरु और पांचालों के मिलकर एक राज्य बनाने का उदाहरण हमारे सम्मुख है। ब्राह्मण ग्रंथों में सम्राट् और साम्राज्य का भी उल्लेख मिलता है। पर ये साम्राज्य भी शायद ही आधुनिक कमिश्नरियों से बड़े रहे हों। पर इनके विकास से जन राज्यों (Tribal states) का अंत हो गया। १००० ई० पू० से सर्वत्र प्रादेशिक राज्यों का ही चलन हुआ।

ब्राह्मण युग के बड़े राज्यों में (ई० पू० १०००) अवश्य ही किसी की शासन पद्धति का विकास हुआ होगा पर इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। न केंद्रीय शासनालय का ही कहीं वर्णन है। उस समय लिपि या लेखन कला का अधिक प्रचार नहीं था और राजा अपने छोटे राज्यों का प्रजा से स्वयं ग्राम ग्राम घूमकर या संदेशवाहकों द्वारा संपर्क स्थापित करते थे।

राज्य के लक्ष्य और आदर्शों के विषय में भी नियमित विचार या चर्चा वैदिक वाङमय में नहीं मिलती। पर स्फुट उल्लेखों से ज्ञात होता है कि वरुण की भांति आदर्श राजा से भी धृतव्रत, (नियमों का पालक) होने की आशा की जाती थी। अपनी प्रजा की नैतिक और भौतिक उन्नति की चेष्टा करना भी उसका कर्तव्य था।

वैदिक काल में नृपतंत्र सर्वाधिक प्रचलित था, पर इसके साथ साथ गण राज्य (Republics) भी वर्तमान थे। वे वैराज्य (राजा रहित) कहे जाते थे, इनकी लोकसभा में संभवतः विशांपति और गृहपति रहते जो अपना अध्यक्ष चुनते थे। जब अध्यक्ष पद अनुवंशक हो जाता था तब राज्य नृपतंत्र में परिवर्तित हो जाता था, जब तक यह पद निर्वाचित रहता था, गणराज्य का अस्तित्व बना रहता था।

ई० पू० ६०० ३५० के बीच मगध और कोशल ये दो राज्य काफी विस्तृत हो गये थे, पर इनकी शासन पद्धति का अधिक विवरण नहीं मिलता। राजा शासन सत्र का प्रधान था, उसकी सहायता के लिए मंत्री रहते थे। बिला और प्रांत के शासन का भली भांति विकास न हो पाया था, क्योंकि मगधराजा

बिंबिसारने एक समय ८० हजार ग्रामों के मुखियों का सम्मेलन किया था, न विषयाधिपतियों का या पचकाधिपतियों का। पर नंद राज्य में महामात्रों की सहायता से प्रांतीय शासन पद्धति का निर्माण आरंभ हुआ। मौर्य राज्य में इन महामात्रों का पद और भी महत्वपूर्ण हुआ।

मौर्य युग

मौर्य काल का राज्य और शासन पद्धति वैदिक कालसे बहुत उन्नत है। हमारे सम्मुख एक सुसंगठित साम्राज्य की पूर्ण विकासित शासन पद्धति उपस्थित होती है जिसमें प्रांत, जिला, नगर और ग्राम की सरकारें अपने अपने क्षेत्र में काम करती दिखायी देती हैं। राजा का पद अनुवांशक हो जाता है और निर्वाचन पद्धति लुप्त हो जाती है। राजा के अधिकारों की भी वृद्धि होती है और वह सेना, शासन, न्याय आदि राज्य के सब विभागों का सर्वेसर्वा हो जाता है। वह विधि नियम बनाने के अधिकारों का भी दावा करता है और उसके शासन तथा घोषणाओं को कानून का दर्जा मिलता है। वैदिक काल की समिति के तिरोधान से राजा के अधिकारों में और भी वृद्धि हो गयी। राष्ट्रों के अधिक विस्तृत हो जाने के कारण और यातायात की कठिनाई के कारण समिति के नियमित रूप से एकत्र होने में कठिनाई होने लगी, इससे धीमे धीमे उत्तर वैदिक युग में समिति का तिरोधान हो गया और मौर्य काल या उसके बाद के किसी लेख में इसका उल्लेख नहीं मिलता। जैसा कि सप्तम अध्याय में दिखाया जा चुका है यह मत ठीक नहीं है कि समिति के स्थान पर पौरजानपद संस्थाओं की प्रतिष्ठा इस युग में हुई।

वैदिक कालीन रत्नियों अथवा राजा के परामर्श दाताओं की समिति का इस युग में विकास और अभिवृद्धि हुई। अब इसने नियमित मंत्रि परिषद का रूप धारण कर लिया और इसमें राजा के रिश्तेदारों और चापलूसों को स्थान न रहा। समिति के न रहने के कारण मंत्रिपरिषद् वैधानिक दृष्टि से राजा के प्रति ही उत्तरदायी रही यद्यपि लोकमत का भी इस पर बहुत प्रभाव था।

मौर्य कालीन शासन में सबसे उल्लेखनीय परिवर्तन सरकारी कार्यों के विस्तार में दर्शित हुआ। इससे मंत्रियों और विभागों की संख्या में भी वृद्धि हुई। सरकार का काम केवल शांति और सुव्यवस्था की रक्षा न रह गया वरन् राष्ट्र की समृद्धि के लिए राज्य की ओर से खान खुदवाने, जंगलों के विस्तृत करने, नयी बस्तियाँ बसाने, राज्य की ओर से उद्योग धंधे चलाने, और

कारीगरों तथा शिल्पियों का संरक्षण करने आदि की भी व्यवस्था होने लगी। सामान्य नागरिक खरीददारों (Consumers) के हित का भी ध्यान रखा गया और इस हेतु नाप व तौल का मान स्थिर करने तथा वस्तुओं का संचय और मुनाफाखोरी रोकने के लिए सरकार की ओर से बाजारों के निरीक्षक भी नियुक्त किए जाते थे। द्यूत, मदिरापान और वेश्या वृत्ति आदि बुराइयों के नियंत्रण की भी व्यवस्था की गयी। प्रजा की आध्यात्मिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए धर्म और सदाचार के प्रोत्साहनार्थ विशेष कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे और विद्वानों तथा कलाकारों को आश्रय दिया जाता था। आर्त और दीनों के कष्टनिवारण के लिये सत्र, रुग्णालय (अस्पताल) और धर्मशालाएं खोली जाती थीं। इन सब कार्यों के लिए राज्य को बहुत से नये विभाग खोलने पड़े और कर्मचारी नियुक्त करने पड़े। इसमें संदेह नहीं कि उपयुक्त कार्यों में मौर्य शासन को पर्याप्त सफलता मिली। यह कहना कठिन है कि मौर्य साम्राज्य के बाद के छोटे राज्य भी इन सब कामों को कर सके या नहीं।

इतने विविध कार्य करनेवाले बड़े साम्राज्यों के प्रादुर्भाव के फल स्वरूप केंद्रीय और प्रांतीय राजधानियों में शासनालयों (Secretariat) की भी स्थापना हुई। २५० ई० पू० तक साम्राज्य के शासन यंत्र का पूरा विकास हो चुका था और शासन की विभिन्न केंद्रीय, प्रांतीय, प्रादेशिक और स्थानीय शाखाएँ भी अस्तित्व में आ चुकी थीं। यही व्यवस्था किंचित् परिवर्तनों के साथ पूरे प्राचीन काल में तेरहवीं सदी के अंत तक चलती रही।

बड़े साम्राज्यों की बड़ी सेना भी होनी चाहिए, और २०० ई पू से पक्की सेनाएँ प्रत्येक राज्य में पायी जाती थीं। राज्य की आय का सबसे बड़ा भाग इन्हीं पर खर्च होता था। सरकार के विभिन्न विभागों और सेना के लिए व्यय जुटाने के लिए करों में भी वृद्धि हुई। करों की संख्या और इनकी दरों में भी वृद्धि उत्तरोत्तर होती गयी।

हम देख चुके हैं कि वैदिक काल में अनेक प्रदेशों में गण-राज्य वर्तमान थे। छठी शताब्दी ई पू तक पंजाब, सिंध, मगध और विदेह के विभिन्न प्रदेशों में ये गणराज्य कायम थे। अगली शताब्दी में नंद साम्राज्य के विस्तार ने शाक्य, कोलिय, मल्ल, विदेह आदि अधिकांश उत्तरी पूर्वी गणराज्यों का अस्तित्व नष्ट कर दिया। पर पंजाब और सिंध के गणराज्य ३२५ ई पू तक कायम रहे। इन्हें मौर्य साम्राज्य के सामने सिर झुकाना पड़ा पर मौर्य राजाओं ने आंतरिक प्रबंध में इनकी स्वायत्त सत्ता कायम रहने दी। मौर्य साम्राज्य के पतन के

बाद गण राज्योंने फिर सिर उठाया पर कुषाण राजाओं ने फिर कई दशकों तक इन्हें अपने अधीन रखा ।

विदेशियों की शासन प्रणाली

इस काल में शासन पद्धति में बहुत कम परिवर्तन हुए । इस काल खंड में उत्तरी और उत्तरी पश्चिमी भारत और गुजरात, काठियावाड़ तथा राजपुताना में अनेक विदेशी राज्य स्थापित हुए पर उनकी शासन पद्धति पूर्ववर्णित पद्धति से बहुत भिन्न न थी । राजा शासन का अधिष्ठाता बना रहा । उसके अधिकार दिनों दिन बढ़ते ही जाते थे । उसकी उपाधियाँ बड़ी लंबी चौड़ी होती जा रही थीं । चन्द्रगुप्त और अशोक जैसे शक्तिशाली शासक तो केवल राजा की ही उपाधि से संतुष्ट हो गये । कनिष्क ने 'महाराज' 'राजाधिराज' और 'देवपुत्र' की उपाधियाँ धारण की थीं । 'देवपुत्र' से सूचित होता है राजा की दिव्यता की भावना कुषाण राजाओं के समय और भी बलवती हो गयी । कुषाण राजा देवकुल या मंदिर भी बनवाते थे जिसमें उनका बड़के मृत राजाओं की प्रतिमाएँ स्थापित की जाती थीं । शक कुषाण राजाओं ने 'द्वैराज्य' की भी प्रथा चलायी जिसमें राजा और युवराज संयुक्त शासन करते थे । स्पेलिरायज़ेज और अजेस, हगान और हगामष, गोंडोफर और गद, कनिष्क द्वितीय और हुविष्क के युग्म इस द्वैराज्य के उदाहरण हैं । पश्चिम हिंदुस्थान के क्षत्रपों के राज्य में पिता और पुत्र एक साथ राज्य चलाते थे और दोनों अपने नामसे मुद्राएँ भी जारी करते थे । इसमें पिता महाक्षत्रप की उपाधि धारण करता था और पुत्र क्षत्रप का शककुषाणों की इस द्वैराज्य पद्धति में कनिष्ठ शासक के अधिकार हिंदू शासन पद्धति में युवराज को प्राप्त अधिकारों से अधिक थे ।

हम देख चुके हैं कि ५०० ई पू तक वैदिक कालीन लोक सभा या समिति का अस्तित्व मिट चुका था । प्रस्तुत युग में भी इस प्रकार की कोई लोक सभा स्थापित न हो सकी । केंद्रीय सत्ता राजा, युवराज और मंत्रि परिषद् (जो राजा के प्रति उत्तरदायी थी) के हाथों में थी । पूर्वकाल की भाँति केंद्रीय राजधानी में शासनालय (Secretariat) वर्तमान था जो केंद्रीय सरकार के विभिन्न कार्यों में एकसूत्रता बनाये रखते थे और केंद्रीय सरकार के आदेशों को प्रांत नगर और ग्रामों को भेजते थे ।

प्रांत, जिले, और पुर का शासन पूर्ववत् चलता रहा । विदेशी शासकों ने केवल कुछ पदाधिकारियों के नाम भर बदले, उदाहरणार्थ प्रांतीय शासक या सूबेदार शककुषाण राज्य में क्षत्रप और महाक्षत्रप, जिले के अधिकारी

यूनानी शब्द में क्रमशः 'मेरिडार्क' और सेनानायक 'स्ट्रेटागस' पुकारे जाते थे। विदेशी शासन एक दो पीढ़ियों के बाद भारतीय बन जाते थे और हिंदू संस्कृति और धर्म के साथ हिंदू राजनीतिक सिद्धांत और पद्धति भी ग्रहण कर लेते थे। उदाहरणार्थ महान् शक शासक रुद्रदामा की भी चन्द्रगुप्त और अशोक की भाँति एक मंत्रिपरिषद् थी जिसके सदस्य 'मति सचिव' और 'कर्म सचिव' नामों से संबोधित किये जाते थे। रुद्रदामा ने अपने लेख में गर्व के साथ लिखा था कि 'मैंने अर्थविद्या (राजनीति) का अध्ययन किया है और इसी के सिद्धांतों के अनुसार शासन करता हूँ।'

शुंग, कण्व, पह्लव, कुषाण, शक और सातवाहन वंश के शासकों के शासन क्षेत्र के बारे में बहुत कम सामग्री मिलती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ये शासक अर्थ शास्त्र में निर्दिष्ट और मौर्य राजाओं द्वारा किये जाने वाले विविध राजकीय कार्य करते थे या नहीं।

गुप्त और गुप्तोत्तर कालीन शासनप्रणाली

भारतीय राज्य शास्त्र के सिद्धांतों और शासन पद्धति में गुप्त और गुप्तोत्तर काल में भी (३०० १२०० ई) अधिक परिवर्तन न हुए। अनुवंशक राजा शासन का अधिष्ठाता बना रहा और उसके हाथों में ही शासन, सेना और न्याय के समस्त अधिकार केंद्रित थे। राजा देवोपम माने जाते थे पर दोषों और भूलों के परे नहीं। उसे विशेष रूप से धर्मानुसार आचरण और कर्तव्य पालन करने को कहा गया था क्योंकि प्रजा भी उसी के दिखाये रास्ते पर चलती थी। मन्त्रिपरिषद् पूर्ववत् राजा को सहायता देती रही और साधारण स्थिति में राजा तथा शासन की गतिविधि को प्रभावित करने की इसमें शक्ति थी। केंद्रीय शासन कार्यालय भी पहले की भाँति काम करते रहे। निरीक्षण की पद्धति पहले की अपेक्षा बहुत विकसित हो चुकी थी। पूर्व की भाँति प्रांत, जिले और पुर के शासन कायम रहे पर विभिन्न शताब्दियों और प्रदेशों में इनके पदाधिकारियों के नाम बहुधा बदलते रहे। सेना विभाग सबसे महत्वपूर्ण और खर्चीला विभाग बना रहा। अधिकांश प्रांतीय और प्रादेशिक और जिले के शासक और मंत्रिपरिषद के सदस्य सेना के पदाधिकारी भी थे। राष्ट्रीय संपत्ति और प्राकृतिक साधनों के विकास पर पहले के समान ही ध्यान दिया जाता था। खानों और जंगलों के विकास का यत्न होता रहा। व्यापार और उद्योग की देखरेख के लिए विशेष अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। प्रजा की आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति का भी प्रयत्न किया जाता था, इसके लिए मंत्रि परिषद् में एक विशेष मंत्री रहता था जिसका

काम जनता के आचरण की देख रेख रखना, धार्मिक संस्थाओं और मंदिरों को सहायता देना और समाज सुधार तथा प्राचीन प्रथाओं में आवश्यक परिवर्तन के विषय में राजा को परामर्श देना था। अन्य युगों की अपेक्षा इस कालके बहुत अधिक शिलालेख और ताम्रपत्रादि उपलब्ध है जिनसे पता चलता है कि शिक्षाके प्रचार और ज्ञानकी वृद्धि की प्रशंसनीय आकांक्षासे प्रेरित होकर सरकार शिक्षासंस्था और विद्यानों को खोलकर दान और सहायता देता था। राज्य द्वारा मंदिर निर्माण की प्रवृत्ति भी तक्षण, स्थापत्य, चित्रण और नृत्य आदि ललित कलाओं की उन्नति में बहुत सहायक हुई।

इस कालमें शासन पद्धति में दो उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। ३०० ई० से प्राचीन भारत से गणतन्त्र पद्धति का अस्तित्व उठ गया। अनुवंशक राजा की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्ति के कारण गणतन्त्र के अध्यक्ष का पद भी अनुवंशक होने लगा। गणतन्त्र के अध्यक्षों को राजकीय उपाधियाँ भी लगायी जाने लगीं। अब इनका पद भी अनुवंशक हो जाने से इनमें और अनुवंशक नृप में भेद ही न रह गया।

इस काल का दूसरा उल्लेखनीय परिवर्तन ग्राम और नगर सभाओं के कार्यों और अधिकारों में अभूतपूर्व वृद्धि है। ये संस्थाएँ पहले भी वर्तमान थीं, पर उपलब्ध प्रमाणों से यह नहीं सिद्ध होता कि इनका रूप वैसा ही गैर सरकारी और इनका कार्यक्षेत्र उतना ही विस्तृत था जैसा ४ थी शताब्दी से उत्तर और दक्षिण भारत दोनों में पाया जाता है। संधि विग्रह को छोड़कर सरकार या राज्य के बाकी सब काम ये करती थीं। ये स्थानीय शासन संस्थाएं जनसत्ता के दृढ़ दुर्ग के समान थीं और इनकी कार्यक्षमता के कारण समिति के अभाव का दुष्परिणाम विशेष रूपसे प्रतीत न होने पाया। जनता के अधिकारों और स्वत्वों की सतर्कता पूर्वक रक्षा द्वारा ये ग्राम संस्थाएँ राजा की अधिकाधिक अधिकार हस्तगत करने की प्रवृत्ति को काफी रोक थाम करती थीं। जनता से कर वसूलने का कार्य अधिकतर ग्राम पंचायतें ही करती थीं, यदि राज्य द्वारा नये और न्याय विरुद्ध कर लगाये जाते तो ये उन्हें वसूलने से ही इनकार कर सकती थीं। गंभीर अपराधों को छोड़कर बाकी सब झगड़ों का निपटारा ग्राम पंचायतें ही किया करती थीं।

प्राचीन शासन पद्धति का गुण-दोष विवेचन

अब हमें प्राचीन हिंदू राजतन्त्र और उसकी सफलता व कार्यक्षमता के विषय पर विचार करना है। ऐसा करने में हमें पूरी निष्पक्षता से काम लेना

आवश्यक है। पर हमें यह भी न भूलना चाहिये [illegible] प्राचीन शासकों और संस्थाओं की परीक्षा ऐसे मानदण्ड से नहीं करनी चाहिये जिनका उस समय कहीं अस्तित्व भी न था। हमें हिन्दू राज्यतन्त्र के विषय में धारणा स्थिर करते समय उस समय के वातावरण और परिस्थिति का भी ध्यान रखना होगा। प्राचीन काल की इस समीक्षा से वर्तमान और भविष्य के उपयोग की जो बातें प्रकट होंगी उनका भी हमें उल्लेख कर देना है।

प्राचीन भारत में गण राज्य, जनतन्त्र, द्वैराज्य और नृपतन्त्र आदि विविध शासन पद्धतियाँ प्रचलित थीं, पर अन्त में नृपतन्त्र का ही सर्वत्र प्रचार हुआ। यह घटना प्राचीन भारत में ही नहीं घटी, प्राचीन यूरोप में भी ऐसा ही हुआ। प्राचीन ग्रीस और इटली में भी नृपतन्त्र और साम्राज्य ने गण राज्यों को विनष्ट किया था। प्रतिनिधि शासन की पद्धति प्राचीन काल में पौर्वात्य तथा पाश्चात्य दोनों ही देशों को ज्ञात न थी अतएव गणराज्य या प्रजातन्त्र तभी तक कायम रह सकते थे जब तक राज्य का विस्तार थोड़ा हो और लोक सभा के सभी सदस्य, जो अधिकतर उसी नगर के होते थे, एक स्थान पर एकत्र हो सकें। प्राचीन ग्रीस और रोम के प्रजातन्त्र राज्यों की भाँति यहाँ के गणराज्यों में भी सत्ता साधारण जन के हाथ में न होकर क्षत्रिय, या कहीं कहीं ब्राह्मण जैसे छोटे से विशेषाधिकारी वर्ग के ही हाथों में रहती थी। हिंदू राज्यतन्त्र ऐसे समाज में काम कर रहा था जहाँ जाति प्रथा वर्तमान थी और शासनकार्य क्षत्रियों का कार्य और कर्तव्य माना जाता था, कुछ हद तक ब्राह्मण भी इस कार्य में उनकी सहायता करते थे। अतः प्राचीन भारतीय गणराज्यों में प्रतिनिधि चुनने या मतदान (franchise) का अधिकार साधारण जन को नहीं दिया जा सकता था। परन्तु वर्तमान युग जन्मना जाति द्वारा कार्य विभाजन का सिद्धान्त स्वीकार नहीं करता अतः आज सबको मताधिकार देना होगा।

यह लोकतन्त्र का युग है और हाल में ही भारतवर्ष स्वतन्त्र प्रजातन्त्र हो चुका। अतः हमें उन कारणों का जान लेना चाहिये जिनसे प्राचीन भारतीय गणराज्यों का विनाश हुआ। साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में लोकतन्त्र पद्धति छोटे राज्यों में ही सफलता पूर्वक चल सकती थी। इसके लिए शासक वर्ग का एक बिरादरी का होना भी आवश्यक था। इस प्रकार के गणतन्त्र विस्तृत प्रादेशिक राज्य का रूप न धारण कर सके। परन्तु अब वैज्ञानिक यातायात ने दूरी की कठिनाई दूर कर दी है,

प्रतिनिधि शासन पद्धति का आविष्कार और सर्वत्र प्रचार हो चुका है। जातीय राज्य का अध्याय भी कब का बीत चुका है और राष्ट्रीय भावना का विकास हो चुका है। अतएव अब कोई कारण नहीं कि भारत में प्रजातन्त्र पद्धति क्यों न सफलता पूर्वक चल सके।

प्राचीन गण राज्यों के विनाश का एक कारण राजा को देवता मानने और राजभक्ति की भावना के अत्यधिक प्राबल्य प्राप्त करना भी था। जब गण-राज्य के अध्यक्ष, सेनापति और शासन परिषद के सदस्यों के पद भी अनुवंशिक होने लगे तब इनमें और नृपतन्त्र में अन्तर करना कठिन हो गया। अब राजा के देवत्व का सिद्धान्त मर चुका है और वह वर्तमान युग में लोकतन्त्रात्मक भावनाओं के विकास या संस्थाओं की स्थापना में बाधक नहीं हो सकता, सिवा देशी राज्यों के जहाँ नृपतन्त्र की परम्परा अभी भी चली आ रही है। पर प्राचीन भारत में भी देवत्व के अधिकारी वे ही राजा समझे जाते थे, जो सदाचारी, कर्त्तव्य-परायण और सुयोग्य होते थे, जो अपनी प्रजा के वास्तविक विश्वस्त (trustee) या संरक्षक का काम करते थे और प्रजा के हित के लिए अपने स्वार्थ, सुविधा और सम्पत्ति का त्याग करने को तैयार रहते थे। देशी राज्यों में नृपतन्त्र तभी कायम रह सकता है जब उनके नरेश उपर्युक्त श्रेणी के हों। यह न भूलना चाहिए कि हमारे आचार्यों ने दुष्ट अत्याचारी और अयोग्य राजा को राक्षस बतलाया है और उन्हें राज्यच्युत करने और मार डालने की भी अनुमति दी है।

प्राचीन भारतीय इतिहास और राज्यतन्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि हमारे गणराज्य तब तक फलते फूलते रहे जब तक उनकी सभाओं के सदस्यों में एकता और मेल रहा। उनमें आपसी झगड़े की प्रवृत्ति बराबर वर्तमान रही। कुछ गणराज्यों में केंद्रीय सभा के प्रत्येक सदस्य को राजा की उपाधि दे दी जाती थी। ये सदस्य किसी को भी अपना नेता मानने को तैयार न थे क्योंकि इसमें वे अपनी हेठी मानते थे। पड़ोसी राजा गणराज्यों की सभाओं के सदस्यों में फूट डालने के लिए अपने चर भेजते थे। गणसभाओं में अक्सर गुट और दल बन जाते थे जो एक दूसरे को नीचा दिखाने का सदा चेष्टा किया करते थे और इस प्रकार बाहरी शत्रु को अपने घर में हस्तक्षेप का मौका देते थे। प्राचीन भारत के बहुत से गणराज्य पड़ोसी राजाओं के षड्यन्त्र से आपस में फूट हो जाने के कारण नष्ट किये गये। अक्सर गणसभा का एक दल पराजित होकर दूसरे पक्ष को नीचा दिखाने के लिए बाहरी शत्रु को आमन्त्रण देता था और अपने राज्य के नाश का कारण बनता

था। प्रजातन्त्रवादी नवभारत के लोक-सभा भवन (पार्लमेंट) के सिंहद्वार पर लिच्छवि गणराज्य के विषय में कहे गये भगवान् बुद्ध के वाक्य स्वर्णाक्षरों में अंकित रहने चाहिये। बुद्ध का कथन था कि,—लिच्छवि गणराज्य तब तक फलता-फूलता रहेगा जब तक उसके परिषद् के सदस्य बार बार एकत्र होकर मन्त्रणा करते रहेंगे, वृद्ध अनुभवी और योग्य पुरुषों का आदर और सम्मान करते रहेंगे, राज्य का काय मेल जोल और एकमत से करते रहेंगे और अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए झगड़नेवाले दलों को उत्पन्न ही न होने देंगे।

पीछे उल्लिखित कारणों से अंत में नृपतन्त्र ही सर्वत्र प्रचलित हुआ। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि हमारे आचार्यों के सम्मुख जो आदर्श रखे उनसे ऊँचे आदर्श आधुनिक युग भी नहीं रख सकता। राजा धृतव्रत, माने नियम, व्यवस्था, न्याय और सदाचार के व्रत का पालन करनेवाला था, वह नियमों के परे नहीं, नियमों का अनुगामी था। उसका पद अपनी प्रजा के विश्वस्त (trustee) से भी अधिक जिम्मेदारी का था, विश्वस्त का कर्तव्य तो सुपुर्द कार्य से व्यक्तिगत लाभ न उठाना ही था, पर प्राचीन भारत के आदर्श के अनुसार राजा को राज्य की भलाई के लिए अपने निजी सुख, सुविधा और लाभों को भी तिलांजलि देनी पड़ती थी। देवत्व का अधिकारी राजा का व्यक्तित्व नहीं, उसका पद था। राजा कभी गलती नहीं कर सकता और ईश्वर के सिवा किसी को उससे जवाब तलब करने का अधिकार नहीं, यह सिद्धांत प्राचीन भारतीय आचार्यों को सम्मत नहीं था। इस बात पर बराबर जोर दिया जाता था कि राजा को साधारण मनुष्य की अपेक्षा बहुत अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है अतः उसे राजकाय की समुचित शिक्षा मिलनी चाहिये जिसके अभाव में उसे अनेक गलतियाँ अवश्य होंगी। राजपद की दिव्यता के सिद्धांत का उद्देश्य उसका गौरव बढ़ाकर राजसत्ता के प्रति आदर उत्पन्न करना था न कि राजाओं में निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना।

पर यह भी मानना होगा कि व्यवहार में बहुत से राजा इस ऊँचे आदर्श का निर्वाह न कर पाते थे। किंतु प्राचीन भारत में अत्याचारी और निरंकुश शासकों की संख्या मध्ययुगीन यूरोप से कदापि अधिक न थी। फिर भी इस पर विचार करना चाहिये कि किन कारणों से राजत्व का यह ऊँचा आदर्श कार्यान्वित न हो पाता था।

इसका सबसे प्रधान कारण राजा के अधिकारों पर किसी लौकिक और वैधानिक रोक थाम की व्यवस्था का अभाव था। मध्यकालीन यूरोपीय विचारकों

की भांति हमारे बहुसंख्य आचार्यों ने यह तो कभी नहीं कहा कि ईश्वर के सिवा अन्य कोई राजा से जवाब तलब नहीं कर सकता। फिर भी व्यवहार क्षेत्र में नरक के भय के अतिरिक्त राजा को निरंकुशता से रोकने का कोई साधन न था। हमारे आचार्यों ने यह भी सलाह दी थी कि अत्याचारी राजा का राज्य छोड़ कर जनता अन्यत्र चली जाय और प्राचीन देशों से इस सामूहिक राज्य त्याग द्वारा राजा के होश ठिकाने आने के कुछ उदाहरण भी मिलते हैं। पर यह उपाय व्यवहार में अत्यंत कठिन है और इसका प्रयोग करना आसान नहीं। प्राचीन आचार्यों ने अत्यंत गंभीर स्थिति में अत्याचारी राजा के वध की भी अनुमति दी है। पर इसके लिए क्रांति या जनविप्लव आवश्यक है, नित्य के शासन में ज्यादती रोकने के लिए यह उपाय बिलकुल बेकार है। प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्री राजा की निरंकुशता को रोकने का कोई लौकिक, वैधानिक और व्यावहारिक उपाय न निकाल सके इसमें कुछ संदेह नहीं है।

इसका प्रधान कारण वैदिक काल की लोक-सभा या समिति का बाद के युग में तिरोहित हो जाना है। जब तक यह संस्था वर्तमान थी, नित्य के शासन कार्य में राजा पर एक अंकुश रहता था। वैदिक वाङ्मय से स्पष्ट ज्ञात होता है कि राजा तभी तक अपने सिंहासन पर रह सकता था जब तक उसकी समिति का उससे विरोध न हो। विरोध होने पर समिति की ही बात प्रायः मानी जाती थी और राजा को या झुकना पड़ता था या राजत्याग करना पड़ता था।

पर उत्तर वैदिक काल में धीरे धीरे केंद्रीय लोक सभा विलुप्त हो गयी। इस लिए नहीं कि जनता में लोकतंत्र की भावना कम हो गयी बल्कि इस लिए कि राज्यों के अधिकाधिक विस्तार के कारण लोक-सभा का अधिवेशन दुष्कर होता गया। यदि चन्द्रगुप्त, अशोक या हर्षवर्धन ने केंद्रीय समिति पुनःस्थापित की होती तो सदस्यों को अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए राजधानी पहुंचने में कई सप्ताह लग जाते, वैसे ही, और पुनः अपने अपने घर लौटने में उतना ही समय लग जाता। प्रतिनिधि निर्वाचन की पद्धति उस काल में एशिया या यूरोप में कहीं भी ज्ञात न थी।

वैदिक काल की भांति प्रातिनिधिक लोक-सभाएँ स्थापित कर के वर्तमान देशी राज्यों में नियमित और वैधानिक नृपतंत्र की पद्धति चलायी जा सकती है। किंतु हिंदी नरेशों को ध्यान रखना होगा कि लोक-सभा से विरोध होने पर उन्हें या तो झुकना होगा या पदत्याग या निर्वासन झेलना पड़ेगा।

बड़े राज्यों में केंद्रीय लोक-सभा का कार्य करना असंभव देख कर प्राचीन भारतीय आचार्योंने जनता के हित के रक्षार्थ शासनकार्य में अधिकाधिक

विकेंद्रीकरण करने की व्यवस्था की थी। जिला, ग्राम और नगर शासन को व्यापक अधिकार दिये गये थे। इन शासनों पर स्थानीय लोक समाओं का पूरा नियन्त्रण और देखरेख रहता था। गुप्त शासन काल में तो राज्य की परती या ऊसर भूमि बेचने के लिए भी जिले की लोक सभा की स्वीकृति आवश्यक थी। प्राचीन भारत की नगर और ग्राम समाओं के अधिकार, आधुनिक या प्राचीन, पाश्चात्य या पौर्वात्य, कहीं भी इसी प्रकार की संस्थाओं से बहुत अधिक थे। ये संस्थाएँ केंद्रीय शासन की ओर से कर एकत्र करती थीं, अनुचित करों को एकत्र करने से इनकार कर देती थीं, गाँव के झगड़ों का निपटारा करती थीं, सार्वजनिक निर्माण कार्य करती थीं और बहुधा अस्पताल, अनाथालय, और शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित करती और चलाती थीं। भारत के नव विधान में भी इसी परिपाटिका ग्रहण वांछित है और स्थानीय संस्थाओं को अधिक से अधिक अधिकार और कार्य सौंपना हितकर होगा। पर इसमें एक बात का ध्यान रखना होगा। प्राचीन काल में ग्राम या नगर संस्थाओं की सफलता का सबसे बड़ा कारण यह था कि भारतीय जनता सत्य और चारित्र्य का आदर करती थी और योग्यता, अनुभव तथा वय का हार्दिक सम्मान करती थी। ग्राम पचायत के सदस्यों को निर्वाचन के लिए दौड़ धूप न करनी पड़ती थी, जनमत ही उन्हें उस पद पर प्रतिष्ठित कर देता था। आजकल की लोकतन्त्र पद्धति और चुनाव, दलसंघटन और मतदान की प्रणाली उस समय अज्ञात थी और आज भी इस देश के लिए नयी ही है। इसके सफलता के लिए शिक्षा के व्यापक प्रचार की आवश्यकता है और इसे शीघ्र उसके बारे में प्रयत्नशील होना चाहिये। ईश्वर और नरक का भय, धर्माधर्म का विचार तो आज लोप हो चुका है पर इसके स्थान पर नागरिक कर्तव्य पालन की भावना का विचार होना चाहिये। इसीसे हमारे निर्वाचित प्रतिनिधि जनता के हित को सबसे ऊँचा स्थान देने में समर्थ हो सकेंगे।

प्राचीन भारत में ग्राम पंचायतों को न्यायदान के व्यापक अधिकार थे। सिवा संगीन अपराधों के बाकी सब मामलों का फैसला ये ही करती थीं। प्राचीन काल में जीवन सादा था, न्याय के लिए आने वाले झगड़े अधिकतर स्थानीय जनता के हाट व्यवहार से सबंध रखते थे। सभी लोग विधि नियमों को जानते और समझते थे। आजकल का कानून पेचीदा और दुर्बोध होता है, इसकी व्याख्या या प्रयोग के लिए विशेषज्ञों की सहायता आवश्यक होती है। न्यायार्थी प्रतिपक्षी भी कभी कभी दूर के स्थानों के होते हैं। अतः आजकल की ग्राम पचायतें उतना विस्तृत कार्य नहीं कर सकतीं जितना दीवानी

मुकदमों में प्राचीन काल की पंचायतें करती थीं। फिर भी ग्राम पंचायतों को कुछ दीवानी अधिकार देकर न्याय व्यवस्था के विकेंद्रीकरण का श्रीगणेश अवश्य करना चाहिये। अपने पड़ोसियों और रात दिन के साथियों के सामने सर्वविदित घटनाओं और तथ्यों के संबंध में सर्वथा मिथ्या साक्षी देना प्रायः कठिन होता है। ग्राम पंचायतों को न्यायकार्य सौंपने से झगड़ों के निपटारे में विलंब अवश्य कम होगा। फिर भी प्रारंभ में अवश्य कठिनाइयाँ आवेंगी। प्राचीनकाल में ईश्वर पर श्रद्धा, धर्म से प्रेम और अधर्म से तिरस्कार के कारण लोगों में सत्यप्रेम तथा न्यायभावना प्रबल थी। अब नागरिक कर्तव्यों का अज्ञान और स्वार्थ की प्रवृत्ति के कारण ग्रामों में परस्पर द्वेष और दलबंदी का प्राबल्य है और न्याय अन्याय का विवेक कुंद पड़ गया है। अतः जबतक प्राचीन काल की धर्मभावना के रिक्त स्थान पर नागरिक उत्तरदायित्व का भाव नहीं प्रतिष्ठित होता, ग्राम पंचायतों के सफलता पूर्वक कार्य करने में कुछ दिक्कत अवश्य होगी।

स्थानीय संस्थाओं के लिए आवश्यक द्रव्य की व्यवस्था भूमिकर के एक अंश को उनको देकर की गयी थी। सरकार के लिए ग्राम-सभाएँ जो कर एकत्र करती थीं, उसका १५ से २० प्र० श० सरकार उन्हें ही दे दिया करती थी। आधुनिक काल में भी इस परिपाटी को अपनाया जा सकता है।

इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन भारतीयों ने कर व्यवस्था का आधार बहुत अच्छे सिद्धांतों पर रखा था। करमें छूट और रियायतों के लिए भी बहुत अच्छे सिद्धांत स्थिर किये गये थे। सभी लोग इस बात से सहमत होंगे कि सरकार उसी प्रकार कर एकत्र करे जिस प्रकार मधुमक्खी फूलों से रस एकत्र करती है और उन्हें कोई नुकसान नहीं पहुँचाती। व्यापार और उद्योग की आय पर नहीं किंतु लाभ पर कर लिया जाय, किसी वस्तु पर दो बार कर न लगना चाहिए, और यदि कर बढ़ाना आवश्यक ही हो तो धीरे धीरे वृद्धि होनी चाहिये। करमें छूट की व्यवस्था भी ठीक थी। प्रारंभ में केवल निर्धन और विद्वान् ब्राह्मणों को ही जो निःशुल्क विद्यादान किया करते थे, कर से मुक्त करने का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया था। इसका कुछ दुरुपयोग भी हुआ, पर साधारणतः व्यापार या सरकारी नौकरी करने वाले ब्राह्मण कर से छूट न पाते थे। ऐसे उदाहरण विरल ही थे जहाँ समूचा ब्राह्मण वर्ग कर से मुक्त था। जो हो आधुनिक काल में जाति के आधार पर किसी भी वर्ग को इस प्रकार की सुविधा नहीं दी जा सकती।

देश धर्म की परिपाटी और परंपरा के अनुसार ही कर लगाये जाते थे।

राज्य न केवल ब्राह्मणों की ही चिंता करते थे वरन सब जातियों की भौतिक और नैतिक उन्नति के लिए यत्नशील रहते थे। हाँ एक जाति के व्यक्तिको अन्य जाति की वृत्ति ग्रहण करने की चेष्टा अनुचित समझी जाती थी, कारण समाज का यही विश्वास था कि वृत्ति जन्म से ही निश्चित हो जाती है।

आसेतुहिमाचल एकछत्र साम्राज्य के रूप में सर्व भारतीय राज्य की कल्पना १००० ई० पू० से तो अवश्य वर्तमान थी। पर भारतीय इतिहास में इसके फलीभूत होने के एक दो ही उदाहरण पाये जाते हैं। यह आदर्श भारत की मूलभूत भौगोलिक धार्मिक और सांस्कृतिक एकता के अनुभव का ही परिणाम था। पर प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र स्थानीय स्वतंत्रता, संस्कृति और संस्थाओं को नष्ट करके साम्राज्य स्थापित करना अनुचित समझता था, इसी से यह सिद्धांत स्थिर किया गया कि चक्रवर्ती पद का आकांक्षी राजा अन्य राजाओं से कर लेकर या अपना प्रभुत्व स्वीकार करा कर ही संतुष्ट हो जाय, उनका राज्य न नष्ट करे। युद्ध क्षेत्र में मारे जाने पर भी वह किसी राजा के राज्य को अपने राज्य में न मिलावे, बल्कि मृत शासक के किसी कुटुंबी या रिश्तेदार को यदि वह उसकी प्रभुता स्वीकार करे तो उसकी गद्दी पर बैठावे। विजेता को स्थानीय विधि नियम, रीति और परंपरा में भी हस्तक्षेप करने का निषेध था।

अस्तु, प्राचीन भारत के आदर्श राज्य के रूप में ऐसे शक्तिशाली राज्य की कल्पना की गयी थी, जो समस्त देश को एक सूत्र में ग्रथित करके एक केंद्रीय शासन के अंतर्गत सब राज्यों और वर्गों के सहयोग से बाहरी शत्रुओं के आक्रमण से देश की रक्षा की व्यवस्था करे और साथ ही स्थानीय राज्यों या शासनों को अपनी रीति रिवाज और परंपरा का पालन करने की तथा अपनी संस्कृति और अपने आदर्शों के विकास की स्वतंत्रता दे। यह आदर्श हमारे वर्तमान अखंड और सुदृढ़ भारत और पूर्ण स्वायत्त प्रांत के आदर्श से पूर्णतया मिलता है। अतः हम इसका सूक्ष्म विश्लेषण करके इसके गुण और दोष समझने की चेष्टा करेंगे।

पराजित राज्यों को करद सामंत रूपमें जीवित रहने देने की नीति के कुछ अच्छे फल जरूर निकले। इससे स्थानविशेष की संस्कृति, परंपरा और राजनीतिक संस्थाओं को अनुरूप विकास का अवसर मिला। इससे प्रांतीय स्पर्धा का भाव अनिष्ट और संहारक रूप ग्रहण न करने पाया, क्योंकि एक प्रांत दूसरे प्रांत या एक राज्य दूसरे राज्य की संस्कृति या अस्तित्व नष्ट करने का भाव मन में न लाता था, उनका लक्ष्य अपनी प्रभुता स्वीकार कराना ही रहता था। इससे युद्ध वह सर्व संहारक और बर्बर रूप भी न ग्रहण कर पाया, जो इस विश्व युद्ध में दिखाई पड़ा, क्योंकि पराजित होने पर समूल नाश की

आयका किसी पदके सामने न थो, जो उन्हें युद्ध में अमानुषिक व अधार्मिक उपायों का भी आलंबन करने को प्रेरित करती।

अधीन किंतु अतर्गत स्वातन्त्र्य रखनेवाले प्रांतों या राज्यों से बने हुए इस साम्राज्य के अनेक गुणों को स्वीकार करते हुए भी हम इसके दोषों को भी आँख से ओझल नहीं कर सकते। पराजित राज्यों को कायम रखने की नीति भारत के स्थायी एकीकरण में बाधक सिद्ध हुई। प्राचीन भारत के अधिकतर साम्राज्य सामंत राज्यों के एक ढीले संघ से थे, जो कुछ प्रभावी सम्राटों के पराक्रम और कार्यक्षमता के कारण कुछ दशक तक एक में बंधे रहते थे। सभी सामंत सम्राट् पद के आकांक्षी रहते थे, और प्राचीन राजनीति शास्त्री भी इस आकांक्षा को स्वाभाविक और उचित स्वीकार करते थे। फलस्वरूप प्राचीन भारत के किसी भी बड़े राज्य की स्थिरता अधिक दिनों तक न रह पाती थी। सर्वकांक्षित चक्रवर्ती पद के लिए निरंतर संघर्ष चला करता था। प्रत्येक राजा का कर्तव्य था कि पड़ोसी राज्य को कमजोर पाते ही उसपर आक्रमण करे, और स्वयं चक्रवर्ती बने। अतः सामंत लोक सदा अपने अधिपति के विरुद्ध विद्रोह करने की ताक में रहते थे। यदि अधीन सामंत राजाओं के सम्मुख चक्रवर्ती पद प्राप्त करने का आदर्श न उपस्थित रहता और पराजित राजाओं का अस्तित्व कायम रखने की नीति न बर्ती जाती तो प्राचीन भारत के ६० प्र श युद्ध न हुए होते।

प्राचीन भारतीय विचारकों को इस आदर्श में कोई दोष नहीं दीख पड़ा। संभवतः उनका यह विचार था कि प्रत्येक प्रांत या राजवंश को चक्रवर्तित्व पद प्राप्त करने का उचित अवसर मिलना चाहिये। इससे बार बार युद्ध अनिवार्य हो जाते थे, पर संभवतः ये युद्ध क्षत्रियों की सामरिक प्रवृत्ति को बनाये रखने के लिए उपयोगी समझे जाते थे। भारत के साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र हो या कन्नौज या अवंती, कोई भी प्रांत शेष भारत पर आधिपत्य प्राप्त करे, इससे किसी भी अधीन प्रांत की संस्कृति, धर्म, या भाषा पर कोई संकट न आता था, क्योंकि विजेता को किसी भी स्थान विशेष की संस्कृति, रीति रिवाज और संस्थाओं में तनिक भी हस्तक्षेप करने का कड़ा निषेध था।

धीमे धीमे प्राचीन भारतीय दृढ़ और सुस्थिर केंद्रीय राज्य की आवश्यकता और उपयोगिता को भूलते गये। चूँकि ७०० ई० से सर्वत्र राजतंत्र ही प्रचलित हो गया, अतएव राज्यों की प्रति स्पर्धा ने राजवंशों की व्यक्तिगत स्पर्धा का रूप धारण कर लिया। जनता इन संघर्षों से उदासीन रहती थी, क्योंकि इसके परिणाम से उसके रीति रिवाज, विधि नियम, और संस्थाओं पर कोई भी विशेष

अवसर पड़ने की आशंका न थी। लड़नेवाली सेना में भी अपने प्रांत या जन्म भूमि के लिए नहीं राजा के लिए लड़ने का भाव रहता था। इसमें स्वदेशप्रेम को कोई गुंजाइश हो न थी। अस्तु इस सामंत बहुल संघीय साम्राज्य के आदर्श ने, जिसमें प्रत्येक सामंत को साम्राज्यपद के लिए प्रयत्न करने का पूरा अधिकार था, पर विजय प्राप्त करके एक केंद्रीय राज्य की स्थापना की अनुमति न थी, प्राचीन भारत की राजनीति में स्थायी अस्थिरता उत्पन्न कर दी। युद्ध बराबर हुआ करते थे, पर उनसे किसी सुदृढ़ एककेंद्रीय राज्य का प्रादुर्भाव न हो पाया था। राष्ट्र की शक्ति आंतरिक कलह में बेकार क्षय होती गयी। लड़नेवालों को कोई लाभ न हो सका उलटे वे कमजोर ही हुए, और देश शक्तिहीन होकर आसानी से मुसलमानी आक्रमण का शिकार बना।

हमारे इतिहास पर दृष्टिपात करने से प्रकट होगा कि भारत ने उसी समय उन्नति की है जब यहाँ कोई सुदृढ़ केंद्रीय शासन स्थापित था। अशोक, द्वितीय चन्द्रगुप्त और अकबर के समय केंद्रमें सुदृढ़ सरकार कायम थी अतः भारत काफी उन्नति कर सका। पिछले १०० वर्षों में देश ने जो उन्नति की है उसका भी यही कारण है। अपने देश का नया विधान बनाते समय हम इतिहास की यह शिक्षा भुला नहीं सकते। पराजित राज्य का अस्तित्व और उसके नियम और व्यवस्था नष्ट न करने का प्राचीन सिद्धांत आज प्रांतीय स्वतन्त्रता का नया रूप धर कर उपस्थित हुआ है। इससे प्रत्येक अंगीभूत प्रदेश को अपने ढंग पर अपनी संस्कृति के विकास का पूरा अधिकार मिलता है। पर हम किसी प्रांत या राज्य को अपनी स्वतंत्र सेना रखने और दूसरों पर आधिपत्य करने की चेष्टा करने की सुविधा नहीं दे सकते। हमारे प्राचीन विचारक यह सुविधा देना उचित समझते थे, ताकि प्रत्येक राज्य को कभी न कभी भारतवर्ष का प्रमुख राज्य होने का अवसर मिल सके। यह स्वाभाविक था, क्योंकि केंद्र में ऐसी कोई प्रातिनिधिक सरकार न थी, जिसमें प्रत्येक प्रांत और राज्य को यह भावना हो कि केंद्रीय सत्ता में हमारा भी उचित प्रभाव, प्रतिनिधित्व और भाग है। केंद्र में लोकमतानुयायी प्रतिनिधि सरकार हो जाने पर अब किसी भी प्रांत या राज्य को समस्त भारत पर अपना आधिपत्य जमाने का अवसर नहीं दिया जा सकता। प्रत्येक प्रांत और राज्य को पूरी स्वायत्त सत्ता और अपने ढंग पर विकास का अधिकार रहेगा, पर प्रत्येक को अपनी पृथक्ता की प्रवृत्ति को दबाकर केंद्र में सुदृढ़ सार्वदेशिक सरकार कायम करनी होगी, जिसमें देश की रक्षा करने की सामर्थ्य और भारत को पुनः शक्तिशाली और प्रबल राष्ट्र बना सकने की क्षमता हो।

परिशिष्ट १

विशिष्टार्थक शब्दसूची

हिंदी अंग्रेजी

अन्तिमेत्थम् Ultimatum
अर्धधार्मिक अर्धलौकिक Semi-religious
अपदस्थ करना Dethrone
अनुमति पत्र License
अमीर सभा House of Lords
असामी Lesee
अहस्तक्षेप Laissez faire
आन्तरिक स्वायत्तता Internal autonomy
आयव्ययविभाग Finance department
इजारेदार Lesee
उच्चवर्ग तन्त्र Aristocracy
उपसामन्त Sub feudatory
उपायन Tribute
एकात्मक राज्य Unitary state
केन्द्रीय लोक-सभा Parliament
कोषाध्यक्ष Treasurer
खराजी Tribute
खनक व परिखारक Sappers and miners
खरीददार Consumers
गणराज्य Republic
चिकित्सापथक Red cross
जनराज्य Tribal state
तक्षण Sculpture
धाती Trustee
दायित्व Obligations
दूत Ambassador
दूतावास Embassy
धर्मनियन्त्रितराज्य Theocracy
नौसेना Navy
पट्टेदार Lesee
प्रजातन्त्र Democracy
प्रतिनिधि पद्धति Representative government
प्रभुराज्य Sovereign state
प्रादेशिक राज्य Territorial state
प्रादेशिक शासन Divisional administration
भूस्तरशास्त्र Geology
महाव्यूहपति Chief of the General Staff
मित्र Ally
मूल्यांकन Evaluation
रसदभाण्डागारिक Quarter Master General
राजमहल विभाग Palace department

राज्यसंघ Federal state
राष्ट्रीयता Nationality
विधान Constitution
विधिनियम बनाना Legislate
विशेषाधिकारी वर्ग Privileged class
विश्वस्त Trustee
वैधानिक व्यक्तित्व Legal personality
व्यवहारविधान Administration of law
शक्तिसमता } Balance of power
शक्तिसंतुलन }
शासन Firman
शासनकार्यालय (केंद्रीय) Secretariat
शासन विभाग Department
संपत्तिहरण Forfeiture
संमिलित कुटुंब Joint family
संमिलित राज्य Composite stat
सशस्त्र तटस्थता Armed neutrality
सहमतिसिद्धान्त Theory of contract
सामन्तराज्य Feudatory state
सार्वजनिक निर्माण कार्य Public works
सुरक्षित कोष Reserve fund
स्थायी कोष Reserve fund

परिशिष्ट २

विशिष्टार्थक शब्दसूची

अंग्रेजी हिंदी

Administration of law व्यवहार विधान
Allies मित्र
Ambassador दूत
Aristocracy उच्चजनतंत्र
Armed neutrality सशस्त्र तटस्थता
Balance of power शक्ति संतुलन, शक्ति तुला
Chief of the General Staff महाव्यूहपति
Composite state सम्मिलित राज्य
Constitution विधान
Consumers खरीददार नागरिक
Democracy प्रजातंत्र
Department शासन विभाग
Dethrone अपदस्थ करना, राज्यच्युत करना
Divisional administration प्रादेशिक सरकार
Embassy दूतावास
Evaluation मूल्यांकन
Federal state राज्यसंघ
Feudatory state सामंत राज्य
Finance department आय व्यय विभाग
Forfeiture अपहरण
Geology भूस्तरशास्त्र
House of Lords अमीर सभा
Internal autonomy आंतरिक स्वायत्तता
Joint family सम्मिलित कुटुंब
Laisses faire अहस्तक्षेप
Laws विधिनियम, कानून
Legal personality वैधानिक व्यक्तित्व
Lesee असामी, पट्टेदार, इजारेदार
License अनुमतिपत्र
Nationality राष्ट्रीयता
Navy नौसेना
Obligation दायित्व
Palace department महल विभाग
Parliament केन्द्रीय लोक सभा
Privileged class विशेषाधिकारी वर्ग
Public works सार्वजनिक निर्माणकार्य
Quarter Master General रसद भांडागारिक
Red cross चिकित्सापथक

Representative government प्रातिनिधिक सरकार
Republic गणराज्य
Reserve fund स्थायि कोष
Sappers and miners खनक और परिखारक
Sculpture तक्षण कला
Secretariat केन्द्रीय शासन कार्यालय
Semi religions अर्धधार्मिक व अर्ध लौकिक
Sovereign power प्रभुराज्य
Sub-feudatory उपसामंत
Territorial state प्रादेशिक राज्य
Theocratic state धर्मनियंत्रित राज्य
Theory of contract सहमति सिद्धांत, इकरारनामा
Treasurer कोषाध्यक्ष
Tribal state गणराज्य
Tribute खंडणी, उपायन
Trustee न्यासी, विश्वस्त
Ultimatum अंतिमेत्थम्
Unitary state एकात्मक राज्य

परिशिष्ट ३

काल-सूची

इस ग्रंथ में अनेक स्थलों पर विविध ग्रंथ, राजा, राजवंश और काल खंडों के निर्देश आये हैं। इतिहास अनभिज्ञ पाठकों के लिये उनके काल इस सूची में अकारादिक्रम से दिये गये हैं। कोष्ठ में (अ) अन्दाज का संक्षेप है।

अग्निपुराण	ई० ९०० (अ०)
अग्निमित्र शुंगराजा	ई० पू० १५० (अ०)
अजातशत्रु राजा	ई० पू० ४९०–४७० (अ०)
अलिकसान्द्र राजा	ई० पू० ३२६ (अ०)
अथर्व वेद काल	ई० पू० २००० (अ०)
अमोघवर्ष तृतीय, राजा	ई० ८१४–८७८
अर्थशास्त्र कौटिलीय	ई० पू० ३००
अशोक	ई० पू० २७३–२३२
आचारांगसूत्र	ई० पू० ३००
उत्तर संहिता युगकाल	ई० पू० २०००–१५०० (अ०)
उपनिषत्काल	ई० पू० १०००–६०० (अ०)
ऋग्वेदकाल	ई० पू० २५००–१२०० (अ०)
कडफाइसस द्वितीय, राजा	ई० ६०–७८ (अ०)
कनिष्क राजा	ई० ७८–१०५ (अ०)
कण्वराजवंशकाल	ई० पू० ७२–२८ (अ०)
कामन्दक नीतिसार, ग्रंथ	ई० ४०० (अ०)
कालिदास	ई० ४०० (अं०)
कुषाण राजवंश काल	ई० ४०–२२०
खारवेल राजा	ई० पू० १५०
गंगवंश काल (मैसूर का),	ई० ४००–१००० (अ०)
गहडवाल राजवंश काल	ई० ११५०–१२०३
गुदफर (गोंडोफर्नीज) राजा	ई० २०–४६
गुप्तयुग काल	ई० ३००–६००
गुप्त सम्राटों का काल	ई० ३२०–५१०

गुर्जर प्रतिहार वंश काल	ई० ७०५–१०००
ग्रीक राजवंश काल	ई० पू० १९०–३०
चंदेल राजवंश	ई० ९००–१२००
चन्द्रगुप्त द्वितीय (गुप्त)	ई० ३८०–४१४
चन्द्रगुप्त मौर्य	ई० पू० ३२०–२९५
चालुक्य राजवंश (बदामी)	ई० ५५०–७५०
चालुक्य राजवंश (कल्याणि)	ई० ९७५–११९०
चालुक्य राजवंश (वेंगी)	ई० ६१५–११५०
चाहमान राजवंश	ई० द्वादश शतक
चुल्लवग्ग ग्रंथ	ई० पू० ४००
चेदि वंश काल	ई० ३५०–१२००
चोल राजवंश काल	ई० ९००–१२००
चौलुक्य राजवंश काल	ई० ९६०–१२००
जातक समाजस्थिति काल	ई० पू० ५००
दीघनिकाय ग्रंथ	ई० पू० ४५०
धर्मसूत्र ग्रंथकाल	ई० पू० ६००–३००
नंदराजवंश काल	ई० पू० ४००–३२२
नहपान राजा	ई० १००–१२०
नारद स्मृति	ई० ५०० (अ०)
निरुक्त ग्रंथकाल	ई० १०००–१५००
पतंजलि ग्रंथकार	ई० पू० १५० (अ०)
परमार राजवंश काल	ई० ८५०–१२००
पर्शियन स्वारी	ई० पू० ५१८ (अं०)
पुराणों का युग	ई० ४००–८०० (अ०)
पुष्यमित्र शुंग	ई० पू० १९०–१५० (अ०)
पूर्व मीमांसा ग्रंथ	ई० पू० ४०० (अ०)
बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र	ई० ८०० (अ०)
बुद्धनिर्वाण काल	ई० पू० ४८० (अ०)
ब्राह्मण ग्रंथकाल	ई० पू० १५००–८०० (अं
भोज, परमार राजा	ई० १०१५–१०४२ (अ०
भोज, प्रतिहार राजा	ई० ८४०–८९० (अं०)
मनुस्मृति	ई० पू० १०० (अं०)

काल सूची

महाभारत ग्रंथकाल	ई॰ पू॰ ३०० (अ॰)
महाभारत युद्धकाल	ई॰ पू॰ १४०० (अ॰)
मिनंडर राजा	ई॰ पू॰ १६०—१४०
मेगॉस्थनीज	ई॰ पू॰ ३००
मौखरि राजवंश काल	ई॰ ५५०—६०६
मौर्य राजवंश काल	ई॰ पू॰ ३२०—१८५ (अ॰)
याज्ञवल्क्य स्मृति	ई॰ २००
यादव राजवंश काल	ई॰ १०६०—१३१०
युआन च्वांग, चीनी प्रवासी	ई॰ ६२९—६४४
यूनानी राजवंश काल	ई॰ पू॰ १९०—९०
यौधेय गणराज्य	ई॰ पू॰ १५०—ई॰ ३५०
राजतरंगिणी ग्रंथ	ई॰ ११५०
रामायण ग्रंथकाल	ई॰ पू॰ ५०
राष्ट्रकूट वंश काल	ई॰ ७५०—९७३
रुद्रदामन्, शकराजा	ई॰ १३०—१५०
लिच्छवि गणराज्य	ई॰ पू॰ ६००—ई॰ ३५०
वाकाटक राजवंश काल	ई॰ २५०—५००
वैदिक काल, पूर्वार्ध	ई॰ पू॰ २५००—२००० (अ॰)
वैदिक काल, उत्तरार्ध	ई॰ पू॰ २०००—१५०० (अ॰)
शक-कुषाण राजवंश काल	ई॰ पू॰ १००—ई॰ ३००
शाक्य गणराज्य	ई॰ पू॰ ६००
शुंग राजवंश काल	ई॰ पू॰ १८५—७५
शुक्रनीति	ई॰ ८०० (अ॰)
समुद्रगुप्त राजा	ई॰ ३३०—३७५
सातवाहन राजवंश काल	ई॰ पू॰ २००—ई॰ २००
हगान राजा	ई॰ पू॰ ५ (अ॰)
हगामष राजा	ई॰ पू॰ २५ (अ॰)
हर्षवर्धन राजा	ई॰ ६०६—६४८

परिशिष्ट ४

संक्षिप्त ग्रंथ नाम सूची

अर्थ	अर्थशास्त्र, कौटिल्य कृत
अ वे	अथर्ववेद
आ स रि	आर्केऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट
आ स वे इ	आर्केऑलॉजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया
आ ध सू	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आ श्रौ सू	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
इ ऐं इण्डि ऐंटि	इण्डियन ऐंटिक्वेरी
इ हि क्वा	इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली
इ म प्रे	इन्स्क्रिप्शन्स फ्रॉम मद्रास प्रेसिडेन्सी, रंगाचार्य द्वारा संपादित, तीन भाग
इलिएट्	हिस्टरी ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाय हर ओन हिस्टोरियन्स इलियट और डौसन द्वारा संपादित
ऋ वे	ऋग्वेद
ए इ एपि इण्डि	एपिग्राफिया इण्डिका
ए क	एपिग्राफिया कर्नाटिका
ऐ ब्रा	ऐतरेय ब्राह्मण
का स	काठक संहिता
गौ ध सू	गौतम धर्म सूत्र
ज आ हि रि सो	जर्नल ऑफ दी आंध्र हिस्टॉरिकल रिसर्च सोसायटी
ज ए सो बे	जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल
ज बॉ ब्रॅ रॉ ए सो	जर्नल ऑफ दी बॉम्बे ब्रैंच ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसायटी
ज रॉ ए सो	जर्नल ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसायटी
जा	जातक

जै. ब्रा.	जैमिनीय ब्राह्मण
तै. ब्रा.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. सं.	तैत्तिरीय संहिता
प. ब्रा.	पञ्चविंश ब्राह्मण
पू. मी.	पूर्वमीमांसा
बृ. उप.	बृहदारण्यक उपनिषद्
बौ. ध. सू.	बौधायन धर्म सूत्र
बौ. श्रौ. सू.	बौधायन श्रौत सूत्र
भाण्डारकर, सूची	लिस्ट ऑफ [illegible] इन्स्क्रिप्शन्स [illegible] ऑफ नॉर्दन इण्डिया
म. नि.	मज्झिम निकाय
म. भा.	महाभारत
मे. आ. स. इ.	मेमॉयर्स ऑफ दि आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया
राज.	राजतरंगिणी
राष्ट्रकूट, राष्ट्रकूटों का इतिहास	राष्ट्रकूटाज़ एण्ड देयर टाइम्स,
व. ध. सू.	वसिष्ठ धर्मसूत्र
वा. सं.	वाजसनेयी संहिता
श. प. ब्रा., श. ब्रा.	शतपथ ब्राह्मण
सौ. इ. इ.	साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, हुल्ट्ज़ द्वारा सम्पादित
सौ. इ. ए. रि.	साउथ इण्डियन एपिग्रैफ़ी रिपोर्ट्स

परिशिष्ट ५

आधार भूत ग्रंथ: संस्कृत, प्राकृत व पाली

ऋग्वेद
यजुर्वेद
अथर्ववेद
काठक संहिता
तैत्तिरीय संहिता
ऐतरेय ब्राह्मण
शतपथ ब्राह्मण
पंचविंश ब्राह्मण
तैत्तिरीय ब्राह्मण
बृहदारण्यक उपनिषद्
आपस्तंब धर्मसूत्र
गौतम धर्मसूत्र
वशिष्ठ धर्मसूत्र
बौधायन धर्मसूत्र
विष्णु धर्मसूत्र
रामायण
महाभारत
मनुस्मृति
याज्ञवल्क्य स्मृति
नारद स्मृति
कौटिलीय अर्थशास्त्र, शामशास्त्री द्वारा संपादित
कामन्दकीय नीतिसार
नीलकंठ राजनीतिमयूख
मित्र मिश्र, राजनीतिप्रकाश
शुक्रनीति
अग्निपुराण
मार्कंडेय पुराण
दीघनिकाय
चुल्लवग्ग
दिव्यावदान
जातक
आचारांग सूत्र
अशोक के शिलालेख
प्रतिज्ञायौगन्धरायण
मृच्छकटिक
रघुवंश
मालविकाग्निमित्र
पंचतंत्र
राजतरंगिणी
कथासरित्सागर

अंग्रेजी ग्रंथ

Books on Hindu Polity

K. P. Jayaswal, Hindu Polity, Calcutta, 1924, (First Edition)

J J Anjaria, The Nature and Grounds of Political Obligation in the Hindu State, Longmans, Green and Co 1935

H N Sinha, Sovereignty, in Ancient Indian Polity London, 1938

Beni Prasad, Theory of Government in Ancient India, Allahabad, 1927

Beni Prasad, The State in Ancient India, Allahabad, 1928

A K Sen, Studies in Ancient Indian Political Thought, Calcutta, 1926

N C Vandyopadhyaya Development of Hindu Polity and Political Theories, Calcutta, 1927

N N Law, Aspects of Ancient Indian Polity, Oxford, 1921

N N Law, Inter-state Relations in Ancient India, Calcutta, 1920

S V Visvanathan, International Law in Ancient India, Longmans, Green and Co, 1925

D R Bhandarkar, Some Aspect of Ancient Indian Polity, Benares, 1929

V R R Dikshitar, Hindu Administrative Institutions, Madras, 1939

V R R Dikshitar, Mauryan Polity, Madras, 1932

R C Majumdar, Corporate Life in Ancient India, Calcutta, 1932

R K Mookerji, Local Self Government in Ancient India Oxford 1920

U Ghosal, A History, of Hindu Political Theories, Calcutta, 1923

U Ghosal, Hindu Revenue System, Calcutta, 1929

U Ghosal, History of Public Life in Ancient India, Calcutta, 1944
L V Rangasvami Aiyangar, Some Aspects of Ancient Indian Polity, 2nd Edition, Madras 1935

Epigraphical Works

Epigraphia Indica
Indian Antiquary
Epigraphia Carnatica, Edited by Rice, Bangalore
South Indian Inscriptions, 5 Vols , edited by Hultzsch
South Indian Epigraphical Reports, Published by Madras Government annually
Fleet, Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol III, (Gupta Insciptions) Calcutta, 1888
Hultzsch, Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol I, (Ashoka Inscriptions) Oxford, 1925
V Rangacharya, Inscriptions from Madras Presidency, 3 Vols Madras 1919
Archaeological Survey of India, Annual Reports

General Works

Maccrindle, Invasion of India by Alexander the Great, West Minister, 1896
Maccrindle, Ancient India as described by Megasthenes, Arrian etc Calcutta, 1906
T Watters, On Yuan Chwang's Travels in India, London, 1904
Elliot and Dowson, History of India as told by her own historians, Vols, I III
Rhys Davids, Dialogues of the Buddha
A S Altekar, Rashtrakutas and their Times, Poona 193
A S Altekar, Education in Ancient India, 1943 Benare

आधारभूत ग्रंथ

A S Altekar, Position of Women in H... C... Benares, 1938

A S Altekar, Village Communities in ... Bombay, 1927

R Fick, Social Conditions in North-Eastern ... the time of the Buddha, tr by S K Maitra, C...

R C Majumdar, History of Bengal, Calcutt...

R C Majumdar and A S Altekar, The Vakatakas and the Guptas, Lahore, 1946

K A Nilkantha Shastri, Studies in ... Administration, Madras, 1932

R N Mehta, Pre Buddhist India, ...

Macdonel and Keith, Vedic Index ... Subjects, London, 1912

परिशिष्ट ६

वर्णानुक्रमणिका

सूचना— संख्या पृष्ठ संख्या निर्देशक हैं

(औ)

(क)

(ग)

—o—

परिशिष्ट ७

शुद्धिपत्र[1]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	३	के	की
३	४	को	का
७	६	दा	दो
७	७	पधानता	प्रधानता
८	७	वक	सेवक
९	१०	आये	आर्य
१२	पादटिप्पणी २, पंक्ति २	राज्य	राज्य
,,	,,	ष	ष
,,	,,	धर्मेर्येष	धर्मेर्येष
१६	२५	वणन	वर्णन
१७	शीर्षपंक्ति से	३ निकालिए	
१८	१	सस्था	संस्थाएँ
१८	२६	स्वराज्य	साम्राज्य
१९	१०	राज्य मीमा	राज्य सीमा
१९	२०	दा	दो
२१	१८	सयुक्त	संयुक्त
२१	२१	शोय	शाप
२३	१४	प्रकृतियाँ	प्रकृतियों
२४	पादटिप्पणी १	विमानों	विमानों
३०	२०	माहार्णा	म हार्णा
३४	६	सुमर्गाठत	सुसंगठित

१ स्वरमाला के टाइप घिसे हुए होने के कारण बहुत जगह व ठीक से नहीं उठे हैं। उन सबका समावेश इस शुद्धिपत्र में नहीं किया गया।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३९	२	उहाकर	उठाकर
"	४	युग	पूग
"	११	परदेशिया	परदेसियों
४०	१८	वरन	वरन्
४०	२४	व्यवस्था	व्यवस्था
"	२८	प्रयत्न	प्रयत्न।
"	३१	वृत्ति	वृत्ति
४२	१	साथ	साथ
४३	२२	तिरोध	विरोध
"	पादटिप्पणी १	९० ० १३९ १६०	पृ० १५९ १६०
५४	२	बड़े	बड़े
५६	२०	मस्तिक	मस्तिष्क
५७	१०	देवो	देवों
५९	१८	बड़े	बड़े
६४	१५	हकार	सरकार
६५	१८	के	की
६६	२४	निमत्रण	नियंत्रण
६८	८	यौधेय	यौधेय
"	९	या क्षात्रियों	क्षत्रियों
६९	पादटिप्पणी १	मॅक्क्रिंडल	२ मॅक्क्रिंडल
७०	२८	पार्षिद	परिषद
"	"	हाथ	हाथ
७१	१३	वग	वग
७२	२	माने	याने
७३	पादटिप्पणी १	मेगास्थीन	मेगास्थनीज
७४	पंक्ति २	*राउगायेव	वैशम्पायन
७५	४	पार्श्व	पार्श्व
७६	५	अपनी	अपना
७६	१७	झिनको	जिनको

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		(Repulic)	(Republic)
७७	१९	माने	याने
७७	२६	लेज	लेख
८२	पादटिप्पणी २	सो	तो
८८	१५	लोक	लोग
९२	१५	अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ	पंक्ति	छोड़े	छोड़
९२	२०	उपरि	ऊपर
९३	२१	परिवधित	परिवर्द्धित
९६	४	फरज	[illegible]
९९	पादटिप्पणी २ पंक्ति २	मूल	मूल
१०२	५	बयानिक	[illegible]
१०७	११	प्रकर	प्रकार
१०३	५	मृच्छकटिक	[illegible]
१०३	१३	ने	के
१०७	११	परामरा	परामर्श
१०८	११	गोविकचन्द	[illegible]
१११	१५	धर्मसचामात्य	[illegible]
१२०	२१	० स्थापक	[illegible]
१२०	२२	सर्वे	[illegible]
१२७	२१	पँद्रिय	[illegible]
१२८	१५	उपरि	[illegible]
१२९	१६	शैय्या	[illegible]
१३२	१३	कर्तृत्वशाला	[illegible]
१३३	५	'समीप'	[illegible]
४०	१९	]	']
४१	शीर्षपंक्ति	राज ेय	[illegible]
४१	१		३
१४२	पादटिप्पणी दो के नीचे		
१४७	१८	सुनाका खोरोको	[illegible]

१२॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४८	पादटिप्पणी पं ३	'आसाम मे सप्तम सदी मे, प ४, 'इ अँ भा १६ पृ २०८, इ अ भा ४ पृ १६०, भा १०	प इ भा ११ पृ १०७' पढो पृ ४५९' पढो
			१४९
१४९	शीर्षपंक्ति	जिमेदारी	जिम्मेदारी
१४९	१९	फारवाई	कार्रवाई
१४९	२	देवात्तर	देवोत्तर
१५०	३	हावा	होवा
१५१	११	मनुका ४	मनु का४
१६१	१७	हिता	संहिता
१६१	६	र	पुर
१६४	१६	Work	Works
१६४	पादटिप्पणी १	कवि् चोस	दि चोल
१६७	पादटिप्पणी ८		
१७२	पंक्ति १	भमि	भूमि
	२६	खदवान	खुदवाने
१७८	१	वेदक	वैदिक
१८३	१	पापण	पोषण
१८८	८	भलना	भूलना
१८९	५	२ म	३ म
१९१	फूटनोट ४	भमिकर	भूमिकर
१९२	२०	विवरणो	विवरण
१९६	२३	अधिपदशा	अधिपदाश
१९९	३	वेद५	वैदिक
२०९	२६	महोव प्रतिमुक्तस्य	गृहीवप्रतिमुक्तस्य
२१४	फूटनोट १	यावयाव	यावायाव
२१७	८	समाट	सम्राट्
२२१	४	पनक	उनके
२२७	१४	नि'पक्ष	निष्पक्ष
„	१५		
२३०			

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१०	२३	फम	कम
२३२	६	विकासिय	विकसित
,,	१२	का। दर्जा	का दर्जा
२३४	२८	फालिय	फोलिय
२३५	१८	फा	का।
२३५	२५	के	थे
२३६	२७	जगलों	जगली
२३७	२२	दुष्परिणाम	दुष्परिणाम
२३९	१३	सुयाग्य	सुयोग्य
२४०	अन्तिम	वधानिक	वैधानिक
२४१	२८	निमत्रित	नियत्रित
२४२	११	परिपाटिका	परिपाटी का
,,	१९	इसके	इसकी
,,	२३	प्रतिनिधी	प्रतिनिधि
२४५	अन्तिम	फा	को
२४७	१४	लोक	लोग
,,	२४	या	था

—०—

प्रस्तुत ग्रंथकार के अन्य ग्रंथ

1 Towns and Cities in Gujarat & Kathiawar 1926 Out of pt
2 Village Communities in Western India, 1927 " " "
3 Rashtrakutas and their Times, Oriental Book Agency, Poona 2 Rs 8 8 0
4 Education in Ancient India, 3rd Edition (in Press) Nandkishore Bros Benares Rs 4 8 0
5 Position of Women in Hindu Civilisation, Culture Publication House, Benares Hindu University, New D/2 1938 Rs 7-0 0
6 Silaharas of Western India, Publishers as above, 1936 Re. 1 0 0
7 Benares and Saranath Past and Present, Publishers as above Re 1 4 0
8 Hindu Scriptures and Social Reform 1931 Publishers as above 0 4 0
9 The Age of the Vakatakas and the Guptas, Motilal Benarasi Das, Lahore, (now Benares,) 1946 Rs 8 8 0

In Press

10 State and Government in Ancient India
11 Catalogue of the Gupta Coins of the Bayana Hoard, with 36 Plates.
12 Ancient Indian Numismatics with about 200 Plates